योगवाणी

गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर

'सिद्ध-दर्शन' विशेषांक

वर्ष ७] जनवरी १९८८ [अंक १

अखण्ड (परमात्म) ज्योति

[श्रीगोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर के गर्भगृह में गोरखनाथजी द्वारा त्रेता युग से प्रज्वलित]

गणपति-स्तवन

विद्धात्वर्थनिचयं भक्तानुग्रहमूर्तिमत् ।
स्मरानन्दभरं चेतो गणपत्यभिधं महः ॥

भक्तों के प्रति मूर्तिमान् अनुग्रह, स्मरणमात्र से ही आनन्दित चित्तवाला गणपति नामक (परमात्म) तेज—ज्योति हमें अर्थसिद्धि प्रदान करे, धर्म, अर्थ तथा काम और मोक्ष से सम्पन्न करे।

[शिवगोरक्ष : सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ११५]

अलख निरञ्जन

[अध्यात्म, धर्म, संस्कृति तथा सदाचार का पोषक]
* योगप्रधान सार्वजनिक मासिक पत्र *

योगवाणी

संरक्षक
महन्त अवेद्यनाथ

वर्ष ७] जनवरी १९८२ [अंक १

परामर्शदात्री-समिति :
योगोप्रवर नरहरिनाथ, योगी शंकरनाथ
डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, डॉ० रामचन्द्र तिवारी

प्रबन्ध-सम्पादक :
महन्त अवेद्यनाथ
परामर्श-सम्पादक :
डॉ० गोपीनाथ तिवारी
सम्पादक :
रामलाल श्रीवास्तव

卐

'सिद्ध-दर्शन' विशेषांक

(सिद्धसिद्धान्तपद्धतियुक्त)

सम्पादक :
रामलाल श्रीवास्तव

मूल्य १० रुपये

सम्पर्क-सूत्र :
सम्पादक 'योगवाणी
गोरखनाथ-मन्दिर
गोरखपुर-२७३००१

मकर-संक्रान्ति-महापर्व

वार्षिक मूल्य १५ रुपये
विदेश में २० रुपये] सम्वत् २०३८ वि० [एक प्रति का मूल्य
१ रु० ५० पैसे

सिद्धयोगेश्वर ज्ञानप्रदीप शिव

चूडोत्तंसितचारुचन्द्रकलिकाचंचच्छिखाभास्वरो
लीलादग्धविलोलकामशलभः श्रेयोदशाग्रेस्फुरन् ।
अन्तःस्फूर्जदपारमोहतिमिरप्राग्भारमुच्चाटयन्
चेतः सद्मनि योगिनां विजयते ज्ञानप्रदीपो हरः ।।

जो अपनी जटा के भूषण स्वरूपचन्द्र की किरणों से समलंकृत हैं, जिन्होंने लीला-ही-लीला में चंचल कामदेवरूप शलभ को भस्म कर दिया है, जो लोक-कल्याण में निरन्तर तत्पर हैं, जो अभ्यान्तर में पहले से ही भरे हुए मोहरूपी तिमिर-अज्ञान को नष्ट करनेवाले हैं, वे (सिद्ध-) योगेश्वर भगवान् शिव योगियों के हृदय में ज्ञानप्रदीप के रूप में पूर्ण प्रकाशित-अभिव्यक्त हैं।

[वैराग्यशतक १]
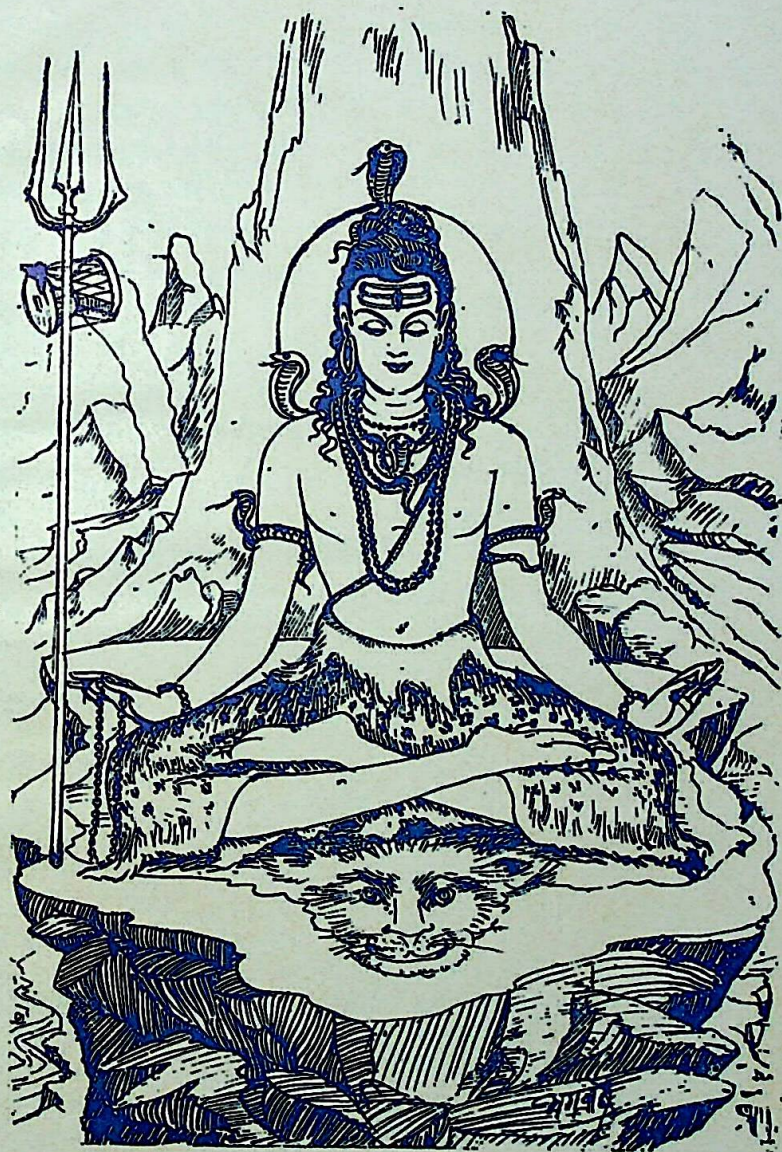
महायोगेश्वर शिव

इस अंक में

सिद्धसिद्धान्तपद्धति

चित्र-सूची

卐

योगजगत् की महनीय उपलब्धि
'मध्यकालीन भारतीय साहित्य और नाथयोग'
विषय पर
राष्ट्रीय संगोष्ठी

श्रीगोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर योगपीठ तथा हिन्दी-विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय द्वारा २६, २७ और २८ दिसम्बर १९८१ को आयोजित त्रिदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी नाथयोग की मूल दर्शन-चिन्तनधारा, उसकी अविच्छिन्न प्रवाहिकता और मानव-जीवन में उसकी महनीय उपयोगिता के धरातलपर सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक प्रगति की ऐतिहासिकता का सत्यप्रयास कहा जा सकता है। गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथजी के प्रवर्तन और डा० भगवती प्रसाद सिंह, डा० रामचन्द्र तिवारी के निदेशन तथा डा० परमानन्द श्रीवास्तव के संयोजन में इस ऐतिहासिक राष्ट्रीय संगोष्ठी का उद्घाटन गोरखपुर विश्वविद्यालय के मजीठिया ब्लाक में विश्वविद्यालय के कुलपति डा० गिरीशचन्द्र चतुर्वेदी की अध्यक्षता और प्रतिकुलपति डॉ० नगेन्द्र के सान्निध्य में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर भारतीय दर्शन के विद्वान् वयोवृद्ध ठाकुर जयदेव सिंह ने भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण में सामञ्जस्य स्थापित करते हुए मुख्य अतिथि के आसन से संगोष्ठी की गरिमा प्रकाशित की और महन्त अवेद्यनाथ ने संगोष्ठी को अपने आशीर्वाद से अभिमन्त्रित करते हुए नाथयोग की सनातन जीवन्त धारा और महायोगी गोरखनाथजी के देशकालनिरपेक्ष अयोनिज व्यक्तित्व और साधना पर प्रकाश डाला।

इस राष्ट्रीय संगोष्ठी के शेष पाँच सत्र बलरामपुर सभागार (महाराणा प्रताप इण्टरकालेज के परिसर) में यथासमय सम्पन्न हुए, जिनमें भक्ति के सन्दर्भ में 'नाथयोग'-नाथयोगका दार्शनिक आधार, भारतीय साहित्य और नाथयोग, नाथपंथ की ऐतिहासिक भूमिका—विषयों पर स्थानीय तथा देश के सुदूरवर्ती प्रदेशों से पधारे विद्वानों ने अपने विचार निबन्धपाठ के रूप में व्यक्त किये। इस क्रम के पहले सत्र में काश्मीर के विद्वान् डॉ० बलजित नाथ पण्डित ने 'काश्मीर

'शैव दर्शन और नाथयोग' विषय का बड़ा मार्मिक प्रतिपादन किया। गोरखपुर विश्वविद्यालय के डॉ० करुणेश शुक्ल और डॉ० शिव शंकर अवस्थीने 'बौद्धदर्शन और नाथयोग' तथा 'आचार्य अभिनव गुप्त और महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ' के सम्बन्ध में यथाक्रम निबन्धपाठ प्रस्तुत किये। २७ दिसम्बर को पहले सत्र में 'तेलगु भक्तिसाहित्य और नाथयोग' पर आन्ध्रप्रदेश के डॉ० राजशेष गिरि राव, 'उड़िया का नाथ साहित्य' पर डॉ० अजय कुमार पटनायक, 'केरल का नाथ-साहित्य' पर डॉ० एन० रामन नायर, गढ़वाल का नाथ-साहित्य' पर डॉ० लक्ष्मी चन्द्र-शास्त्री, 'नाथयोग और भारतीय लोक-साहित्य' पर डॉ० त्रिलोचन पाण्डेय और 'गोरखनाथ तथा भक्तितत्व' पर डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने अत्यन्त मार्मिक और शोधपूर्ण निबन्ध बड़े मौलिक ढंगसे प्रस्तुत किये।

दूसरा सत्र सायंकाल तीन बजे गोरखपुर विश्वविद्यालय के प्रतिकुलपति डॉ० नगेन्द्र की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ, जिसमें डॉ० वासुदेव सिंह 'नाथ साहित्य और जैन धर्मी कवि', डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्यायने 'हिन्दी साहित्य और नाथयोग' पर निबन्ध पढ़े। इसी सत्र में 'योगवाणी' के सम्पादक रामलाल श्रीवास्तव ने 'मध्यकालीन भारतीय साहित्य में गोरखनाथ और उनका व्यक्तित्व-दर्शन' पर निबन्ध प्रस्तुत करते हुए दो प्रश्न चिह्न संकेतित किये कि गोरखनाथ को देशकालसापेक्ष स्वीकार करने पर नाथयोग और उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन सही-सही नहीं हो सकता, क्या यह भ्रामक नहीं है कि द्वैताद्वैतविलक्षण नाथयोग-दर्शन शांकर वेदान्त अद्वैतवाद से प्रभावित कहा जाय। इस सत्र में डॉ० प्रेमचन्द्र सिंह ने अपना 'प्रेमाख्यानक काव्यों पर नाथयोग का प्रभाव' निबन्ध पढ़ा।

२८ दिसम्बर के दोनों सत्रों में 'नाथसिद्ध–स्वरूप और साहित्य' पर श्री उदयशंकर शास्त्री, 'थारूलोक साहित्य पर नाथपंथ का प्रभाव' पर डॉ० जगदीश नारायण सिंह, 'हिन्दी साहित्य की मूलचेतना के विकास में नाथ-सम्प्रदाय का योगदान' पर डॉ० योगेन्द्र प्रसाद सिंह, 'सूफीदर्शन और नाथयोग' पर, डॉ० कन्हैया सिंह, 'नाथयोग' पर डॉ राजदेव सिंह, 'हिन्दी का कृष्णभक्ति-साहित्य और नाथयोग' पर डॉ० राजेन्द्रकुमार' 'आपा पंथ और नाथयोग' पर डॉ० उदयप्रताप सिंह आदि ने निबन्धपाठ प्रस्तुत किये। आज के सत्र की असाधारण महनीयता थी मद्रास से पधारे हुए डॉ० शंकरराजू नायडू की 'तमिल के सिद्ध कवि' के सम्बन्ध में निबन्ध-प्रस्तुति। डॉ० राजू ने आदिसिद्ध तिरुमूलर के व्यक्तित्व से संप्राणित

दक्षिण के सिद्धकवियों द्वारा नाथयोग की परम्परागत साधना-पद्धति और सिद्धान्त की स्वीकृति पर प्रकाश डालते हुए सिद्धों की प्राचीन परम्परा में मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथ के नाम तथा गोरखनाथजी की दो कृतियों की विद्यमानता का उल्लेख किया। आज के सत्र में डॉ० त्रिभुवन सिंह ने भी अपने विचार व्यक्त किये।

संगोष्ठी का समापन करते हुए गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथ ने आशीर्वाद प्रदान किया कि भारत के विभिन्न प्रदेशों से पधार कर विद्वानों ने अपने-अपने प्रदेशके भाषा-साहित्य में तथा उत्तर भारतके विद्वानों ने हिन्दी साहित्य में नाथयोग की साहित्य और लोकजीवन के साथ संगति का निरूपण कर यह सिद्ध कर दिया कि नाथयोग सार्वभौम प्रासादिक योग-तत्व है, जिसके सिद्धान्त और साधन-प्रक्रिया के अनुरूप भगवान् शिवगोरक्ष की कृपाविभूति से मानव-जीवन में वास्तविक श्रेय का समुदय सहज स्वाभाविक है। संगोष्ठी के निदेशकों द्वारा प्रस्तावित नाथयोग-साहित्य-दर्शनपरक विश्वकोष के प्रकाशन पर प्रसन्नता व्यक्त करते हुए महाराज ने उसके प्रकाशन-व्यय में सम्पूर्ण आर्थिक योगदान करने का आश्वासन दिया। संगोष्ठीका अत्यन्त प्रासादिक शान्त वातावरण में समापन उसकी सफलता का द्योतक है।

सबद हमारा षरतर षांडा

सबद हमारा षरतर षांडा,
रहणि हमारी साची ।
लेषै लिषी न कागद माडो,
सो पत्री हम बांची ॥

[गोरखबानी सबदी २६४]
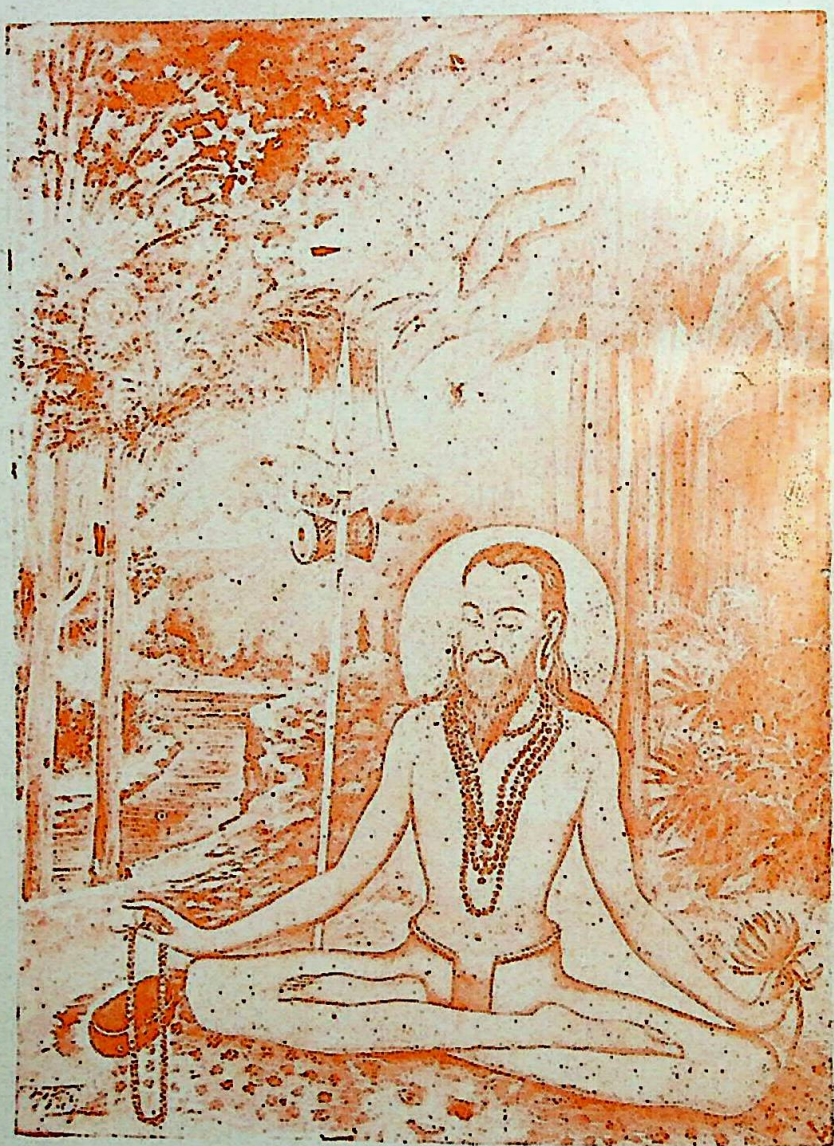
सिद्ध योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ

सिद्ध योगेश्वर गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की

महायोगी गोरखनाथजी द्वारा

वन्दना

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम्।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ॥

मैं अपने गुरुदेव (मत्स्येन्द्रनाथ) की वन्दना करता हूँ; जो साक्षात् परमानन्द हैं, जो सच्चिदानन्दस्वरूप—आनन्दविग्रह अथवा मूर्तिमान् आनन्द हैं, जिनके सान्निध्यमात्र से ही यह शरीर चिदानन्द, चिन्मय और परमानन्द हो जाता है।

अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारबन्धादिभि-
र्यो योगी युगकल्पकालकलनातत्त्वं च जेगीयते।
ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद् यत्रादिनाथः स्वयं
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे ॥

जिन्होंने मूलाधारबन्ध, उड्डियानबन्ध, जालंधरबन्ध आदि योगाभ्यास द्वारा हृदय-कमल में निश्चल दीप की ज्योति सरीखी परमात्मा की कला का साक्षात्कार करके युगकल्प आदि के रूप में चक्कर काटने वाले काल के रहस्यों को तथा समस्त तत्त्वों को (योगाभ्यास से) जय (अपने वश में) कर लिया है और स्वयं ज्ञान और आनन्द के महासमुद्र, आदिनाथ के स्वरूप हो गये हैं, उन श्री मीननाथ (गुरु मत्स्येन्द्रनाथ) को प्रणाम है।

[गोरक्षशतक १–२]

[अथ सिध बंदनां लिष्यते]

नाथसिद्धों की वन्दना

प्रेमदास लिखित

नमो नमो निरंजनं भरम को बिहंडनं।
नमो गुरदेवं अगम पंथ भेवं। १।
नमो आदिनाथं भए हैं सुनाथं।
नमो सिध मछिन्द्रं बड़ो जोगिन्द्रं। २।
नमो गोरष सिधं जोग जुगति बिधं।
नमो चरपट रायं गुरू ग्यान पायं। ३।
नमो भरथरी जोगी ब्रह्मरस भोगी।
नमो बालगुंदाई कीयो क्रम षाई। ४।
नमो पृथीनाथं सदा नाथ हाथं।
नमो हांडीभडंगं कीयौ क्रम षंडं। ५।
नमो ठीकरनाथं सदा नाथ साथं।
नमो सिध जलंधरी ब्रह्म बुधि संचरी। ६।
नमो कांन्ही पायं गुरू सबद भायं।
नमो गोपीचंदं रमत्त ब्रह्म नंदं। ७।
नमो औघड़देवं गोरष सबद लेवं।
नमो बालनाथं निराकार साथं। ८।
नमो अजैपाल जीत्यो जमकालं।
नमो हनूमानं निरंजनं पिछानं। ९।
नमो नरसिंहदेवं अलष अभेवं।
नमो हालीपावं निरालम्ब ध्यावं। १०।
नमो मुकंद भारथी निरंजन स्वारथी।
नमो मालोपावं बिमल सुध भावं। ११।

नमो मोडकोपावं निरंतर सुभावं।
नमो सिध हरताली कालं कंठ कटाली। १२।
नमो सिध काणेरी लीयौ मन फेरी।
नमो धूंधलीमलं अबीह अकलं। १३।
नमो झूरक्ट नामं रमत रांम रामं
नमो सिध टनटनी लागी अनह घु घुनी। १४।
नमो सिध चौरंगी परम जोति संगी।
नमो कंथड़पायं नहीं मोह मायं। १५।
नमो बिधं सिधं लीयौ मन उरधं।
नमो सिध कपाली नहीं चित चाली। १६।
नमो कागभुसंडं त्रिबधि साप षंडं।
नमो काग चंडं कलपना बिहंडं। १७।
नमो बीर पछि उदै ग्यान लछि।
नमो सूरानंदं प्रकृति निकंदं। १८।
नमो भैरू नंदं रहै नृदंदं।
नमो सांवरा नंदं पूरण कला चंदं। १९।
नमो चुणकरनाथं अगम पंथ पंथं।
नमो पूरणबीरं भरो अनभै शरीरं। २०।
नमो आत्मारामं परम सुनिघामं।
नमो गरीब सिधं गुरू सनद बिधं। २१।
नमो भडंगनाथं पर्काड़ नाथ हाथं।
नमो दड़गड़नाथं सदा जाके साथं। २२।
नमो देवदत्तं मिलित तत्त तत्तं।
नमो सुषदेवं अलष अभेवं। २३।
नमो सिध चौरासी विग्यांन प्रकासी।
नमो नौ जोगेस्वरं राते परमेस्वरं। २४।
नमो कपलदेवं लह्यो ब्रह्म भेवं।
नमो सनक सनदन करम काल षंडन। २५।
नमो हस्तामलं सुतै सिंध अमलं।
नमो अष्टावक्रं नहीं काल चक्रं। २६।
नमो रामानन्दं नहीं काल फंदं।

नमो कबीर कान्हं नृमल सुध ग्यानं । २७ ।
नमो दास कमालं भरो ब्रह्म लालं ।
नमो हरीदासं कीयौ ब्रह्मवासं । २८ ।
नमो महरवानं निरंजन ध्यानं ।
नमो ध्रू प्रहलादं अगम अगाधं । २९ ।
नमो नाम पीया प्रगट सप्त दीया
नमो सरब साधं अगम अगाधं । ३० ।
कामदहन कलिमल हरन । अरिगंजन भव भंजनं ।
अनंत कोटि सिध साधनैं । प्रेमदास करि बंदनं । ३१ ।
सिध बंदना जो पढ़ै । संध्या अर फुनि प्रात ।
रोम-रोम पात्तिग झड़ै । तिमर अंध मिट जात । ३२ ।
सिध साधनैं बंदनां । नित प्रति करं जो संत ।
प्रेम कहै सहज ही । दरसै जोति अनंत । ३३ ।

।। इतो सिध बंदना सपूर्ण ।।

[नाथसिद्धों की बानियाँ १-३३]

बाघ के वेष में सिद्ध संत

सिद्ध योगपीठ गोरक्षनाथ-मन्दिर, गोरखपुर के महान् अवधूत सिद्धपुरुष गम्भीरनाथ जब गया: जनपद में कपिलधारा पहाड़ी पर निवास कर योग-साधना में तत्पर थे, उस समय एक बाघ उनके पास कभी-कभी जाता, कुछ देर उनके सम्मुख बैठता और उसके बाद उनकी प्रदक्षिणा कर चला जाता। साधारण तौर पर वह ऐसे समय आता था, जब योगिराज के पास कोई दूसरा व्यक्ति या दर्शनार्थी न रहता। एक दिन दैवयोग से बाबा के पास कई सज्जन बैठे थे, कई संत पुरुष भी उपस्थित थे। उसी समय बाघ आया, उसको देखकर सभी लोग स्वभावत: घबड़ा उठे और भयभीत तथा हतबुद्धि होकर भागने को उद्यत हो गये। बाबा गम्भीरनाथ ने शान्त भाव से हाथ उठाकर आश्वासन के मृदु गम्भीर स्वर में कहा -- 'ये एक सिद्ध संत हैं, बाघ के वेष में आये हैं, किसी का अनिष्ट नहीं करेंगे, भय की बात नहीं है, आप निश्चिन्त बैठे रहें।' सभी लोग आश्चर्यचकित थे। बाघ बाबाजी के निकट बैठ गया, कुछ देर तक प्रशान्त भाव से योगिराज गम्भीरनाथजी को स्थिर नेत्रों से देखता रहा और दर्शन से तृप्त होकर धीरे-धीरे चला गया।
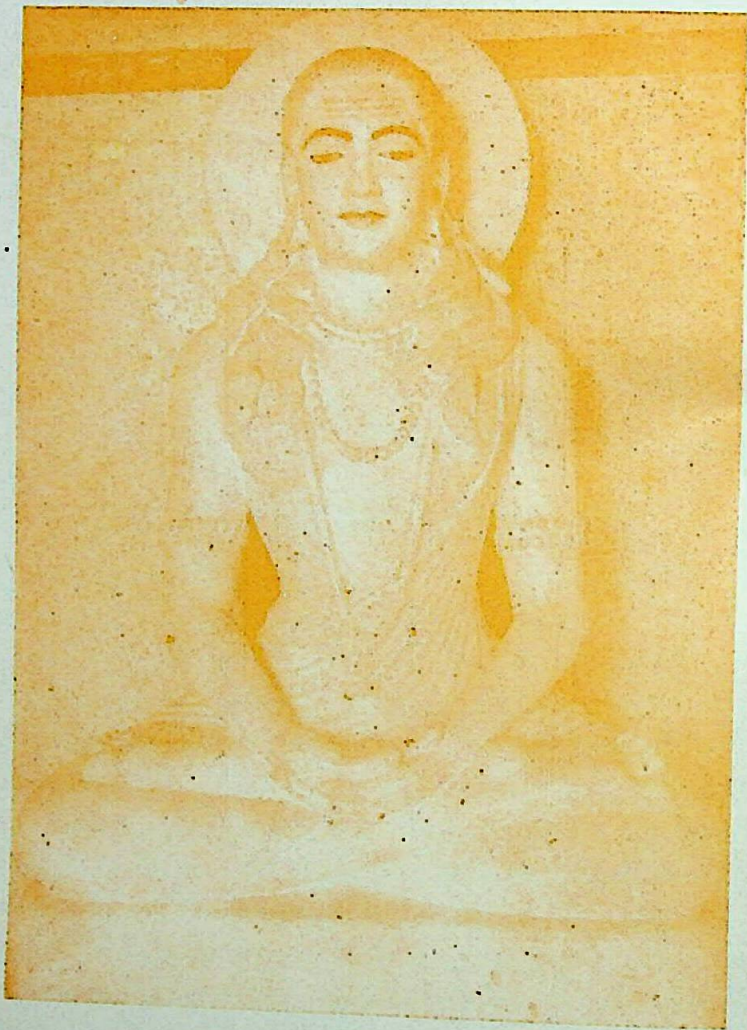
शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ

सिद्धशिरोमणि महायोगी गोरखनाथ की वन्दना

निरञ्जनो निराकारो निर्विकल्पो निरामयः ।
अगम्योऽगोचरोऽलक्ष्यो गोरक्षः सिद्धवन्दितः ॥
समस्तरसभोक्ता यो, यः सदा भोगवर्जितः ।
सदा समरसो यश्च, श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ॥
हठयोगविधाता च, मत्स्यकीर्तिविवर्धनः ।
योगिभिर्मनसा गम्यः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ॥
सिद्धानाञ्चमहासिद्धः ऋषीणां च ऋषीश्वरः ।
योगिनाञ्चैव योगीन्द्रः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ॥
विश्वतेजो विश्वरूपं विश्ववन्द्यः सदाशिवः ।
विश्वनामा विश्वनाथः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ॥
अनन्तलोकनाथश्च नाथनाथशिरोमणिः ।
सर्वनाथसमाराध्यः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ॥
शून्यानां च परं शून्यं परेषां परमेश्वरः ।
ध्यायताञ्च परं धाम श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ॥

हे गोरक्ष (गोरखनाथ) ! आप निरंजन, निराकार, निर्विकल्प, निरामय, अगम्य, अगोचर, अलक्ष्य हैं, सिद्ध आपकी वन्दना करते हैं, आपको नमस्कार है। आप समस्त रसों के भोक्ता हैं तो सदा भोगों से विरक्त हैं, समरस हैं, आपको नमस्कार है। आप हठयोग के प्रवर्तक शिव हैं, अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की कीर्ति को बढ़ानेवाले हैं, योगी मन में आप का ध्यान करते हैं, आप को नमस्कार है। आप सिद्धों में महासिद्ध हैं, ऋषियों में ऋषीश्वर हैं, योगियों के योगीन्द्र हैं, आप को नमस्कार है। आप विश्व के प्रकाशक हैं, विश्वरूप हैं, विश्व द्वारा वन्द्य सदाशिव हैं, आप विश्वनामधारी हैं, विश्वनाथ हैं, आप को नमस्कार है। आप असंख्य लोकों के स्वामी हैं, नाथों के नाथशिरोमणि हैं, समस्त नाथों द्वारा पूज्य (शिव) हैं, आप को नमस्कार है। आप शून्यों में भी परम शून्य हैं, परमेश्वरों के परमेश्वर हैं, ध्यानियों के धाम (पद) हैं, आप को नमस्कार है।

[योगेश्वर श्रीकृष्ण : कल्पद्रुमतन्त्र–गोरक्षस्तोत्रराज]

महासिद्ध और सिद्धसिद्धान्त

सूक्ष्मवेदे रताः सिद्धा विप्रा वेदे रतास्तथा।
भिक्षुकाश्चापि वेदान्ते त्रिभिर्व्याप्तं जगत्त्रयम् ॥ १ ॥
वर्तन्ते कर्मणा विप्रास्त्यागेनैव च भिक्षुकाः।
सिद्धा योगेन वर्तन्ते त्रयेण वर्तते त्रयम् ॥ २ ॥

(अवधूत योग–) सिद्ध सूक्ष्मवेद (स्वसंवेद्य परम तत्व) के परिशीलन में तत्पर रहते हैं, पंडित (ज्ञानी विप्र) वेद के अध्ययन में लगे रहते हैं, भिक्षु–चतुर्थाश्रमी संन्यासी वेदान्त (आत्मज्ञान) में रत रहते हैं, इन्हीं तीनों से तीनों लोक–सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। विप्र (विद्वान्) कर्मपरायण हैं, भिक्षुक–संन्यासी त्याग में रुचि लेते हैं, सिद्ध–अवधूत योगी योग का सेवन करते हैं। इस तरह तीनों अपने-अपने त्रिविध आचार में तत्पर हैं। १–२।

द्वैते विप्रास्तथाद्वैत आसक्ताश्चापि भिक्षुकाः।
महासिद्धावधूतास्तु द्वैताद्वैतविवर्जिते ॥ ३ ॥
वर्णा भजन्ति साकारं निराकारं तथाश्रमाः।
उभाभ्यां यत्परं तत्वं भजन्तेऽत्याश्रमाः पुनः ॥ ४ ॥

विप्र (विद्वान्) परमात्मा की सगुण उपासना में लीन हैं, संन्यासी अद्वैत मत में आसक्त हैं, लेकिन (योगमार्गी) महासिद्ध द्वैत-अद्वैतविवर्जित परम तत्व का अनुशीलन करते हैं। वर्णधर्मी गृहस्थ साकार परमेश्वर की उपासना करते हैं, संन्यासी निर्गुण-निराकार तत्व का चिन्तन करते हैं, इन दोनों से–सगुण-निर्गुण से परे तत्व का अत्याश्रमी अवधूत (सिद्ध) अनुभव करते हैं। ३–४।

भजन्ति विप्रा ब्रह्माणं विष्णुं भजन्ति भिक्षुकाः।
सर्वगुरुं सदात्मानं नाथं भजन्ति योगिनः ॥ ५ ॥

सूत्रचिह्नेन वं विप्रा दण्डचिह्नेन भिक्षुकाः।
विश्वात्मविश्वगुरवो मुद्राचिह्नेन योगिनः ॥ ६ ॥

विप्र (विद्वान्) ब्रह्म का भजन करते हैं—वेदों का अध्ययन करते हैं, संन्यासी विष्णु–नारायण का चिन्तन करते हैं, योगी सत्स्वरूप सर्वगुरु एकमात्र नाथजी का ही ध्यान करते हैं। विप्र यज्ञोपवीत धारण करते हैं, संन्यासी दण्ड धारण करते हैं, विश्वात्मगुरु सिद्ध योगी मुद्राचिह्न से युक्त होते हैं। ५–६।

शक्तिध्यानी भवेद् विप्रः शिवध्यानी स भिक्षुकः।
शिवशक्तिसमायोगध्यानी योगीश्वरो भवेत् ॥ ७ ॥
वेदैर्विप्राः प्रवर्तन्ते वेदान्तैर्भिक्षुकास्तथा।
सिद्धान्तेन महासिद्धाः सिद्धसिद्धान्त उत्तरः ॥ ८ ॥

विप्र (विद्वान्) शक्ति का ध्यान करता है, संन्यासी शिव का ध्यान करता है, शिवशक्तिसमायुक्त ध्यानी तो योगीश्वर होता है—योगाभ्यास से शक्ति का शिव से ऐक्य स्थापित कर अलख निरंजन का साक्षात्कार करता है। विप्र–विद्वान् वेद-मार्ग का अनुसरण करते हैं, संन्यासी वेदान्त ज्ञान में अनुरक्त रहते हैं, परन्तु (योग-) महासिद्ध सिद्धसिद्धान्त में दृढ़ रहते हैं। ७–८।

योगिनामजपामन्त्रः सूर्यमन्त्रो द्विजन्मनाम्।
चतुर्थचरणो मन्त्रो भिक्षुकाणामुदीरितः ॥ ९ ॥
नमस्कारो हि विप्राणां परस्परसमागमे।
नारायणेति भिक्षूणामादेशः सिद्धयोगिनाम् ॥ १० ॥

(सिद्ध) योगी अजपा गायत्री—हंस मन्त्र का जप करते हैं, विप्र (विद्वान्) सूर्यमंत्र का जप करते हैं और संन्यासी चतुर्थाश्रम के (संन्यासपरक) मन्त्र का जप करते हैं। एक-दूसरे से मिलने पर (वर्णाश्रमी) विप्र नमस्कार करते हैं, भिक्षुक अथवा संन्यासी नारायण 'शब्द' का उच्चारण करते हैं, सिद्ध योगी आपस में एक-दूसरे से मिलने पर 'आदेश-आदेश' का व्यवहार करते हैं। ९–१०।

सत्यमित्युच्यते विप्रैर्जगन्मिथ्या च भिक्षुकैः ।
महासिद्धैस्तदेवान्यत् सत्यमिथ्याविवर्जितम् ॥ ११ ॥
विप्रो वै भिक्षुको जातो नान्यो भिक्षुश्च विप्रतः ।
आचारमात्रतो विप्रो योगिनस्तु विचारतः ॥ १२ ॥
विप्रैश्च प्रतिमाक्षेत्रे तीर्थक्षेत्रे च भिक्षुभिः ।
दृश्यते पूर्ण ब्रह्मात्मा कायक्षेत्रे तु योगिभिः ॥ १३ ॥
बन्धने हि सदा विप्रास्त्यागे मुक्ति वदन्ति यत् ।
अर्धबद्धा भिक्षुकाश्च नित्यमुक्तास्तु योगिनः ॥ १४ ॥

विप्र जगत् को सत्य मानकर आश्रमधर्म—गृहस्थाश्रम का पालन करते हैं, वेदान्तनिष्ठ अद्वैत संन्यासी जगत् को मिथ्या मानते हैं पर सिद्ध योगी सत्य-असत्य से विवर्जित स्वरूप में निष्ठावान् रहते हैं । विप्र भिक्षुक संन्यासी हो सकता है, विप्र से भिक्षु दूसरा नहीं हो सकता, विप्र आचारप्रधान है, योगी विचार—तत्व-चिन्तन अथवा आत्मस्वरूप के परिशीलन के लिये प्रसिद्ध है । विप्र प्रतिमा में परमात्मा का रूप देखते हैं, संन्यासी तीर्थों में विचरण कर अद्वैत परमात्मा का बोध प्राप्त करते हैं, पर योगी अपने शरीर के भीतर ही पूर्ण ब्रह्मानुभूति प्राप्त करते हैं, प्ररमेश्वर का साक्षात्कार करते हैं । विप्र सदा (माया-प्रपंच के) बंधन में रहते हैं, त्याग में मुक्ति का निरूपण करने वाले संन्यासी अर्द्धबद्ध रहते हैं; परन्तु योगी नित्यमुक्त होते हैं । ११—१४ । [विमर्शनाथ—सम्प्रदाय-निर्णय १—१४]

सिद्ध की कंथा काँपने लगी

प्रबन्ध-चिन्तामणि में एक कथा आती है कि चौलुक्य राजा मूलराज ने एक मूलेश्वर नाम का शिव-मन्दिर बनवाया था । सोमनाथ ने राजा के नित्य नियत वंदन-पूजनसे संतुष्ट होकर अणहिल्लापुर में अवतीर्ण होने की इच्छा प्रकट की । फलस्वरूप राजा ने वहाँ त्रिपुरप्रासाद नामक मन्दिर बनवाया । उसका प्रबन्धक होने के लिये राजा ने कंथड़ी नामक शैव सिद्ध से प्रार्थना की । जिस समय राजा उस सिद्ध से मिलने गया, उस समय सिद्ध को ज्वर था । अपने ज्वर को उसने कंथा में संक्रमित कर दिया । कंथा काँपने लगी । राजा ने कारण पूछा तो सिद्ध ने बताया कि मैंने ही कंथा में ज्वर संक्रमित कर दिया है ।

[सौजन्य : 'नाथ-सम्प्रदाय'
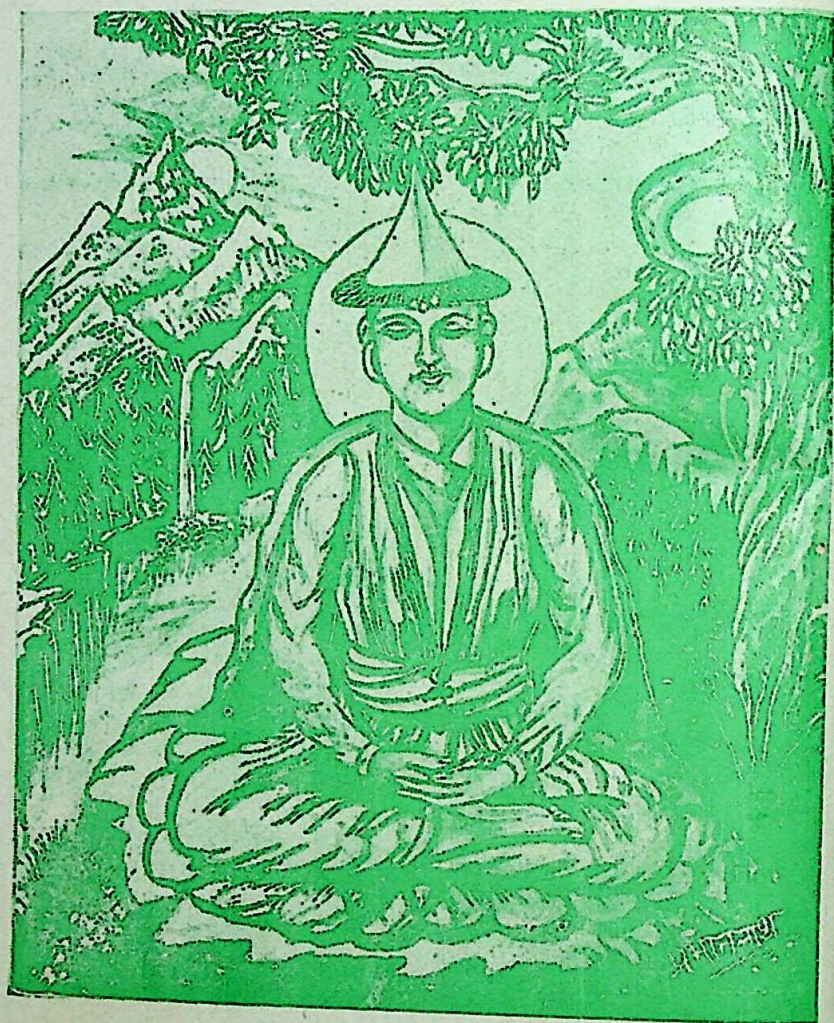
सिद्ध रतननाथ

आदिगुरु शकंरकी सिद्धयोगज्ञाननिधि

क्षीरसिंधु परिसरीं । शक्ति च्या कर्णकुहरीं ।
नैणां कें श्रीत्रिपुरारी । सांगितलें जें ।
ते क्षीर कल्लोला आंतु । मकरोदरीं गुप्तु ।
होता तया चा हातु । पँहे जालें ।
तो मत्स्येन्द्र सप्तशृंगीं । भग्नावयवा चौरंगीं ।
भेटावा कीं तो सर्वांगीं । सम्पूर्ण जाला ।
मग समाधि अव्यत्यया । भोगावी वासना यया ।
ते मुद्रा श्रीगोरक्षराया । दिधलीं मीनीं ।
तेणें योगाब्जिनी सरोवरु । विषयविध्वंसैकवीरु ।
तिये पदरीं का सर्वेश्वरु । अभिषेकिले ।
मग तिहीं ते शांभव । अद्वयानन्दवैभव ।
संपादिलें सभ्रमव । श्रीगहिनीनाथा ।
तेणे कलिकलितु भूतां । आला देखोनि निरूता ।
ते आज्ञा श्रीनिवृतिनाथा । दिधलीं ऐसी ।
ना आदिगुरु शंकरा । लागोनि शिष्यपरम्परा ।
बोधा चा हा संसारा । जाला जो आमुतें ।

क्षीरसमुद्र के तटपर श्रीशंकर ने, न जाने कब एक बार जो उपदेश दिया था, वह क्षीरसमुद्रकी लहरी में किसी मत्स्य के पेट में गुप्त मत्स्येन्द्रनाथ के हाथ लगा । मत्स्येन्द्रनाथ सप्तशृंग पर्वतपर चौरंगी नाथ से मिले, जिनके हाथ-पांव लूले थे, मिलते ही चौरंगी नाथ पूर्णांग हो गये । अचल समाधि का उपभोग लेने की इच्छा से मत्स्येन्द्रनाथ ने उपदेश गोरखनाथ को दिया । इस तरह उन्होंने योगरूपी कमलिनी के सरोवर, विषयों को विध्वंस करनेवाले एक ही वीर शंकर के रूप में उस पद पर अभिषिक्त किया । शंकर से प्राप्त वह अद्वैतानन्द वैभव गोरखनाथसे गहिनीनाथ ने ग्रहण किया । वे सब प्राणियों को कलिकाल से ग्रस्त देख कर दौड़ आये और निवृत्तिनाथ को यह आज्ञा दी कि आदिगुरु शंकर के शिष्यपरम्परानुसार हमें जो ज्ञाननिधि प्राप्त हुई है, उसे लेकर कलि के जीवों की रक्षा करो ।

[ज्ञानेश्वरी १८ । १७५१-५८]

सिद्धि और सिद्धलोक

योगसिद्धि से पर्वत का स्वर्ण पर्वत से गेरु के पर्वत में रूपान्तरण

योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप में तप कर रहे थे। वहाँ के राजा की मृत्यु हो जाने पर उन्होंने उसके मृत शरीर में प्रवेश किया और वहाँ रानी मंगला के रूपजाल में आसक्त हो गये। श्रीगोरखनाथजी ने उन्हें महायोगज्ञान का स्मरण दिला कर प्रबुद्ध किया और इस तरह गुरु को बन्धनमुक्त कर वे बाहर निकल आये। यद्यपि मत्स्येन्द्रनाथजी कामिनी के रूपजाल से मुक्त हो चुके थे, तथापि उनके मन में आसक्ति थी। योगसिद्ध गोरखनाथजी ने अपने जलपात्र से जल छिड़क कर एक पर्वत को स्वर्णमय बना दिया, मत्स्येन्द्रनाथ के मन में इस घटना से स्वर्ण के प्रति उपेक्षा का भाव उत्पन्न हुआ, उन्होंने सुनहले आभूषण शरीर से उतार कर फेंक दिये। ज्ञानसिद्ध महायोगी गोरखनाथजी ने स्वर्ण को कलह का कारण समझ कर स्वर्ण के पर्वत को स्फटिक पर्वत बना दिया, जब इससे भी उनको संतोष न हुआ तो उन्होंने उस पर्वत को गेरू का पर्वत बना दिया।

[जोधपुराधीश्वर मानसिंह कृत 'नाथचरित्र']

+ + + +

अकल्पित यौगिक सिद्धियाँ

रसौषधिक्रियाकालमन्त्रक्षेत्रादिसाधनात् ।
सिद्धयन्ति सिद्धयो यास्तु कल्पितास्ताः प्रकीर्तिताः ॥
अनित्या अल्पवीर्यास्ता सिद्धयः साधनोद्भवाः ।
साधनेन विनाप्येवं जायन्ते स्वत एव हि ॥
स्वात्मयोगैकनिष्ठे तु स्वातन्त्र्यादीश्वरस्ततः ।
प्रभूताः सिद्धयो यास्ता कल्पनारहिताः स्मृताः ॥

सिद्धा नित्या महावीर्या इच्छारूपाश्च योगजाः ।
चिरकालात्प्रजायन्ते वासनारहितेषु च ॥
ताः शुभा या महायोगात्परमात्मपदेऽव्यये ॥

(सिद्धियाँ कल्पित और अकल्पित होती हैं ।) रस, औषधि, क्रिया, काल, मंत्र, क्षेत्र आदि के साधन से सिद्ध होने वाली सिद्धियाँ कल्पित हैं । ये साधन से प्राप्त होने से अनित्य और कम शक्ति वाली होती हैं । साधन के बिना भी स्वात्म-निष्ठ योगियों में सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है । उनसे स्वतंत्रता आदि ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं, ये अकल्पित—स्वाभाविक हैं, ये स्वतः सिद्ध, नित्य, महाशक्तिवाली और इच्छारूपिणी तथा योग से उद्भूत हैं । वासनारहित योगियों में चिरकाल से प्रादुर्भूत होती हैं । ये सिद्धियाँ शुभ और महायोग से अव्यय परमात्मपद में प्रतिष्ठित हैं ।

[योगबीज १७४–७८]

\+ \+ \+ \+

सिद्धरतननाथ की योगशक्ति

अपने गुरुदेव महायोगी गोरखनाथ की आज्ञा से सिद्ध बाबा रतननाथ खुरासान प्रदेश में लोककल्याण के लिये निकल पड़े । वे काबुल के मार्ग पर चल कर अटक पहुँचे, अटकमें पैसा पास में न होने से नाविकों ने उन्हें नाव पर चढ़ाने से इनकार कर दिया । बाबा रतननाथ अपनी कन्था पर बैठ कर नदी के पार हो गये । नाविकों की दुष्टता पर उन्होंने उन्हें (नाविकों को) शाप दे दिया । दोनों नाविक तत्काल पत्थर में रूपान्तरित हो गये । आज भी अटक में दोनों पत्थर जमाल और कमाल की चट्टानों के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

काबुल पहुँच कर सिद्ध रतननाथ ने विभूति-प्रदर्शन किया । माघ के महीनेमें एक शहतूत के वृक्ष को फला-फूला कर दिया । माघ में शहतूत के वृक्ष की सब पत्तियाँ झड़ जाती हैं । बाबा रतननाथ की योगसिद्धि से चमत्कृत होकर काबुल के बादशाह ने मन्दिर के लिये उन्हें काबुल और जलालाबाद में भूमि दी । आज भी इन स्थानों पर नाथसिद्ध योगियों के मठ हैं ।

[सौजन्य : नाथपंथ]

卐

योगवाणी

सिद्ध वह है, जो साधनारूपी अनेकानेक सरिताओं की दुर्गमता को पार कर अथवा दुर्गमता से पार होकर अथवा परे होकर सहजस्वरूप - सच्चिदानन्दामृतरूप महोदधि में अन्तर्लीन हो जाता है। उसकी समस्त चेतन व्यावहारिकता और अचेतन में अभिव्यक्ति परमात्मशक्ति की चैतन्यमयी सक्रियता और सहज निष्क्रियता में ज्योतित हो उठती है।

सिद्ध वह है, जिसकी अलख-निरञ्जन, मायातीत, परमात्मा में सहज सिद्धि अथवा संस्थिति और अभिव्यक्ति मन, बुद्धि तथा वाणी द्वारा अगम्य, अतर्क्य और अनिर्वचनीय होती है। सिद्ध का स्वरूप-बोध अनुभवैकगम्य होकर भी जब मात्र सहज शून्य में ही स्वाकारित हो जाता है, तब वह द्वैताद्वैतविलक्षण स्वरूप में द्योतित अथवा ज्योतित होता है, ऐसा योगयुक्तात्मा ही सत्यपुरुष, परमेश्वर, सत्यनारायण, महाविष्णु अथवा परमशिव कहा जाता है।

सिद्ध वह है, जिसकी साधना की सम्पूर्णता—चरम परिणति 'स्व' मात्र है। सिद्ध का 'स्व' सिद्धि की परा स्वरूपसमासन्नता में शक्ति से सर्वथा निरपेक्ष होता है। 'स्व' ही उसको योगसिद्धि के अखण्ड साम्राज्य में अभिव्यक्त होता है। अपने निरञ्जन स्वरूप में ही वह आत्मरमण करता है।

सिद्ध वह है, जो अपने गुह्यातिगुह्य—गुह्यतम स्वरूप में संस्थित रह कर भी अपनी कृपा, शक्तिपात और प्रसाद, आशीर्वाद से समस्त जगत् में, लोक-लोकान्तर में जीवमात्र को कृतार्थ और सहज परमात्मबोध से तृप्त करता रहता है।

सिद्ध वह है, जो अवधूत होता है, प्रपंच और माया से सम्पूर्ण अप्रभावित होकर सद्गुरु-रूप में निरन्तर प्रतिष्ठित रहता है। सिद्धस्वरूप सद्गुरु ही 'स्व'-गुरु होता है। स्वगुरु सिद्धसद्गुरु के प्रसाद से ही—अनुग्रह से ही जीवात्मा परमपद में समाहित हो जाता है।

सिद्ध वह है, जो सर्ववंद्य होता है। वह सर्वकामद और सिद्धार्थ, सिद्धसंकल्प तथा सिद्धिसाधन होता है।
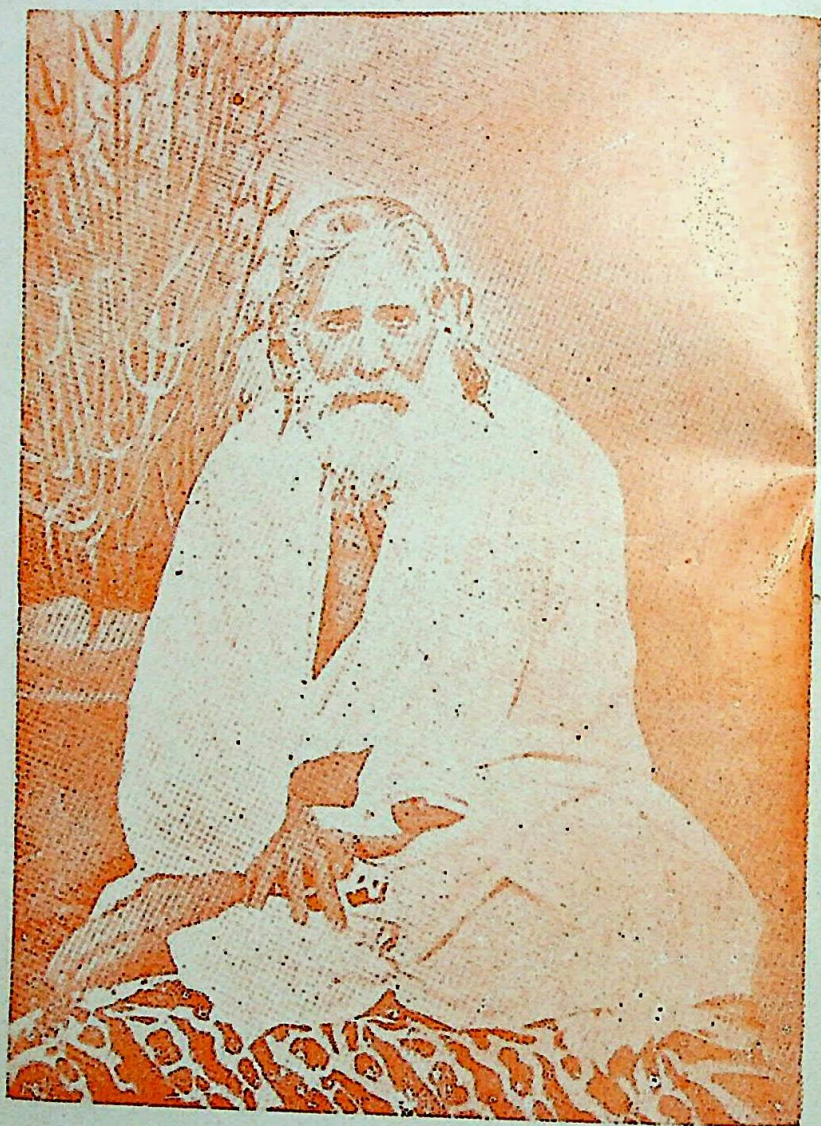
सिद्ध पुरुष गम्भीरनाथ

स्वरूपध्यान

सिद्धपुरुष गम्भीरनाथ

यह ध्यान वस्तुत: आत्मस्वरूप का ध्यान है। इसमें सुतीक्ष्ण विचार की सहायता से जगत् का मिथ्यात्व-निरूपण कर प्रबल इच्छा-शक्ति के प्रयोग से बहिर्जगत् के सब पदार्थों का बोध तक सम्पूर्ण विलुप्त कर नित्य शुद्ध-बुद्ध, मुक्त, सर्वगुणातीत, निर्विशेष सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा में चित्त का समाधान करना आवश्यक होता है। इस ध्यान में ध्याता स्वयं ही ध्येय, ज्ञाता स्वयं ही ज्ञेय होता है एवं उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता, कोई उपाधि नहीं होती। द्वैतभावलेश विहीन आत्मा में किसी गुण का सम्पर्क नहीं, शक्ति का सम्पर्क नहीं, ऐश्वर्य का सम्पर्क नहीं। वह निर्गुण, नि:शक्तिक, निरुपाधिक और निर्विशेष है। ध्याता एक मात्र निज में (निजस्वरूप में) ही विद्यमान रहता है। दूसरे किसी की विद्यमानता नहीं रहती। भाषा में (बोलचाल में) 'सोऽहं', 'अहं ब्रह्मास्मि'— इस प्रकार उपदेश दिये जाने पर भी ध्यानाभ्यास काल में 'अहं' और 'ब्रह्म' का पृथक्-पृथक् चिन्तन करके फिर उनके ऐक्य की भावना नहीं करनी पड़ती। चित्त को सम्पूर्ण रूप से निर्विषय करके सर्वचिन्तनविरहित होकर आत्मस्वरूप में स्थित होना पड़ता है। गुरु और शास्त्र के उपदेश-श्रवण एवं युक्ति-युक्त विचार की सहायता से मनन करते-करते पहले ही ऐसे नि:संशय सिद्धान्त पर पहुंचना आवश्यक होता है कि सर्वोपाधिविनिर्मुक्त भगवान् वा ब्रह्म एवं सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त अहं जीव वा आत्मा स्वरूपत: एक ही है, आत्मा ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही आत्मा है, केवल मात्र माया से ही एक निर्विशेष ब्रह्म वा आत्मा मायाधीश जगत्पति परमेश्वर है और मायाधीन जगत्परिवेष्टित अहं जीवरूप में द्विधा या बहुधा प्रतीयमान होता है। तदनन्तर सब प्रकार के गुण, शक्ति, ऐश्वर्य आदि मायिक उपाधियों की स्मृति के निराकरणपूर्वक आत्मस्वरूप में अवस्थिति की अविच्छिन्न प्रचेष्टा ही 'सोऽहं'-ध्यान या स्वरूपध्यान है।

चाहे 'मैं' (अहं) रखो, चाहे उनको (भगवान् को) रखो, दोनों मत रखो। उनको (मुझसे भिन्न अन्य पुरुष विशेष भगवान् को) छोड़कर एकमात्र

सर्वसम्बन्धविहीन 'अहं' या आत्मा को रखने से भी अद्वैत (स्वरूप) की सिद्धि हो जाती है। 'मैं' और 'मेरा' छोड़कर एकमात्र उनको (भगवान् को) अर्थात् ब्रह्म को रखने से भी वही फल होता है, भक्त और ज्ञानी इसी पथ का अवलम्बन करते हैं। वस्तुतः उनको (भगवान् को–ब्रह्म को) छोड़कर 'मैं' रह नहीं सकता और 'मैं' को छोड़कर वे (भगवान्–ब्रह्म) नहीं रह सकते। द्वैत के एक को छोड़ सकने से ही सर्वसम्बन्धरहित, गुणातीत, मायातीत, अद्वैत सच्चिदानन्द-स्वरूप वर्तमान रहता है।

[सौजन्य: 'योगरहस्य']

सिद्ध योगी दीनानाथ

तेरहवीं शताब्दी ई० की घटना है। उन दिनों दिल्ली के राजसिंहासन पर बादशाह अल्तमस (१२११ ई० १२३६ ई०) आरूढ़ था। एक योगी एक नगर में परिभ्रमण कर रहे थे कि एक दूकान के सामने उन्होंने एक बालक को देखा, उसके सामने ताम्बे के सिक्कों का ढेर लगा था। उन्होंने बच्चे से भिक्षा में कुछ सिक्के माँगे पर उसने यह कहकर देने से इनकार कर दिया कि ये मेरे पिता के हैं पर साथ-ही-साथ उसने भिक्षा में योगी को अपने पास की कोई वस्तु प्रदान की। योगी उसकी दानशीलता और उदार त्याग-वृत्ति से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने लड़के को सिक्कों को घर ले जाकर उन्हें आग में गलाने का आदेश दिया और स्वयं उनके गल जाने पर उन्होंने विभूति ऐसी वस्तु ताम्बे पर छिड़क दी। उनके यौगिक अभिमन्त्रण से ताम्बा सोने में बदल गया। योगी का नाम था दीनानाथ। बादशाह अल्तमस उनका बड़ा आदर करता था। बादशाह ने अपनी सोने की मोहरों पर इस तरह के चमत्कार से प्रभावित होकर अपने नाम के साथ योगी दीनानाथ के नाम भी अंकित कराये। इस तरह के सोने के सिक्के अब भी पाये जाते हैं।

[इनसाइकलोपीडियाआफएथिकएण्डरेलीजनखण्ड ८]

पूर्ण योग

योगिराज महन्त दिग्विजयनाथ

सत्यार्थ रूप में केवल धर्म ही मानव-जाति की रक्षा कर सकता है। धर्म में ही यह क्षमता है कि भौतिकवादी, राजनीतिक एवं आर्थिक आदर्शों पर आध्यात्मिक या दिव्य आदर्शों को विजयी बनाये। धर्म से ही विश्व व्यापी अनेकता में आध्यात्मिक एकत्व की स्थापना हो सकती है। व्यक्तिवाद, साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीयता आदि के निम्न स्तरों से मानव-चेतना को ऊपर उठाकर विश्वात्मकता एवं परम अध्यात्मवाद के चूड़ान्त स्तर पर ले जाना ही धर्म का काम है। मानव जाति के अंतर्गत धर्म का परमोद्देश्य योग है, वियोग नहीं, प्राणी-प्राणी के बीच के व्यवधान को दूर करना है। धर्म मनुष्यता को दिव्यता के उच्च सोपान पर ले जाता है। वह नर को नारायण बनाने का अभिक्रम करता है। इस भूमि पर भगवान् का ऐसा राज्य स्थापित करना ही धर्म का लक्ष्य है, जिसमें मानवों के व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक सभी व्यापारों में सत्य एवं एकता, विश्व-प्रेम एवं मैत्री-भाव, विश्व-शांति एवं सामञ्जस्य, विश्व-आनंद एवं सौंदर्य का राज्य हो। सत्य तो यह है कि मानव की आभ्यान्तर धार्मिक एवं आध्यात्मिक चेतना को न्याय, स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, एकत्व, शांति और सामञ्जस्य की आवश्यकता है, यह मानव की सत्य-प्रकृति में निहित ईश्वरत्व की ही आवश्यकता है।

धर्म का परम सूक्ष्म सार ही योग है, योग का अर्थ मिलाप है, जिसमें कर्मपरायण जीव का मिलाप परस्पर आत्मा से होता है। व्यक्ति का मिलाप विराट् समष्टिरूप विश्व-हृदय से होता है। प्रत्येक का मिलाप सभी से होता है, यह मिलाप होता है, जिसमें बाह्यतः संसार की सारी विभिन्नतायें उस परमात्मा में ओत-प्रोत हो जाती हैं, जो इन सारी विभिन्नताओं में स्वयं अपना अवतार अभिव्यक्त कर रहा है। समस्त ज्ञान, अनुभूति

एवं अभिलाषा तथा अभिकर्म के संयमन द्वारा मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष में इस पूर्ण योग का अभ्यास ही धर्म का अन्तिम उद्देश्य है। सभी मत-मतान्तरों, कर्मकाण्डों और संस्थाओं में आध्यात्मिक गुणों का अस्तित्व तभी माना जायेगा, जब वे इस योग-प्राप्ति की ओर मानव को ले जाते हैं। यह योग ही समस्त विभेद के बीच अभेद की सजीव-सक्रिय चेतना है और यही मानव-जीवन के सभी पक्षों का विश्व-जीवन के साथ समन्वय है। धर्म व्यवस्था देता है कि हमारे व्यक्तिगत एवं पारिवारिक, राजनीतिक एवं आर्थिक, सामाजिक एवं साम्प्रदायिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के सभी कार्य-व्यापार इसी योग-दर्शन से सञ्चालित एवं आलोकित होते रहें। यही योगधर्म मानव-संसार में सच्ची सुख-शान्ति, सच्ची माधुरी और मञ्जुलता का आनयन कर सकता है।

[सौजन्यः 'महन्त दिग्विजयनाथस्मृति-ग्रन्थ']

छाछ से दही जम गया

नाथपंथ के सिद्ध अवधूत अमृतनाथजी महाराज राजस्थान के नगरों में भ्रमण कर रहे थे। एक दिन शाम होने पर महाराज की सेवा के लिये एक वैश्य दस-बारह किलो छाछ एक बर्तन में रखकर ले आया, क्योंकि योगिराज अमृतनाथ भोजन के स्थान पर शाम को दही लिया करते थे। महाराज ने अपने सेवक को आदेश दिया कि हम इस समय दूध नहीं लेते, इसे जमा दो, सबेरे दही जमने पर इसका उपयोग होगा। आदेश का पालन हुआ। वैश्य ने कहा कि यह दूध नहीं छाछ है, इससे दही जमना सम्भव नहीं हो सकता। अमृतनाथजी महाराज की आज्ञा हुई कि मैं जैसा कहता हूँ, वैसा ही किया जाय। सबेरा होने पर दूसरे दिन महाराज की सेवा में वह वैश्य भी उपस्थित था। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, महाराज की योगशक्ति का विलक्षण चमत्कार (सिद्धि) था कि छाछ से मलाई से परिपूर्ण स्वादिष्ट दही जमा था।
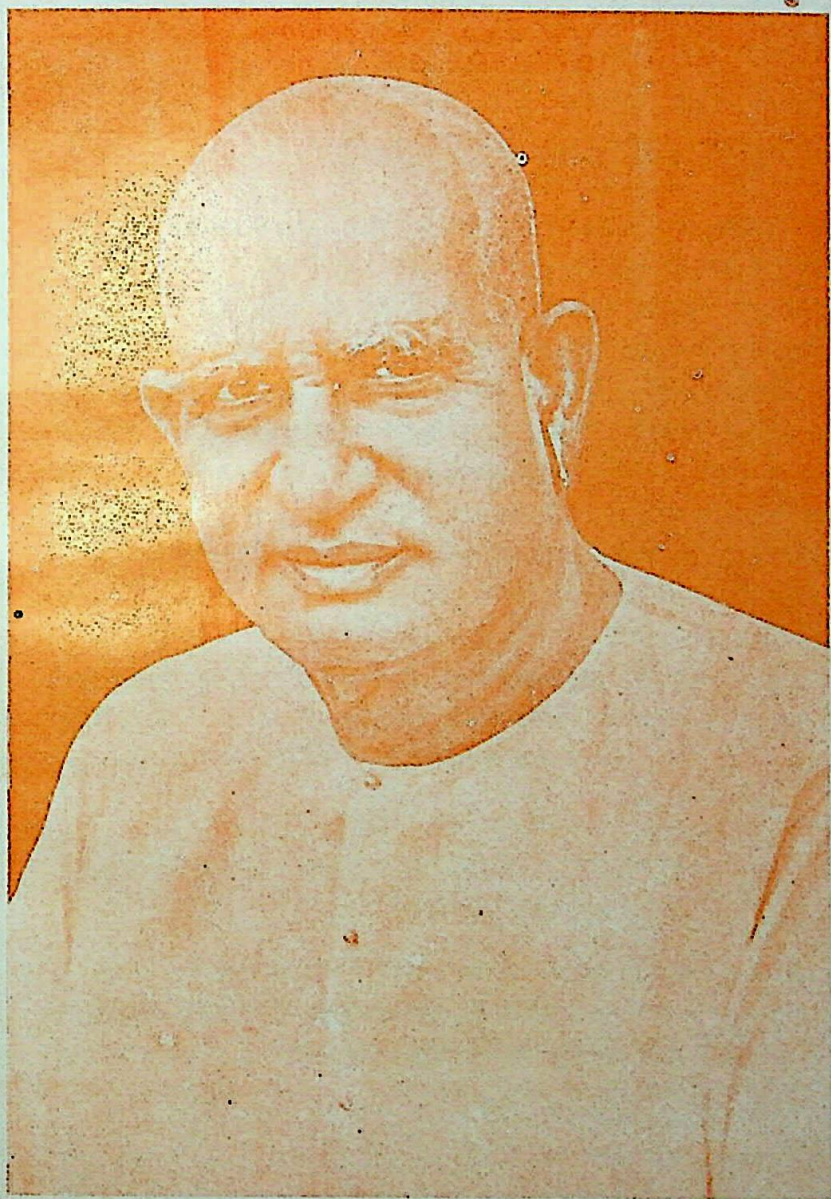
योगिराज महन्त दिग्विजयनाथ

आशीर्वचन

गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथ

परमकरुणामय भगवान् शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथजी ने देववाणी में 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की रचना कर अलखनिरंजन के साक्षात्कार का राजपथ प्रशस्त किया है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में नाथयोग पर प्रचुर प्रकाश डाला गया है। इस मौलिक योगवाङ्मय में शैवयोग के प्रतिपादन के साथ-ही-साथ निगमागम-पुराणस्मृतिसम्मत योगाचार, वैराग्य और मोक्ष के सैद्धान्तिक और प्रक्रियात्मक-साधनात्मक पक्षों का समीचीन समन्वय भी बोधगम्य शैली में निरूपित है, जिसका रसास्वादन वे ही कर सकते हैं, जो योगविज्ञान—हठयोगविद्या के द्वारा परम-साक्षात्कार की सिद्धि में अनुभवी और निष्णात हैं। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' को हमारे सिद्धामृतमार्ग अथवा नाथ-सम्प्रदाय में अपूर्व मान्यता प्राप्त है और योगि-सम्प्रदाय में ही नहीं, दार्शनिकों और विद्वानों में भी इस योगग्रंथ के प्रति यथेष्ट आदरभाव और श्रद्धा का दर्शन होता है। लगभग दो सौ साल पहले काशी के महान् योगदार्शनिक महामति बलभद्र ने 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' के रूप में 'सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति' के सारांश का स्वरचित संस्कृत-श्लोकों में संग्रह किया था। महायोगी गोरखनाथजी की प्रशस्ति में बलभद्र ने कहा था—

यत्कारुण्यविलोकनादपि भवेच्चिद्विश्रमः पारदः।
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौ चेतोऽस्तुमग्नं गुरौ॥
(सिद्धसिद्धान्तसंग्रह ५। ३६)

जिनके कृपामय दृष्टिपात से चित्त शान्त और विषयों में अनासक्त हो जाता है, उन करुणासुधारसनिधि गुरु (गोरखनाथ) में मेरा मन निमग्न हो जाय। बलभद्र ने अपने ग्रंथ में 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' का ज्ञानामृत भर दिया है।

गोरखनाथजी महान् योगाचार्य थे, इसलिये 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में उनके वचन उपदेश के रूप में उपलब्ध होते हैं। उन्होंने इस तरह इस योगग्रंथ के छः उपदेशों में महायोगज्ञानामृत का वर्णन किया था। गोरखनाथजी ने निरूपण किया

है कि किस तरह एक गत्यात्मक आध्यात्मिक परमसत्य से वैविध्यपूर्ण तथा अनेक भौतिक पदार्थों से युक्त विश्वप्रपंच उद्भूत है तथा इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण है कि किस प्रकार दिक्कालनिरपेक्ष भेदातीत, शाश्वत, परमात्मा अलखनिरंजन परमशिव अपनी स्वरूपभूत शक्ति के द्वारा दिक्कालपरिसीमित वैविध्यपूर्ण ब्रह्माण्ड एवं असंख्य व्यष्टिपिण्डों के रूप में अभिव्यक्त होता है। इसके आरम्भ में अजातवाद और तत्पश्चात् सत्कार्यवाद की रीति से आदिनाथ की सत्ता से पृथक् जगत्, अण्ड और पिण्ड की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। अण्ड-पिण्ड की उत्पत्ति प्रमाण सिद्ध नहीं है, क्योंकि आदिनाथ अलखनिरंजन की सत्ता से भिन्न जगत् की सत्ता नहीं है। नाथयोग में अजातवाद का ही सिद्धान्त यद्यपि मान्य है तथापि इस मान्यता की पुष्टि के लिये शरीर में ही सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड और जीवन्मुक्त अमरकाय योगियों ने परमात्मा की अखण्डता, अभिन्नता और निरंजनता (निर्मलता) का बोध प्राप्त किया। सत्कार्यवाद अथवा परिणामवाद पर यही अजातवाद की विजय है। जब तक योगी अथवा अध्यात्मविज्ञानी की परमात्मस्वरूप में स्थिति और सम्पूर्ण निष्ठा नहीं हो जाती है, तब तक जन्म-मरण का दुःख नहीं छूट सकता और साधक की दृष्टि में विश्वप्रपंच की अहंकार के स्तर पर रागद्वेषादि द्वन्द्वात्मक मल या अविद्या के धरातल पर सत्ता बनी रहेगी। अण्डपिण्ड के रूप का ज्ञान हो जाने पर उसकी आधारशिला पारमार्थिक सत्ता का जीवात्मा-साधक को बोध हो जाना सरल हो जाता है। यह निर्विवाद है कि इस विश्वप्रपंच की गत्यात्मकता के मूलकारण के रूप में कोई स्वयंसत्य, स्वयंप्रकाशितसत्ता है, जो हमारी इन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे अतीन्द्रिय, अतिमानसिक और अतिबौद्धिक स्तर पर अभिव्यक्त है। गोरखनाथजी ने इस शाश्वत चेतना को परासंवित् कहा है, यही परमसत्ता है। उन्होंने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के छः उपदेशों में पिण्डोत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार, पिण्डपदसमरसभाव और नित्यावधूतलक्षण आदि का निरूपण कर नित्यनिर्विकार परमसत्ता को ही जीवात्मा-योगसाधक के लिये प्रतिपाद्य स्वीकार कर उसके स्वरूपबोध अथवा अन्तर्लय की पद्धति सुनिश्चित की है।

समष्टिब्रह्म, व्यष्टिब्रह्म, विशिष्टब्रह्म, सभी का मूल निरंजनता है, निरंशता, निस्पन्दता और अभिन्नता तथा निश्चयता है। शिवगोरक्ष की दृष्टि में अद्वैत आत्मा (परमात्मा) अपनी निजाशक्ति से युक्त होकर स्वरूपतः अभिन्न है। निजस्वरूप में निहित शक्ति की जागृति के स्तर पर परमात्मा शाश्वत, अनन्त परपिण्ड है।

शक्तिचक्रक्रमेणोत्थोजातः पिण्डपरः शिवः ।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति १ । ६)

यह परब्रह्मशिव गोरखनाथजी के योगसिद्धान्त के अनुसार अपरंपर, परमपद, शून्य, निरंजन परमात्मा है ।

अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति १ । १७)

परब्रह्मशून्य–स्वसत्तामात्र है, निर्विकार ही निरंजन है । अपरम्पर, परमपद, शून्यनिरंजन परमात्मा अजन्मा और परमानन्दस्वरूप है । निरंजन ब्रह्म सत्य है, सहज है, सर्वगत है । यह परमानन्द परमात्मा सदा अपने स्वरूप में सुख का अनुभव करता है, ऐसा भाव, तत्वदर्शन अथवा योगरसामृत सिद्धसिद्धान्तपद्धति में परिलक्षित है । पांचभौतिक शरीर जन्म लेने और मृत्युग्रस्त होने का धरातल है । जीवात्मा को शरीर धारण कर जन्म लेना पड़ता है और शरीर के जीर्ण होने पर अथवा दैवयोग से उसमें से यह प्राण के रूप में बाहर निकल कर अपनी स्वरूपसत्ता में अन्तर्लीन हो जाता है । प्राण या जीवन एक उन्नत स्तर से शरीर में उतरता है, जड़ जगत् में प्राण की ही शक्ति सृजन और विनाश की भौतिक प्रक्रियाओं का सजीव आकारों में रूपान्तर करती है ।

गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में हठयोग की साधन-प्रक्रिया का मर्म स्पष्ट किया है । हठयोग की साधना वास्तव में प्राणसाधना है और प्राणायाम की सिद्धि से ही यह फलवती होती है ।

पवन हीं जोग पवन हीं भोग, पवन हीं हरै छतीसौं रोग ।
या पवन कोई जांणै भेव । सो आपै करता आपै देव ॥
(गोरखवानी सवदी १४७)

पवन—प्राण के संयम से ही नाड़ियों का मल-शोधन होता है, शरीर की शक्ति बनी रहती है, मन संयमित और स्थिर रहता है । प्राण के चेतना में स्थिर हो जाने पर योगी सारी सिद्धियों को वश में कर लेता है ।

हमारे शरीर में असंख्य नाड़ियों का जाल फैला हुआ है । नाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान है मूलकन्द, मूलकन्द से उत्पन्न बहत्तर हजार नाड़ियों में दस प्रमुख हैं,

इनमें इड़ा-पिंगला, चन्द्र-सूर्य, नाड़ी कहलाती हैं, ये बाय और दायें नासारन्ध्ररूपी द्वारों से वहती हैं। इनके मध्य में सुषुम्ना ब्रह्माण्ड-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त बहती है। मूलकन्द से ही निकल कर सरस्वती, पूषा, अलम्बुषा, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, कुहू और शंखिनी नाड़ी बहती हैं। हमारे शरीर में दस वायु की स्थिति कही गयी है, हृदय में प्राणवायु उच्छ्वास और निःश्वासरूप में हकार तथा सकार ध्वनि करती आती-जाती है। यही हठयोग की विद्या की आधारशिला है। हकार सूर्य है, ठकार चन्द्रमा है। सूर्य-चन्द्रमा का योग ही गोरखनाथजी की दृष्टि में हठयोग है।

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्‌हठयोगो निगद्यते ॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति १ । ६९)

गोरखनाथजी ने जीव की शरीर में उत्पत्ति के सम्बन्ध में यथार्थ वर्णन करते हुए कहा है कि स्त्री-पुरुष के संगम के परिणामस्वरूप रज और वीर्य के स्त्री की योनि में ऐक्य से जीव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है। नौवें मास में यह जीवात्मा सत्यज्ञानयुक्त होता है और दसवें मास में योनिद्वार के स्पर्श से अज्ञानी शिशु के रूप में आत्मोद्धार के लिये तड़पता हुआ जन्म लेता है। उसे संसार में आते ही सत्यज्ञान, स्वरूपबोध की विस्मृति हो जाती है।

परमशिव के कुल और अकुल रूप की उपासना पर प्रकाश डालते हुए गोरखनाथजीने कहा है कि विशिष्ट चेतन, शक्तियुक्त शिव की उपासना ही कुलाचार है, इस कुलाचार में निष्काम कर्म में निष्ठा रहती है। अकुल अवस्था में परिपक्व योग ही शीर्षस्थानीय कहा गया है। अकुल में, स्वरूपानुभवस्वरूप परमात्मबोध में ही चित्त की लयावस्था रहती है। आदिनाथ अकुल और कुल, दोनों अवस्थाओं से परे हैं। महाप्रलय में कुल (व्यक्तावस्था) और अकुल (अव्यक्तावस्था) दोनों का अभाव रहता है। स्वयंज्योति, सच्चिदानन्दमूर्ति, एक मात्र सत्स्वरूप शाश्वत कैवल्य ही अभिव्यक्त रहता है। यही चरम सत्ता है। यही समस्त सत्ताओं की सत्ता है, समस्त अस्तित्वों का सत्य है, समस्त व्यावहारिक अनुभवों का प्रकाशक और ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का निर्माता है। यह भावाभाव-विनिर्मुक्त है, नाशोत्पत्तिविवर्जित और सर्वसंकल्पनातीत है। यही आदिनाथ का परब्रह्मस्वरूप है। नाथयोग के सिद्धान्त के अनुरूप अपने स्वरूप में सन्निहित करनेवाली शिव से शाश्वत संयोगमयी शक्ति ही परमसत्ता है। शक्ति शिव में और

शिव शक्ति में सन्निहित हैं। गोरखनाथजी ने परमात्मा के स्वरूप-दिग्दर्शन में मत व्यक्त किया है :—

अनामेति स्वयमनादिसिद्धं एकमेवानादिनिधनं सिद्धसिद्धान्त-प्रसिद्धं तस्येच्छामात्र धर्माधर्मिणो निजाशक्तिः प्रसिद्धा। '

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति १ । ५)

यह परमेश्वर नाम से परे है, स्वयंज्योति, अनादिसिद्ध है, यह उत्पत्ति, विनाश, सृजन और संहार से सर्वथा अतीत, अविनाशी है। यह अपनी चैतन्य-शक्ति-सच्चिदानन्दस्वरूपिणी परमेश्वरी शक्ति से सबकी उत्पत्ति और संहार का कर्ता अथवा कारण है। यह चैतन्यस्वरूप परब्रह्म सिद्धसिद्धान्त में प्रतिपाद्य अथवा ध्येय है। इसकी निजाशक्ति ही संकल्पशक्ति अथवा इच्छाशक्ति है। इसी शक्ति से यह निग्रहानुग्रहधर्मी है। निग्रहशक्ति कर्म का फल देती है, अनुग्रहशक्ति स्वरूप प्रदान करती है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में गोरखनाथजी ने निजाशक्ति, पराशक्ति अपराशक्ति, सूक्ष्मासक्ति और कुण्डलिनी महाशक्ति का सांकेतिक निरूपण करते हुए उनके कार्य और रूप का विवेचन प्रस्तुत किया। जो पुरुष माया और अज्ञान से विमूढ़ होकर वैषयिक भोगों में आबद्ध रहता है, उसके लिये जगज्जननी कुण्ड-लिनी बन्धनकारिणी होती है, पर जो मुद्राबन्ध, चक्रभेदन और प्राणायाम के द्वारा इस महाशक्ति को जगा लेता है, उसे यह मोक्ष प्रदान करती है; इस 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' ग्रंथ में हठयोग का अक्षय भाण्डार है। जिस तरह पांचभौतिक पिण्ड का अधिष्ठाता जीवात्मा होता है, उस तरह परपिण्ड का अधिष्ठाता सगुण-साकाररूप में अभिव्यक्त निरंजन, निराकार, चिन्मय, सच्चिदानन्दस्वरूप शिव होता है, ईश्वर होता है, निराकार की साकार अभिव्यक्ति का यही यौगिक रहस्य है कि पंचशक्तियों, निजा, परा, अपरा सूक्ष्मा और कुण्डलिनी में स्वरूपतः अन्तर्लीन परब्रह्म परमेश्वर इन्हीं के गुणों में आत्मप्रकाशन करता है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में यौगिक दृष्टि से पिण्डविचार अन्तर्दर्शन और ध्यान पर आधारित है। हमारा शरीर शिवशक्ति की अभिव्यक्तिका पवित्र माध्यम है और इसमें लोकलोकान्तर, समस्त ब्रह्माण्ड का रहस्य भरा पड़ा है। हमारे शरीर में नवचक्र, सोलह आधार, त्रिलक्ष्य और पंचव्योम स्थित हैं। गोरखनाथजी ने अपनी रचना 'गोरक्षशतक' में कहा है कि जिस योगी को इनका ज्ञान नहीं है, वह नाममात्र के लिये योगी है। हमारे शरीर में सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्ममार्ग के रूप में प्रसिद्ध है। जीवात्मारूपी साधक अथवा योगी के लिये इस

ब्रह्ममार्ग में स्थित नौचक्र (गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में नवचक्र और 'गोरक्षशतक' आदि में षट्चक्र बताये हैं) ही विश्रामस्थल स्वीकार किये गये हैं। सभी चक्रों का भेदन होने पर सुषुम्ना का प्रवाह सीधा हो जाता है और जीवात्मा (योगसाधक) ब्रह्मरन्ध्र में प्राणसिद्धि के सहारे शिवस्वरूप हो जाता है। वह व्यावहारिक अथवा लोकचेतना से ऊपर उठकर समाधिस्तर पर पारमार्थिक चेतना में विहार करता है। इन चक्रों के भेदन से महाकुण्डलिनीका प्रबोधन होता है। कुण्डलिनीशक्ति की अभिव्यक्ति का स्थान मूलाधार है। यह शक्ति साक्षात् गौरीस्वरूपिणी है। इसके ध्यान से साधक की मनोकामनाएँ पूरी होती हैं। स्वाधिष्ठानचक्र में गोरखनाथजी ने प्रबालांकुर-मूँगे के अग्र भाग की तरह लाल रंग के शिवलिंग की स्थिति बतायी है। योगसाधक प्रबुद्ध कुण्डलिनी द्वारा आलिंगित शिवलिंग का ध्यान कर योगशक्ति प्राप्त करता है। नाभिचक्र अथवा मणिपूर में कुण्डलिनी मध्यमा शक्ति कही जाती है। इसके ध्यान से सात्विक वृत्तियाँ प्रवाहित होती हैं। कुण्डलिनी–जागरण के ही सन्दर्भ में हृदय-चक्र अथवा अनाहत चक्र में स्थित लिंग की आकारवाली ज्योति का नाम गोरखनाथजी ने हंसकला कहा है। इसके ध्यान से इन्द्रियाँ वश में होती हैं और कंठचक्र अथवा विशुद्धचक्र में ज्योतिर्मयी सुषुम्ना को अनाहतकला नाम दिया गया है। इसकी उपासना से जल, स्थल, पाषाण में प्रतिघात नहीं होता, संकल्प की सिद्धि होती है। योगी जागतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करता है। वह ॐकार परमेश्वर के नादरूप का साक्षात्कार कर लेता है। आज्ञाचक्र अथवा भ्रूचक्र में सुषुम्ना अंगुष्ठमात्र दीप-शिखाकार हो जाती है, यही ज्ञाननेत्र है। इसका ध्यान करने से योगी शाश्वत चैतन्य-ज्योति से एकाकार हो जाता है।

सप्तमं भ्रूचक्रं मध्यममङ्गुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेत् वाचां सिद्धिर्भवति।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति २।७)

गोरखनाथजी ने आठवें चक्र को निर्वाण-चक्र कहा है और नौवें को आकाशचक्र कहा है। दोनों के ध्यान से क्रमशः मोक्ष और अलख-निरंजन में स्वरूप-स्थिति प्राप्त होती है। इस तरह नौ चक्रों के भेदन द्वारा सहज स्वरूप की प्राप्ति होती है, ब्रह्ममार्ग से जीवात्मा की यात्रा पूरी होती है। यही शाश्वत विश्राम कहा गया है। गोरखनाथजी की योगदृष्टि में जीवात्मा का यही शाश्वत विश्राम ध्येय है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में महायोगी गोरखनाथजी ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा अमित मार्मिक रूप में अष्टांगयोग का वर्णन किया है, जो बहुत लाभप्रद है। यद्यपि 'गोरक्षशतक' आदि में षडंगयोग का ही विवेचन है तथापि 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में अष्टांगयोग के निरूपण में समग्रयोगदर्शन का स्वारस्य भर दिया गया है। गोरखनाथजी ने कहा है कि सभी इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर शान्ति प्राप्त करना ही यम है। मन की समस्त वृत्तियों का नियंत्रण नियम है। यथालाभ सन्तोष करना चाहिये। गुरु के शरणागत होकर रहना चाहिये। चेतनमात्र आत्मा में (स्वरूप में) स्थिति ही आसन है। शरीर में प्राण की स्थिरता ही प्राणायाम है। देहरूपी रथ के स्वामी रथी आत्मा की अश्वरूपी इन्द्रियों को उनके विषयों से प्रत्याहारित करना प्रत्याहार है। समस्त जगत् के प्राणी और पदार्थों को आत्मरूप देखना, उनमें आत्मा की दृढ़ धारणा करना धारणा है। परब्रह्म में अभिन्न आत्मा का वायुरहित दीप के समान निश्चल नित्यप्रकाशरूप से ध्यान करना चाहिये। यही निरंजन ध्यान है। गोरखनाथजी ने अपने शिष्टपुराण लघु ग्रन्थ में कहा है—'निरंजन उपरान्ति ध्यान नाहीं'। सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप अलख-निरंजन ही ध्येय है। अखण्ड आत्मस्वरूप में संस्थिति ही उन्मनी अथवा सहज समाधि है। जब तक समाधि में ध्याता, ध्येय, ध्यान की स्थिति है, तब तक सबीज समाधि है, केवल ध्येयाकार वृत्ति का होना निर्बीज समाधि है। गोरखनाथजी के वचन हैं :—

यम इति उपशमः सर्वेन्द्रियजय आहारनिद्राशीतवातातपजयश्चैवं शनैः शनैः साधयेत्। नियम इति मनोवृत्तिनां नियमनमित्येकान्तवासो निःसङ्गतोदासीन्यं यथाप्राप्तिसन्तुष्टिर्वैरस्यं गुरुचरणावरूढत्वमिति। आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता। प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता। प्रत्याहारमिति चैतन्यतुरङ्गाणां प्रत्याहरणं विकारग्रसनोत्पन्नविकारस्यापि निवृत्तिर्निर्भातीति प्रेत्याहारलक्षणम्। धारणेति सा बाह्याभ्यन्तर एकमेवनिजतत्वस्वरूपमेवान्तः करणेन साधयेद् यथा यद्यदुत्पद्यते तत्तन्निराकारे धारयेत् स्वात्मानं निर्वातदीपमिव संधारयेदिति धारणालक्षणम्। अथध्यानमिति कश्चन परमाद्वैतस्य भावः स एवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वरूपमेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यानलक्षणम्। सर्वतत्वानां समावस्था निरुद्यमत्वमनायासस्थितिमत्वमिति समाधिलक्षणम्।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति २। ३२-३९)

भगवान् गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में योगसिद्धि का स्वरूप परमात्म साक्षात्कार बताया है, अष्टांगयोग का यही फल है। नाथयोग का सैद्धान्तिक आधार तथा भगवान् गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित सिद्धामृतमार्ग के महायोगज्ञान का आधार है व्यष्टिशरीर (पिण्ड) में अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि अथवा तात्विक व्यापकता की अपरोक्षानुभूति। कहा गया है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वही हमारे व्यष्टिपिण्ड में विद्यमान है, पर वह जड़ विज्ञान के अन्तर्गत प्राकृतिक शक्ति का समन्वयात्मक विश्लेषण नहीं है, यह तो आत्मा का अथवा चिन्मयसच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मपरमात्मा का स्वरूपगत तात्विक समत्वबोध है, सर्वव्यापक है। गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की रचना में यह सिद्ध किया है कि हमारा व्यष्टि-शरीर मात्र भौतिक शरीर नहीं है, यद्यपि यह भौतिक रूप में पंचतत्वों से आकारित है तथापि यह एक आध्यात्मिक तत्व में अभिव्यक्त है । यह आध्यात्मिकतत्व शरीर--व्यष्टि-पिण्ड को अपनी पाँच भौतिक सीमाओं और बन्धनों से मुक्त होने की सामर्थ्य प्रदान करने में पूर्णक्षम और शक्तिमान् है।

पिण्डमध्ये चराचरं योजानाति स योगी पिण्डसंवित्तिर्भवति।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३ । १)

इस व्यष्टिशरीर में ही जो योगी सकल चराचर जगत् को व्याप्त जानता है, वह पिण्डसंवित्ति होता है। सृष्टि दो तरह की है, व्यष्टिरूप, समष्टिरूप। व्यष्टि-सृष्टि में अन्तःकरणाभिमानी अस्मदादि जीव हैं और समष्टि-सृष्टि-ब्रह्माण्ड में विराट् हिरण्यगर्भादि की अभिव्यक्ति है। यह ब्रह्माण्ड अधिक चिरस्थायी स्वीकार किया गया है, यह अस्मदादि शरीरों का कारण और नियन्ता है, व्यष्टिशरीर क्षणभंगुर और विनश्वर है। इस व्यष्टिपिण्ड में जीवात्मा आता है और इसका त्याग कर निकल जाता है। जीव व्यष्टि-शरीर में कर्मबन्धन में पड़ता है और योगाभ्यास आदि के द्वारा समष्टि, व्यापकपिण्ड में, परमात्मा में अन्तर्लीनता ही उसके परमपद में प्रतिष्ठित होने का स्वरूप है। ब्रह्माण्ड के समस्त रहस्य का शरीरपिण्ड में भेदन करने वाला योगी अथवा युक्त जीवात्मा परमशान्त, निष्कल, निरंजन, परब्रह्मपरमेश्वर आदिनाथ के स्वरूप में स्थित हो जाता है, यही परमपद अथवा परमकैवल्य है। निस्सन्देह समस्त भौतिक वस्तुओं की समस्त कार्य-कारणात्मक क्रियायें और विकास की समस्त प्रक्रियायें तथा ब्रह्माण्ड में वस्तुओं के नवीनतम स्तरों के प्रकट होने की प्रक्रियायें एक शाश्वत-अनन्त परब्रह्म

गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथ

परमेश्वर की स्वच्छन्द सृजनेच्छा या इच्छा से शासित होती है। यह सर्वथा निर्विवाद है कि एकही परमात्मा अपनी असीम आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा इन समस्त विभिन्नताओं के रूप में अभिव्यक्त होकर उनमें रमण करता है। शिवशक्ति की ब्रह्माण्ड और पिण्ड से प्रापंचिक आत्माभिव्यक्ति की प्रक्रिया व्यक्तियों में आनन्दमय आध्यात्मिक चेतना और अस्तित्व के समस्त स्तरों की आध्यात्मिकता और एकता के प्रकट होनेपर पूर्ण हो जाती है, इसकी सिद्धि तत्वज्ञानी योगियों के जीवन में होती है। सिद्धसिद्धान्त में योगसिद्धि के लिये मन, बुद्धि आदि सभी आध्यात्मिक सत्तायें हैं। योगी का लक्ष्य एक आत्मा को समस्त प्रकार के शरीर में देखना और समस्त प्रापंचिक सत्ताओं के मौलिक आध्यात्मिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना है। यही पिण्ड, प्रापंचिक सत्ता तथा ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का मौलिक ज्ञान है। ज्यों-ज्यों योग विज्ञानी अपनी आन्तरिक शक्तियों को उत्तरोत्तर उन्नत करने वाले चक्रों, आधारों आदि को कुण्डलिनी-जागरण, नादानुसन्धान तथा प्राणसाधना और मन के उन्मनीकरण द्वारा सक्रिय अथवा उर्ध्वमुख करता है, त्यों-त्यों उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका व्यष्टिपिण्ड (शरीर) शुद्ध आध्यात्मिक चेतना के प्रवाह में स्थूलता और भौतिकता से ऊपर उठकर अधिक तेजस्वी रूप में आध्यात्मिक स्वरूप में प्रतिष्ठित होता जा रहा है। जब व्यावहारिक चेतना यथेष्ट शुद्ध और आलोकित हो जाती है, तब पूर्ण का प्रत्येक अंश में पूर्ण रूप में अनुभव किया जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-व्यवस्था प्रत्येक पिण्ड में अनुभवगम्य हो जाती है और समस्त व्यष्टि-पिण्डों की मौलिक एकता स्वतः अभिव्यक्त हो उठती है। योगी की दृष्टि वस्तुओं के धरातल का ही स्पर्श कर नहीं लौटती, वह तो समस्त वस्तुओं की आत्मा में, चिन्मय सत्ता में प्रवेश करती है। उसके लिये ब्रह्माण्ड में स्थित सूर्य, चन्द्र, लोक-लोकान्तर, द्वीप, सागर, नक्षत्र आदि व्यष्टि-पिण्ड में आध्यात्मिक धरातल पर सच्चिदानन्दस्वरूप में आभासित होते हैं। पांचभौतिक व्यष्टिशरीर में ही व्यावहारिक रूप से अनन्त शाश्वत ब्रह्माण्ड—व्यवस्था के दर्शन किये जा सकते हैं। योगदृष्टि की प्राप्ति होनेपर योगी स्वयं को विराट् पुरुष के रूप में अनुभव करने लग जाता है। योगी विभिन्न स्वरूप में अभिव्यक्त परमात्मा को और समस्त लोकों को अपने भीतर प्रत्यक्ष देखता है और ब्रह्माण्डदर्शन का आनन्दोपभोग करता है। वह जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, वर्ण आदि से ऊपर उठकर अपने व्यष्टिपिण्ड में सभी को एकात्मभूत समझता है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में गोरखनाथजी ने स्वयं अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहा है कि इस शरीर में जो सुख है, वही स्वर्ग है और जो दुःख है, वही

नरक है। सकाम कर्म ही बन्धन का कारण है। संकल्परहितता और निर्विकल्पता ही मुक्ति है। यद्यपि अज्ञानी इस निर्विकल्पता को निद्रारूप मानते हैं, तथापि वह अखण्ड आत्मबोधरूप स्थिति है, इस बोध-स्थिति में जागते रहना ही जीवन्मुक्ति है। योगी इस जीवन्मुक्ति में निरन्तर रमण कर समष्टि-पिण्ड—ब्रह्माण्ड और व्यष्टिपिण्ड—शरीर में तात्विक एकात्मकता का रसास्वादन करता है।

यत्सुखं तत्स्वर्गं, यद्दुःखं तन्नरकं, यत्कर्मतद्बन्धनं, यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः, स्वरूपदशायां निद्रादौ स्वातन्जागरः शान्तिर्भवति। एवं सर्वदेहेषु विश्वरूपपरमेश्वरः परमात्माऽखण्डस्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपो तिष्ठति।। एवं पिण्डसंविच्चिर्भवति।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३। १३)

असीम, अखण्ड, निरंजन परमेश्वर प्रत्येक शरीर में विद्यमान है, यही परम सद्विवेक अथवा महायोगज्ञान है। हमारे नाथयोग में जीवात्मा का शिव और शक्ति के साथ योगज्ञानपूर्वक अभेद होना ही समरसरूप मोक्ष कहा जाता है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में परमात्मा की निजाशक्ति की महिमा का विलक्षण विवेचन हमारे महायोगी गुरुगोरखनाथ ने किया है। यह परमेश्वर की स्वकीया शक्ति है। यह तत्वतः परमकैवल्यस्वरूपिणी महामाया है, मोक्षदायिनी परमेश्वरी है। सिद्धसिद्धान्त के अन्तर्गत शिव को शक्ति की आत्मा कहा जा सकता है और शक्ति शिव का अभिव्यक्ति-माध्यम है। शिव के पारमार्थिक स्वरूप में निहित शक्ति एक अनन्त और शाश्वत रूप में सक्रिय ऊर्जा है। शिव शक्ति की आत्मा है तो शक्ति शिव का शरीर है। शरीर का तात्पर्य आकार से है। शिव शक्ति का पारमार्थिक रूप है तो शक्ति शिव का प्रापंचिक स्तर है। शिव से भिन्न और स्वतंत्र शक्ति का अस्तित्व ही नहीं है।

महायोगी गोरखनाथजी ने अपनी 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' रचना में कुण्डलिनी के जागरण और महत्ता पर मौलिक प्रकाश डाला है। शरीर में कुण्डलिनी अप्रबुद्ध और प्रबुद्ध रूप में विद्यमान है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी जबतक योगसाधना के द्वारा प्रबुद्ध नहीं की जाती, तबतक देहासक्त संसार के विषयभोगों में आबद्ध लोगों के लिये यह शोक, मोह, चिन्ता व्यापार आदि के द्वारा बन्धन-कारिणी है। जबतक यह मूलाधार में प्रसुप्त है, अधोमुखी है, तबतक प्राणियों को जन्म, मरण के फल से प्रभावित करती रहती है। प्रबुद्ध कुण्डलिनी जब समुत्थित होकर सहस्रार का भेदन कर परमशिव में अन्तर्लीन हो जाती है, तब वह योग-

सिद्ध पुरुष के जन्म-मरण दुःखरूप फलों को देनेवाले कर्म (के प्रभाव) और मन के विकारों को नष्ट करने में समर्थ होती है। समस्त जागतिक बन्धनों—अविद्या-अन्धकार के परिणामों और विपाकों का प्रबुद्ध कुण्डलिनी के ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने पर अन्त हो जाता है। योगी पूर्णकाम और शिवपद में स्वस्थ हो जाता है, वह परमपद में अलख निरंजन की ज्योति से महिमान्वित हो उठता है। गोरखनाथ ने कहा है :—

सा विमर्शरूपिणी योगिनः स्वस्वरूपमवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा ।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४ । १५)

यह कुण्डलिनी समस्त कार्यों के ऊपर विद्यमान है, यह विमर्शरूपविद्या है, यह प्रबुद्ध होने पर योगियों को आत्मा के स्वरूप का व्यापक ज्ञान करा देती है। योगी की दृष्टि में यहीं आत्मदर्शन है। यद्यपि कुण्डलिनी एक है पर स्थान और स्थूल-सूक्ष्मभेद से अधः, मध्य और ऊर्ध्व कही गयी है। गोरखनाथजी ने कुण्डलिनी-जागरण के द्वारा परमपद की प्राप्ति का संकेत किया है :—

मध्यशक्तिप्रबोधेन अधः शक्तिनिकुञ्चनात् ।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४ । १६)

हमारे नाथयोग में शक्ति के अभ्युत्थान से परमपद में योगसाधक का प्रतिष्ठित होना ही उसकी महती योगसिद्धि है। जिस महामाया-मूलशक्ति अथवा मूलमाया के बल पर परमेश्वर जगत् की रचना करता है, वह मूलाधार में स्थित है, उस शक्ति को जगाकर उसके ध्यान से जब योगी सम्पूर्ण चैतन्यस्वरूप में आत्माभिव्यक्त हो उठता है, तब वह सृजन और संहार में परमेश्वर की ही तरह समर्थ हो जाता है। उसकी सम्पूर्ण सत्ता, अहंता, क्रियाशक्ति, सच्चिदानन्दपरमेश्वर की महाशक्ति में अन्तर्लीन हो उठती है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी समस्त प्राणिमात्र का जीवनाधार है, यह प्रत्येक जीवात्मा के शरीर में व्यापक और अतिसूक्ष्म है। यह अपने स्थूल रूप में स्थूल सृष्टि की रचनात्मिका शक्ति है, इसलिये इसे सृष्टि-कुण्डलिनी कहा जाता है। मध्यमा कुण्डलिनी चिद्रूपिणी है। यही जीव का वास्तविक स्वरूप है। यह शक्ति चंचल मन और इन्द्रियों के विषय-भोगों के रस में रमण करने वाले जीवात्मा को अपने निर्मल, शुद्धस्वरूप में—आत्मचैतन्य-प्रकाश में स्थापित कर देती है।

यह जीवात्मा पूर्वजन्मकृत सत्कर्म के फल से इस जन्म में सद्गुरु की कृपा से जब मध्यमा कुण्डलिनी को जगा लेता है, तब वह योगसिद्धि के द्वारा सहजानन्द स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यह निराकार चैतन्यस्वरूपिणी सूक्ष्म महाशक्ति है।

योगिनां परमानन्दतया कुण्डलिनी या निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४।२२)

मध्यमा–कुण्डलिनी के प्रबोधन के उपरान्त जो शक्ति ब्रह्म के अखण्ड-स्वरूप, सच्चिदानन्द का साक्षात्कार कराने में तत्पर होती है, वह ऊर्ध्वशक्ति कही जाती है। शिव और शक्ति की अभेदता ही परमपद की प्राप्ति में ऊर्ध्वशक्तिनिपात का हेतु है।

गोरखनाथजी ने स्वसंवेद्य, अनुभवैकगम्य निरंजनतत्व का पिण्डपद सामरस्यपरकयोगविज्ञान के स्तर पर निर्वचन किया। यह महत्तत्व स्वतःसिद्ध स्वरूप चैतन्यप्रकाश से ही वेद्य है। इस स्वचेतनप्रकाश के माध्यम से ही ब्रह्माण्ड में स्थित सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि ज्योतिःस्वरूप पदार्थ प्रत्याभासित होते हैं। गोरखनाथजी ने कहा है :

परमपदमिति स्वसंवेद्यमत्यन्तभासाभासकमयम्।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५।२)

यही योगसम्मत परमधाम है, जिसका निर्वचन साधनसापेक्ष हो ही नहीं सकता। निर्विकल्प समाधि के द्वारा ही सहज शून्य में ॐकारपदातीत परमपद की स्वाभिव्यक्ति सहज सिद्ध है। योगसिद्ध महापुरुष गुरु की कृपाकटाक्ष-ज्योति से श्रद्धानिष्ठ योगाभ्यासी को स्वसंवेद्य परमपद का अनुभव होता है तो हो जाता है। गुरु के कृपाकटाक्ष के सम्बल द्वारा मन, इन्द्रियों आदि के संयमपूर्वक अपने पिण्ड का परपिंड के साथ सामरस्य स्थापित कर सच्चिदानन्द परब्रह्म का योगी रसास्वादन करता है।

"तस्माद् गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया च महासिद्धयोगिभिः स्वकीयं पिण्डं निरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्तः।"

(सिद्धसिद्धान्त पद्धति ५।७)

स्वपरपिण्डादि अभेद रूप परमपद की प्राप्ति का उपाय ही सिद्धमत में निरुत्थान कहा जाता है। योगी के लिये यह आवश्यक है कि यदि वह कैवल्यपद का अनुभव पाना चाहता है तो अवधूत गुरु की कृपा प्राप्त करे। 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' में गोरखनाथजी ने शिव के वचन को उद्धृत कर योगमार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।

योगमार्गात्परो मार्गो नास्तिनास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा॥
(सिद्ध सि० प० ५। २२)

जड़–पदार्थों का योग नहीं होता है, जड़ और चेतन का संयोग होता है, जीवात्मा द्वारा परमात्मा में अभिन्नता की अनुभूति ही योग है। यही श्रेयस्कर योगमार्ग है। महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि परमात्मा से अभिन्न जीवात्मा का शाश्वत चैतन्यस्वरूप योगमार्गपरक सहज, संयम, सोपाय और अद्वैतक्रम से ही लक्षित होता है। जीवात्मा द्वारा परमात्मस्वरूप की स्वानुभूति ही सहज ज्ञान है। इन्द्रियों और मन को अपने विषयों से प्रत्याहारित कर आत्मा में प्रवृत्त करना ही संयम है। अपने स्वप्रकाश आत्मा को सर्वत्र व्यापक और अभेद जानकर उसी में स्वस्थ रहना ही स्थिति है, इस स्थिति का जिस ज्ञान द्वारा अनुभव होता है, वही सोपाय ज्ञान है। परमतत्व की अपरोक्षानुभूति ही अद्वैतक्रमलक्षित परमपद है। गोरखनाथजी का उपदेशामृत है कि साधना की सिद्धि के लिये योगी को अपने गुरु के उपदिष्ट योगज्ञान में पूर्णश्रद्धावान् होकर अपने व्यष्टिपिण्ड में समस्त ब्रह्माण्डनायक अलखनिरंजन की पूर्ण अनुभूति कर परपिण्ड से समरसीकरणपूर्वक अज्ञान-अन्धकार का उच्छेदकर परमपद में स्थित हो जाना नितान्त समीचीन और कल्याणकारी है। परमपद-प्राप्ति की दिशा में गुरु का अनुग्रह ही प्रमुख साधन है, इस अनुग्रह के तीन क्रम हैं—शक्तिपात, करुणावलोकन और उपदेश। उपदेशसम्बन्धी अनुग्रह का तात्पर्य यह है कि गुरु आत्मज्ञान के प्रकाश में पांच-भौतिक जड़ पदार्थों के मिथ्यात्व का निर्देशन कर अपने शिष्य को सत्स्वरूप में स्वस्थ रहने का सदुपदेश प्रदान करता है। शिष्य में विशेष श्रद्धा और साधना के प्रति सत्कार-बुद्धि देखकर गुरु अपनी योगशक्ति से उसे कृतार्थ कर सत्स्वरूप में स्थित कर देता है। यही शक्तिपात है। करुणावलोकन भी एक प्रकार का शक्तिपात है।

कथनाच्छक्तिपाताद्वायद्वापादावलोकनात्।
प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्॥
(सि० सि० प० ५। ६५)

हमारे सिद्धामृतमार्ग में इसी सिद्धान्त का पोषण है कि जो मन्त्रोपदेश या करुणावलोकन मात्र से शिष्य को परम विश्राम में अधिष्ठित कर देता है, वही सद्‌गुरु है। गोरखनाथजी की शिक्षा है :—

अतएव परमपदप्राप्त्यर्थं सद्‌गुरुः सदावन्दनीयः।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५ । ७०)

यह निर्विवाद है कि गुरु के कृपापात्र शिष्य की सम्पूर्ण मानसिक वृत्तियों का आत्मस्वरूप में लय हो जाने पर उसे स्वतः जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य का रसानुभव सुलभ हो जाता है। सांसारिक बाह्य विषयों में आसक्त बुद्धि में शान्ति और मुक्ति की अमृतमन्दाकिनी की अजस्र धारा प्रवाहित हो उठती है। पिण्डपद-सामरस्य का आनन्द प्राप्त हो जाता है।

गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में अवधूत योगी के लक्षण का निरूपण कर संन्यास की वास्तविक गरिमा प्रकाशित की है। उनकी योगदृष्टि में अवधूत योगी वह है, जो सामरस्य के आदर्श को पूर्णतया सिद्ध कर लेता है और स्वसंवेद्य परमतत्व का रसास्वादन करता रहता है। अवधूत योगी अहंकार, अज्ञान, संकीर्ण दृष्टिकोण तथा समस्त इच्छाओं, वासनाओं, चिन्ताओं, दुःखों और द्वन्द्वों तथा बन्धनों से मुक्त होकर आत्मस्वरूप में निरन्तर प्रवृत्त रहता है। वह उन्मनी समाधि की अवस्था में परमपद का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता है, निरपेक्ष अनुभूति के प्रकाश से अपनी चेतना के बौद्धिक, मानसिक और प्राणीय स्तरों को भी प्रकाशित कर देता है। सांसारिक जीवन और लोकव्यवहार के सामान्य कार्यों को करते हुए भी उसकी समाधि-अवस्था निर्विकार और सहज बनी रहती है। ऐसा अवधूत योगी वास्तव में नाथ कहा जाता है। वह स्वामी होता है, सद्‌गुरु होता है। गोरखनाथजी साक्षात् शिव अवधूत थे, उनका योगदर्शन वास्तव में पूर्ण आत्मज्ञान के आलोक से सम्पन्न मनःस्थिति में स्वयं उनके तथा अन्य सिद्ध महा-योगियों के द्वारा अनुभूत सत्य के प्रकाश में निम्नस्तरीय सामान्य मानवीय अनुभूतियों तथा चेतना के सामान्य ऐन्द्रिक स्तर एवं पूर्ण ज्ञानालोकित स्तर के मध्यवर्ती असामान्य स्तर की रहस्यमयी अनुभूतियों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। गोरखनाथजी की दृष्टि में अवधूत योगी वह है, जो अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष, अभिनिवेश, पंच क्लेशों के पाश—बन्धन से तथा बाल्य; यौवन और जरा, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के प्रपंच से मुक्त होकर मन को उन्मन कर अलख निरंजन में रम जाता है। गोरखनाथजी के वचन हैं :—

अवधूततनुर्योगी निराकारपदे स्थितः ।
सर्वेषां दर्शनानाञ्चस्वस्वरूपं प्रकाशते ।।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ३३)

गोरखनाथजी ने सहज सिद्धमत का ही आश्रय ग्रहण करने का उपदेश दिया है ।

तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ७५)

जब योग की साधना में शुद्ध स्वरूपानन्द का बोध हो जाता है, तब अविद्यारूप भ्रान्ति और सुख-दुःखादि द्वन्द्वात्मक प्रपंचों की स्वतः सहज निवृत्ति हो जाती है । योगी निरतिशयानन्द की प्राप्ति करता है ।

नाथयोगियों में व्यवहृत 'आदेश' शब्द का गोरखनाथजी ने बड़ा उपयुक्त आशय व्यक्त किया है । आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा की अभेदता ही सत्य है, इस सत्य का अनुभव या दर्शन हमारे सिद्धामृत मार्ग में 'आदेश' कहलाता है । व्यावहारिक चेतना की आध्यात्मिक प्रबुद्धता जीवात्मा और आत्मा तथा परमात्मा की अभिन्नता के साक्षात्कार में निहित है । इन तथ्यों का ध्यान रखते हुए जब योगी एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं अथवा गुरुपद में प्रणत होते हैं तो 'आदेश-आदेश' का उच्चारण कर ज़ीवात्मा, विश्वात्मा और परमात्मा के तादात्म्य का स्मरण कराते हैं ।

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे ।
त्रयाणामैक्यसंभूतिरादेश इति कीर्तितः ।।
आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयापहाम् ।
यो यागिनं प्रतिवदेत् सयात्यात्मानमैश्वरम् ।।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ९४-९५)

'आदेश' के उच्चारण मात्र से ही समस्त दुःखों का नाश हो जाता है । 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' परमेश्वरसम्बन्धी सिद्धयोगशास्त्र है, यह महादिव्य, अलौकिक सिद्धसिद्धान्त का योगदर्शन है । इसके पाठ से समस्त सन्देहों का नाश हो जाता है और सिद्धामृतमार्गसम्मत योगसाधन-प्रक्रिया का रहस्य स्वतः प्रकाशित हो उठता है । गोरखनाथजी ने कहा है :—

एतच्छास्त्रं महादिव्य रहस्यं पारमेश्वरम् ।
सिद्धान्तं सर्वसारम्य नानासंकेतनिर्णयम् ॥
सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
आत्मानन्दकरं नित्यं सर्वसन्देहनाशनम् ॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६ । ९७-९८)

यद्यपि सिद्धसिद्धान्तपद्धति में योग के दार्शनिक पक्ष का प्रतिपादन ही विशेष रूप से परिलक्षित है तथापि साधनासम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रक्रियात्मक रहस्यों के अनुभवपूर्ण विवेचन से भी यह सर्वथा सम्पन्न है। यह हमारे नाथयोग का अद्भूत वाङमय है। हमारे मन में कई वर्षों पहले यह संकल्प उदित हुआ था कि इसका शुद्ध संस्कृतपाठसहित हिन्दी में सहज सुबोध भाष्य की प्रस्तुतिपूर्वक प्रकाशन हो। हमारी इच्छा थी कि हमारे गोरक्षसिद्धयोगपीठ से इस तरह का लोकप्रिय संस्करण नाथयोग के सत्सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में सहायक हो। श्रीगोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर से प्रकाशित होने वाले "योगवाणी" मासिक के सम्पादक रामलालजी श्रीवास्तव ने हिन्दी में सहज-सुबोध भाष्य प्रस्तुत कर 'सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति' की यौगिक गरिमा ही नहीं बढ़ायी, हमारी इच्छा और पवित्र संकल्प की पूर्ति में भी अपनी महनीय भूमिका निवाही है। उनके अनुभवपूर्ण मार्मिक भाष्य से 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' को समझने में योगसाधकों को बड़ी सुगमता होगी। हम इस कार्य के लिये उन्हें हृदय से आशीर्वाद प्रदान करते हैं। शिवगोरक्ष भगवान् गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के रूप में अद्भुत योगशास्त्र प्रदान किया और इसका सूक्ष्म रहस्य उनके चरणाश्रय से ही समझ में आ सकता है। हम उन्हीं के मांगलिक वचन (सि० सि० प० ६ । ११५) के प्रकाशन में बड़े आत्मविश्वास से यह कहने का साहस करते हैं कि योगसाधकों—भक्तों पर अनुग्रह-स्वरूप परमानन्ददायक गणपतिनाम का तेज सिद्धसिद्धान्त के प्रकाश से प्राणीमात्र की चेतना को आलोकित करे।

विद्धात्वर्थनिचयं भक्तानुग्रहमूर्तिमत् ।
स्मरानन्दभरं चेतो गणपत्यभिधं महः ।

卐

नाथसिद्ध-परम्परा

शास्त्रार्थ महारथी माधवाचार्य

श्रीमन्नारायणो हि निजप्रकृतियुतः शङ्करश्चादिनाथः
तच्छिष्या शाम्भवी सा हिमगिरितनया योगिनी सुष्मणाख्या ।
शिष्यो मत्स्येन्द्रनाथः प्रथमगुरुरभूद् अस्य योगागमस्य
'ह' श्चन्द्रः 'ठ' श्चसूर्यस्तदुभयनियतं नाम चक्रे हठाख्यम् ।।

श्रीमन्नारायण भगवान् ही निजप्रकृति के गुण विशेष से संयुक्त होकर शिव आख्या धारण करते हुए श्रीआदिनाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनकी प्रथम दीक्षित शिष्या पर्वतराज हिमाचल की पुत्री शाम्भवी मुद्रा नाम से प्रसिद्ध साक्षात् सुष्मणा ही योगिनी कही जाती है। श्रीभगवान् आदिनाथ के प्रथम शिष्य योगी मत्स्येन्द्रनाथजी इस (तान्त्रिक—) योगसाधनामार्ग के मुख्य आचार्य माने जाते हैं, जिन्होंने चन्द्र बीज हकार और सूर्यबीज ठकार, उक्त दो अक्षरों से उपलक्षित (इडा-पिंगला-रहस्यमय) अपने योगमार्ग को 'हठयोग' नाम से प्रख्यात किया।

श्रीमन्मत्स्येन्द्रनाथादधिगतदहराकाशनिःश्वासवासो
योगी गोरक्षनाथो निखिलमुनिमनोवेद्यनिष्ठप्रतिष्ठः ।
शास्त्रं पातञ्जलीयं प्रचलितनृगिरा येन क्लृप्तं सुगम्यम्
वन्दे सिद्धं प्रसिद्धं जगति गुरुवरं तं चमत्कारमूर्तिम् ।।

श्रीमत्स्येन्द्रनाथ गुरु से अपने निश्वास-प्रश्वासों को हृदयचक्रवर्ती दहराकाश में स्थिर करने की विद्या को प्राप्त करके उनके प्रसिद्ध शिष्य योगी श्रीगोरखनाथ जी समस्त पूर्वाचार्यों के अभिमत योगज्ञान के प्रतिष्ठित विशेषज्ञ हुए, जिन्होंने पातञ्जल योगशास्त्र के दुरूह मार्ग को तत्काल प्रचलित भारतीय जनभाषा के माध्यम से सरल और सुगम रूप में रच कर 'गोरखबानी' नाम प्रख्यात किया।

चमत्कारो लोके भवति हि नमस्कारजनकः
इति प्राचां वाचां विदधुरमरां नाथगुरवः ।

अहो गोपीचन्द्रो नृपतिरपि मैना च जननी
तथानेके भूपाश्चरणशरणं प्रापुरपरे ।।

चमत्कार को संसार नमस्कार करता है। यह जो पुराने लोगों की कहावत चली आती थी, इसको नाथ-सम्प्रदाय के सिद्ध योगियों ने अमर बनाकर छोड़ा। आश्चर्य है कि गौड़ बंगाल देश के महाराज गोपीचन्द्र तथा उनकी माता मैनावती भी अपना राजपाट छोड़कर दोनों श्रीगोरखनाथजी के शिष्य बन गये। इसी प्रकार अन्य भी अनेक राजा-महाराजा इस सम्प्रदाय में दीक्षित हुए।

राजा विलोक्य कुलटां निजधर्मपत्नीं
भृत्यप्रसक्तहृदयामतिखिन्नचित्तः ।
विद्वान् स भर्तृहरि ऋद्धमपास्य राज्यं
गोरक्षनाथचरणाश्रयतां जगाम ।।

[कथा प्रसिद्ध है कि एक महात्मा को अमर फल मिला था। उसने सुयोग्य प्रजापालक भर्तृहरि को प्रदान कर दिया। राजा अपनी धर्मपत्नी में अति प्रेम रखते थे। अतः राजा ने उसे रानी को दे दिया। रानी दुष्टा थी। उसने वह फल अपने प्रियतम कोतवाल को दे दिया। वह कोतवाल भी रानी से अधिक एक वेश्या से प्यार करता था। उसने वह फल वेश्या को अर्पित कर दिया। वेश्या बहुत समझदार थी। उसने यह विचार कर कि मुझ पापिन के अमर हो जाने से क्या लाभ होगा? इस राज्य का बहुत ही धर्मात्मा शासक राजा है; वे इस फल को खाकर अमर हो जायेंगे तो प्रजा का बड़ा उपकार होगा। इस तरह वह फल पुनः महाराजा भर्तृहरि के हाथ में आ गया। रहस्य प्रकट हो गया।] राजा ने अपनी धर्मपत्नी की जब यह दुष्टता जानी कि वह एक क्षुद्र राजसेवक पर आसक्त है, तो वे बहुत खिन्न हुए। व्याकरण और साहित्य के विद्वान् उन राजा ने अपने समृद्ध राज्य का परित्याग कर दिया। उन्होंने गोरखनाथजी से दीक्षा लेकर अपने जन्म को सार्थक किया।

पत्न्या प्रतारितमतिर्नृपशालिवाहः
पुत्रं पवित्रचरितं ह्यपि पूर्णभक्तम् ।
छित्वा तदीयचरणौ सकरौ च कूपे
तं पातयां कुपित आस कुदैवशप्तः ।।

[कथा प्रसिद्ध है कि पंजाब देश के स्याल कोट नामक नगर के राजा शालिवाहन की दो पत्नियाँ थीं। बड़ी रानी से उत्पन्न हुआ राजा का मात्र

पुत्र पूर्णचन्द्र बड़ा ही सुन्दर और सच्चरित्र था । एक बार लूना—छोटी रानी अपने पुत्र पूर्ण पर आसक्त होकर उसे बलात् कुकर्म में प्रवृत्त करने के लिये वाध्य करने लगी । धर्मात्मा पूर्ण ने उसकी एक नहीं मानी । तब रानी क्रुद्ध होकर पूर्ण को समाप्त करने को उद्यत हो गई । तिरिया—चरित्र रचकर वस्त्र फाड़ डाले । जहाँ—तहाँ अपने शरीर को भी स्वयं नोच डाला और कोप—भवन में प्रविष्ट हो गयी । राजा के पूछने पर उस दुष्टा ने (राजा को) बहका दिया कि पूर्ण मुझसे बलात्कार करना चाहता था । मैंने बड़ी कठिनता से शील की रक्षा की । राजा स्त्रैण था, बिना ही पूछताछ के रानी की बात मान ली ।] इस प्रकार रानी द्वारा प्रतारित दुर्भागी राजा शालिवाहन ने सर्वथा पवित्र चरित्र वाले अपने पुत्र पूर्ण भक्त (चौरंगीनाथ) के हाथ-पैर कटवाकर कुँए में फेंकवा दिया ।

दैवात्तदानीं बहुसिद्धयुक्तो गोरक्षनाथो वनमाजगाम ।
कूपान्मृतप्रायमिमं दयार्द्र उद्धृत्य संजीवयति स्म सांगम् ।।

सौभाग्यवश इसी समय अनेक सिद्धों समेत गोरखनाथजी इसी वन में आ पहुँचे । कुँए में पड़े इस मृतप्राय तरुण को दयार्द्र होकर उन्होंने बाहर निकाला तथा अपने योगप्रभाव से इसे सर्वांगपूर्ण जीवित कर दिया ।

ज्ञानेश्वरस्य चरितं भुवने प्रसिद्धं यत्प्रेरितो महिष एव पपाठ वेदम् ।
अन्यानि सन्ति सुबहूनि च कौतुकानि दिङ्मात्रमेवकिल दर्शितमत्र लेखे ।।

श्रीगोरखनाथजी की परम्परा के श्रीज्ञानेश्वरजी ने अपनी योग-शक्ति से एक भैंसे से ही वेदमंत्र का पाठ करवाया । इसी प्रकार योगियों के अनेक चमत्कार प्रसिद्ध हैं । मैंने तो इस लेख में संकेत मात्र ही प्रदर्शित किया है ।

आत्मज्योति

पवमानो अजीजनद् दिवश्चित्रं न तन्यतुम् ।
ज्योतिर्वैश्वानरं बृहत् ।

जिस तरह प्रवाहित वायु आकाश में व्यापक, संचित होने योग्य, विशाल ज्योतिर्मय विद्युत् अग्नि को संघर्ष द्वारा प्रकट करती है, उसी प्रकार अन्तःकरण और बुद्धितत्व को विमल करनेवाला योगी (साधक) सूर्य के समान द्युलोक, मूर्धा के विचित्र, आदरयोग्य सब नरों में व्यापक, विशाल, आत्मरूप प्रकाश को प्रकट करता है ।

(ऋग्वेद ९ । ६३ । २२)

योगसाधना, कुण्डलिनीजागरण और सिद्धि

संतयोगी ज्ञानेश्वर

संसार में योगी और संन्यासी एक ही हैं। 'जो संन्यासी है, वही योगी है'—इस एकवाक्यता की पताका अनेक शास्त्रों ने फहरायी है। उन्होंने अनुभव की तुलापर यह सत्य निश्चित किया है कि त्याग किये हुए संकल्प का लोप होता है, वही योगसाररूपी ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। यदि योगरूपी पर्वत के शिखरपर पहुँचना है तो कर्ममार्गरूपी सोपान नहीं छोड़ना चाहिये। इस मार्ग के द्वारा यमनियमरूपी आधार-भूमि पर आसनरूपी पगडंडी पकड़ कर प्राणायाम के कगार से ऊपर चढ़ना चाहिये, प्रत्याहाररूपी मध्य भाग पर बुद्धि के भी पैर फिसलते हैं, जिसका आक्रमण होते समय हठयोगी भी गिरने के भय से अपनी प्रतिज्ञाओं का परित्याग कर देते हैं। अभ्यास के बल से प्रत्याहार के निरालम्ब प्रकाश में भी धीरे-धीरे वैराग्य का आश्रय प्राप्त हो जायेगा। वायुरूपी (प्राणायामरूप) घोड़े पर सवार होकर धारणा के मार्ग से चलते रहना चाहिये, जब तक ध्यान की सीमा के बाहर न हो जाय। ··· ··· ब्रह्मानन्द की एकता प्राप्त होने से साध्य और साधन एकात्म हो जायेंगे।

सबसे पहले एक स्थान ऐसा ढूंढना चाहिये, जहाँ समाधान की इच्छा से बैठते ही उठने की इच्छा न हो, जिसे देखते ही वैराग्य दूना बढ़ जाय, वहाँ अमृत के समान जड़ से मीठे फलों वाले वृक्ष हों, डग-डग पर पानी हो, जो सदा निर्मल रहे। धूप में तेजी न हो, शीतल पवन चलता हो। कहीं शब्द न होता हो, वन सघन हो। वहाँ कोई गुप्त मठ अथवा शिवालय हो। प्रायः एकान्त में ही बैठना चाहिये। वहाँ इस प्रकार आसन लगाना चाहिये कि ऊपर मृगचर्म हो, बीच में धुला और तह किया हुआ वस्त्र हो। नीचे कुश एक-में-एक मिले बिछाये जायँ। आसन सम होना चाहिये। योगी को एकाग्र अन्तःकरणसहित आसन पर बैठना चाहिये, जंघा को पिंडुली से मिलाकर पाँव के तलुए एक-पर-एक स्थिर कर गुदा स्थान के मूल में जोर से दबाना चाहिये, बायाँ पैर ऊपर ही रहना चाहिये ··· ··· सम्पूर्ण शरीर का भार एड़ी पर ही संतुलित रखना

चाहिये । यह मूलबन्ध है । दृष्टि स्थिर कर नासाग्र रख कर जालन्धर वन्ध लगाना चाहिये, इसमें ठोड़ी कंठ के नीचे के गड्डे में जम जाती है, हृदय पर दवाव डालती है । नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान चक्र में उड्डियान वन्ध लगाना चाहिये, नाभि ऊपर उठती है, पेट पीठ की ओर प्रविष्ट होता जाता है और हृदय कमल विकसित होता है । अपानवायु मूलबन्धके द्वारा अवरुद्ध होने पर पीछे लौटती है, मणिपूर नाभिकमल में गरजने लगती है, कोठों में संचार सारे शरीर में फैलता है और प्राणवायु के योग से जहाँ-का-तहाँ सूख जाता है ।

तपाये हुए मोम के साँचे का मोम निकल जाने पर जिस तरह वह उसमें डाले हुए रस का ही वना हुआ रह जाता है, उसी तरह शरीर-रूप से मानो कान्ति ही अवतार लेती है, ऊपर से त्वचारूपी ओढ़नी ओढ़ लेती है । जिस तरह सूर्य मेघरूपी घूंघट काढ़े रहता है और मेघ के निकल जानेपर तेजस्वी दीखता है, उसी तरह ऊपर से शरीर का त्वचारूपी पपड़ा भूसे की तरह झड़ जाता है, अवयव-कान्ति की शोभा ऐसी दीखती है, मानो वह स्फटिक की ही हो अथवा रत्नरूपी बीज में अंकुर निकले हों अथवा संध्या-काल के आकाश का रंग निकाल कर वह शरीर बनाया गया हो अथवा आत्मज्योति का लिंग स्वच्छ कर रखा गया हो अथवा वह शरीर कुंकुम से भरा हो, आत्मरस से ढला हो अथवा मैं समझता हूँ कि वह शान्ति का मूर्तिमान स्वरूप हो—कुण्डलिनी जब चन्द्रामृत पीती है, तब शरीर ऐसा हो जाता है । कृतान्त भी उस देहाकृति से भय करता है । बुढ़ापा पीछे हट जाता है, यौवन की गाँठ खुल जाती है, बालदशा (तरुणावस्था) प्रकट हो जाती है । उस शरीर में ऐसे नये और उत्तम नख निकलते हैं, मानों स्वर्णवृक्ष के पल्लवोंमें नित्य-नवीन रत्नों की कलियाँ निकली हों । दाँत नये हो जाते हैं मानों दोनों ओर हीरे की पंक्ति हों । हथेली और तलुवे रक्त कमल के समान हो जाते हैं । नेत्र अत्यन्त स्वच्छ हो जाते हैं । शरीर स्वर्ण का हो जाता है, पर वायु का लघुत्व (हलकापन) धारण करता है, क्योंकि उसमें पृथ्वी और जलका अंश नहीं रह जाता है ।

प्राण का हाथ पकड़कर, हृदयाकाश की सीढ़ी बनाकर सुषुम्ना नाड़ी के सहारे हृदय में पहुँचती हुई जगदम्बा कुण्डलिनी, जो चैतन्यरूप चक्रवर्ती की शोभा है, जिसने जगद्बीज ओंकार के अंकुररूप जीव पर छाया की है, जो निराकार ब्रह्म का साकार शरीर है, जो परमात्मा शिव का सम्पुट है, जो ओंकार की जन्म-

भूमि है, जब हृदय में प्रवेश करती है, तब वह अनाहत ध्वनि करने लगती है- जब तक पवनतत्व का नाश नहीं होता, तब तक आकाश में वाचा होती है, इसलिये वह गरजता है। जब अनाहतरूप मेघ के कारण आकाश गरजने लगता है, तब सहज ही ब्रह्मरन्ध्र की खिड़की खुल जाती है। वह मल को निकाल फेंकती है, दोष शान्त करती है, वह व्याधि प्रकट कर उसे नष्ट भी कर देती है। आसन की उष्णता कुण्डलिनी को जागरत करती है। जिस तरह किसी नागिन का सपोला कुंकुम में नहाया हो और गिण्डी मार कर सो रहा हो, उसी तरह यह छोटी-सी कुण्डलिनी साढ़े तीन गिण्डी मार कर नीचे की ओर मुख कर सोयी रहती है। विद्युत् के बने कंकण अथवा अग्नि की ज्वाला के मण्डल अथवा सोने के पासे की-सी उत्तम बँधी और कसी हुई कुण्डलिनी वज्रासन के दबाव से जाग जाती है। लगता है कोई नक्षत्र उलट पड़ा हो, सूर्य का आसन छूट गया हो अथवा चारों ओर तेज के बीज से अंकुर फूटे हों, इस तरह अँगड़ाई लेती उठी हुई नाभिस्थान पर यह दीख पड़ती है। जागने पर उसे बड़ी भूख लगती है, ठीक ऊपर की ओर मुँह फाड़ती है, हृदय कमल के नीचे का पवन चपेट लेती है। ऊपर-नीचे मुख को ज्वाला फैलाकर मांस को ग्रास बना लेती है, प्रत्येक अवयव की गाँठों को खोल देती है, अधो भाग भी नहीं छोड़ती है, नखों का सत्व निकाल लेती है, हड्डियों की नलियों का रस निकालती है, नसों के समूह को धो डालती है, त्वचा धोकर हड्डी के ढाँचे से जोड़ देती है, वह प्यासी कुण्डलिनी सप्त धातुओं के समुद्र का घूंट पी लेती है, जिससे शरीर का प्रत्येक भाग शुष्क हो जाता है, नासारन्ध्र से बारह अंगुल तक बाहर निकलने वाली वायु को पीछे हटाकर भीतर प्रवेश करती है, तब नीचे की वायु ऊपर चढ़ती है और ऊपर की वायु नीचे उतरती है। दोनों वायुओं का मेल होने पर केवल चक्र ही शेष रहते हैं। इस तरह कुण्डलिनी शरीर की पृथ्वीमय धातु खाकर जल का अंश भी पोंछ डालती है। दोनों महाभूतों को खाकर वह तृप्त होती है और सुषुम्ना नाड़ी में शान्त हो जाती है। तृप्ति के संतोष से वह जो विष मुख से उगलती है, प्राणवायु उस अमृत से जीवन धारण करती है। भीतर से वह विष अग्निरूप होकर निकलता है, परन्तु बाहर वह शीतल होता है, गले के अवयव दृढ़ होने लगते हैं, नाड़ियों के मार्ग बन्द हो जाते हैं और नवों प्रकार के वायु का चलना बन्द हो जाता है। इडा-पिंगला नाड़ियाँ एक में मिल जाती हैं, तीनों गाँठें छूट जाती हैं और चक्रों की छः कलियाँ खिल जाती हैं। चन्द्र और सूर्यनामक वायु का दीपक से खोजने पर भी पता नहीं चलता, ऊपर से चन्द्रामृत का सरोवर धीरे से कुण्डलिनी के मुख में गिरता है, इससे नली में

रस भर जाता है। जो कमलगर्भ के आकार के समान है, दूसरा महदाकाश है, जहाँ चैतन्य निवास करता है, उस हृदयरूपी भुवन में कुण्डलिनी अपना तेज छोड़ कर केवल प्राणरूप रहती है, मानो किसी पवन की पुतली ने अपनी ओढ़ी हुई सोने की साड़ी उतार कर अलग रख दी हो, हृदय-कमल में कुण्डलिनी ऐसी दीखती है, मानो सोने की शलाका हो। उस समय नाद, बिन्दु, कला, ज्योति नहीं रहते। मन को वश में करना, पवन का आश्रय करना या ध्यान का अभ्यास करना आदि बातें नहीं रह जाती हैं। पिण्ड-से-पिण्ड का ग्रास—अभिप्राय का ही महाविष्णु ने (भगवद्गीता में इस तरह) वर्णन किया है।

शक्ति के तेज का लोप हो जाने पर देह का रूप मिट जाता है, योगी इतना सूक्ष्म हो जाता है कि आँख में छिप सकता है। ऐसे तो वह पहले के ही समान अवयवसम्पन्न रहता है, पर ऐसा दीखता है, मानों वायु का ही बना है। जब उसका शरीर इस प्रकार हो जाता है, तब उसे खेचर कहते हैं। ऐसा योगी कहीं भी निकल जाय तो उसके पैरों की जो रेखा बन जाती है, वहाँ जगह-जगह अणिमादि सिद्धियाँ उपस्थित होती हैं, हृदय में पृथ्वी तत्व को जल गला देता है, जल को तेज सुखा देता है, तेज को वायुतत्व बुझा देता है, इसके अनन्तर केवल वायुतत्व ही रह जाता है पर शरीर का आधार लिये रहता है। कुछ समय के बाद वह भी आकाश में जा मिलता है, उस समय उसे कुण्डलिनी नाम के बदले वायु नाम प्राप्त होता है। जब तक कुण्डलिनी ब्रह्म में नहीं जा मिलती, तब तक उसकी शक्ति बनी रहती है। वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर गगनरूपी पहाड़ी पर जा पहुँचती है, ओंकार की पीठ पर पैर रखते हुए शीघ्रता से पश्यन्तीरूप सीढ़ी पर चढ़कर ओंकार की अर्धमात्रा तक आकाश तत्व के हृदय में जा मिलती है, फिर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित रहकर सोऽहं बाँह फैलाकर परब्रह्म से मिल जाती है। उस समय बीच के महा-भूतों का परदा फट जाता है। उस ब्रह्मानन्द में गगनसमेत सब कुछ विलीन हो जाता है। पिण्ड के मिस से मानो ब्रह्म ही ब्रह्मपद में उसी तरह प्रवेश करता है, जिस तरह समुद्र मेघों के मुख से निकल कर नदी में बहकर फिर अपने-आप में ही मिल जाता है। यह विवेचना करने के लिये भी कोई नहीं बचता कि दूसरा कोई था या पहले से एक ही वस्तु है। **गगन में गगन के लीन होने का जिसे अनुभव होता है, वही पुरुष सिद्ध है।**

[ज्ञानेश्वरी ६ । १-१५]

सिद्ध के लक्षण

संत समर्थ रामदास

जिसे किसी भी तरह का सन्देह न हो, वही सिद्ध (साधु) है। संशय-रहित ज्ञान ही सिद्ध का लक्षण है, सिद्ध को कभी संशय हो ही नहीं सकता। कर्म-मार्ग और साधन, सभी में संशय भरा है। संशय होने पर व्रत, तीर्थ, परमार्थ, भक्ति, प्रीति और संगीत, सभी व्यर्थ हैं, इनसे संशय ही बढ़ता है, संशय होने पर पुस्तक-ज्ञान और विद्वता भी व्यर्थ है। संशय होने पर कभी मोक्ष नहीं हो सकता। संशय होने पर श्रेष्ठता और व्युत्पन्नता भी व्यर्थ हैं। जब तक निश्चय न हो, तब तक कोई बात अणुमात्र भी प्रामाणिक नहीं हो सकती। संदेह रहित ज्ञान और निश्चयसम्बन्धी समाधान ही सिद्धों के लक्षण हैं। जिसने समस्त चर और अचर का निर्माण किया है, उसी का विचार करना चाहिये और शुद्ध विवेक के द्वारा परमेश्वर को पहचानना चाहिये। संग का परित्याग करते हुए वस्तुरूप या ब्रह्मस्वरूप होकर रहना चाहिये। बन्धन का संशय तोड़ डालना चाहिये, मोक्ष का निश्चय करना चाहिये और पंचभूतों का व्यतिरेक या विश्लेषण करके यह देखना चाहिये कि उनकी रचना किस तरह हुई। इस तरह सिद्धान्त के साथ तुलना कर प्रकृति का मूल या तत्व देखना चाहिये। इसके बाद बड़ी शान्ति से परमात्मसम्बन्धी निश्चय प्राप्त करना चाहिये। जब देहाभिमान के साथ संशय मिल जाता है, तब सत्यसम्बन्धी समाधान या निश्चय का नाश हो जाता है। इसीलिये आत्मबुद्धि का निश्चय दृढ़ रखना चाहिये। आत्मज्ञान की सिद्धि हो जाने पर भी देहाभिमान से सन्देह बढ़ता है। आत्मबुद्धि का निश्चय हो जाना ही मोक्ष की दशा को प्राप्त होना है। कभी यह नहीं भूलना चाहिये कि मैं आत्मा हूँ। सिद्ध का कोई शारीरिक रूप होता नहीं, इसलिये उसमें संशय किस तरह आ सकता है। सिद्ध तो निर्मल वस्तु या निर्गुण ब्रह्म के समान होता है। लक्षण का अर्थ तो गुण है। निर्गुण ब्रह्म के समान होना ही सिद्ध का लक्षण है।

[दासबोध]
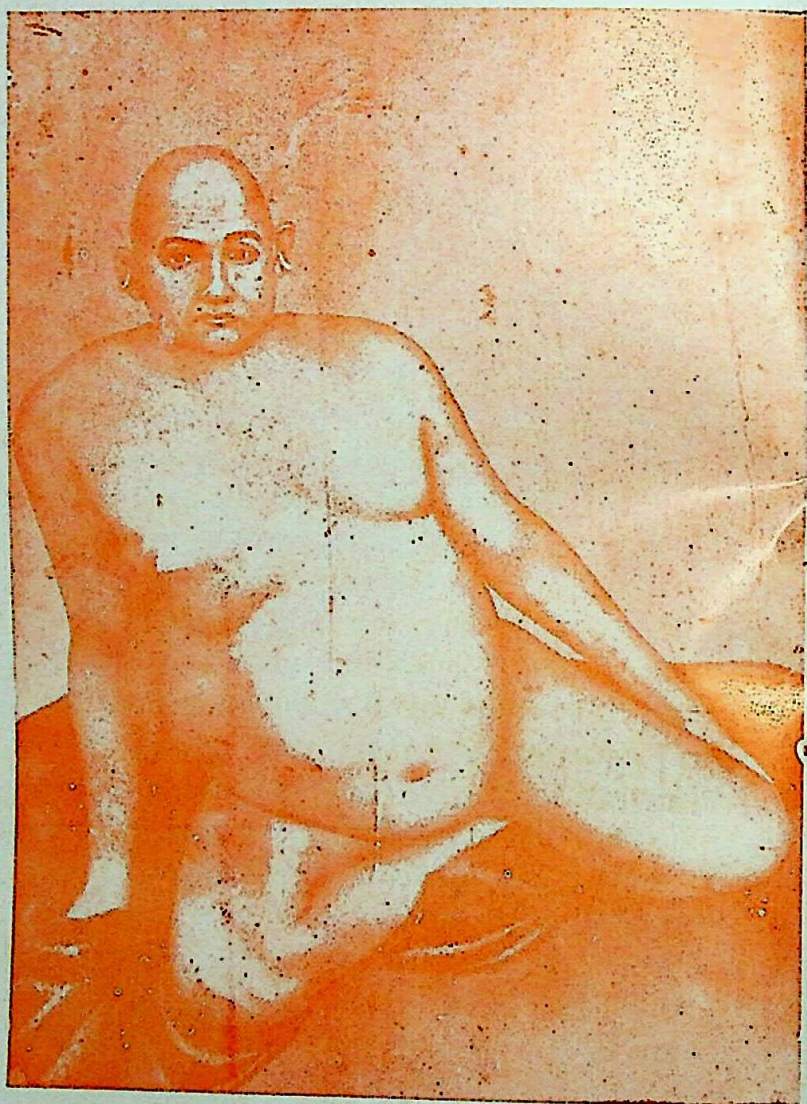
सिद्ध अवधूत अमृतनाथ

कुण्डलिनी का सूक्ष्म ज्ञान

सिद्ध अवधूत अमृतनाथ

योगशास्त्र के गौरवरूप कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार चक्र है। यह अपान वायु के साढ़े तीन चक्र की सर्पाकार शक्ति है, इसका मुख नीचे की ओर है और इसने सुरति-सूक्ष्म ज्ञानतन्तु को अपने मुख में ग्रसित कर रखा है। सुरति को टिकाने से अपान का यह कुण्डल खुलता है और नाभिस्थान में प्राणवायु से मिल जाता है। सुवृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं और सोऽहं-श्वास के मेरुदण्डस्थित सुषुम्ना मार्ग से शिखर की ओर चलती है। इस तरह अभ्यास करते-करते आत्मस्थान के दर्शन होते हैं—ब्रह्मद्वार खुल जाता है, सुरति शिखर में ठहर (स्थिर हो) जाती है। शिखर से झरने वाले अमृत को संत जन इस क्रिया से प्राप्त कर लेते हैं। ऐसा करने से अष्टसिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। बुद्धिमान् को इन सिद्धियों के प्रलोभन में नहीं उलझना चाहिये।

साधना में सत्कार-बुद्धि रखते हुए ब्रह्मस्थान में प्रवेश करने से सत्य स्वरूप-आत्मरूप का दर्शन होता है; संसार में व्याप्त जन्म-मरणरूपी क्लेश मिट जाता है, काल-क्रम और गुण आदि के प्रभाव से रहित होकर साधक ब्रह्मरूप में तन्मय हो जाता है। सोऽहं शब्द में सुरति को स्थिर कर ब्रह्मलोक में समा जाना ही कुण्डलिनी-जागरण है।

मूलाधार में निवास करने वाली अपान वायु की स्वच्छता आवश्यक है। आहार-विहार की पवित्रता से जब शरीर के मल का उचित रूप में विसर्जन होता है, तब वृत्तियों में शुद्धता आती है। अपान वायु अपने शुद्ध एवं सूक्ष्म तत्व से संचालित होती है और इसके साढ़े तीन चक्र ऊपर की ओर उठते हैं। इससे पवित्र बुद्धि, स्वच्छता और स्वास्थ्य-बल प्राप्त होता है। वृत्तियाँ पवित्र होकर मन को निर्मल करती हैं, निश्चल करती हैं, सुरति स्थिर होती है। ऐसा करने से सुरति अर्थात् कुण्डलिनी दसवें द्वार तक पहुँच कर स्थिर हो जाती है, आत्मतत्व में स्थिरता होती है। यही कुण्डलिनी शक्ति का सूक्ष्म ज्ञान है।

तात्विक बात यह है कि अधोमुखी कुण्डलिनी का अर्थ है वहिर्मुख वृत्तियां और कुण्डलिनी-जागरण का अर्थ है वहिर्मुख वृत्तियों का अन्तर्मुखी बनना तथा कुण्डलिनी के ऊर्ध्वमुख होकर शिखर में प्रवेश करने का अर्थ है वृत्तियों को आत्मतत्व में स्थिर करना।

मनुष्य का शरीर इतना परिपूर्ण है कि इसमें कुछ भी बनाने, बिगाड़ने, इधर-उधर करने की किञ्चित् मात्र भी आवश्यकता नहीं है। जो कुछ भी जिस प्रकार बना है, वह संसार के समस्त कार्य ओर आत्मसाक्षात्कार के लिये पूर्ण योग्य है। इस शरीर में सारी शक्तियाँ विद्यमान हैं। इन्हें विकसित करने के लिये साधना की आवश्यकता है। ये शक्तियाँ कभी-कभी तो स्वयं ही विकसित हो जाती हैं, विशेष अनुभव प्राप्त करने के लिये अनुभवी पुरुषों का सत्संग और आज्ञापालन करना पड़ता है, इससे सोयी शक्तियाँ जाग जाती हैं।

कुण्डलिनी नाम की कोई सर्पिणी इस शरीर में है और इसे जगाकर शिखर लोक में प्रवेश करना होता है, तब आत्मसाक्षात्कार होता है योगशास्त्र में इसका विशद वर्णन है पर मेरे अनुभव से यह सब आडम्बर रुचिमात्र उत्पन्न करने वाले हैं। मैंने कठिन अनुभव से ज्ञान प्राप्त किया है कि कुण्डलिनी सुरति का नाम है और आहार-विहार की पवित्रता से सुरति पवित्र होकर श्वास में तन्मय होने पर आत्मसाक्षात्कार होता है। यही कुण्डलिनी का जागरण है।

आत्मदेवार्चनयोग

बहिरभ्यन्तरे श्रेष्ठं पूजनीयं प्रयत्नतः।
ततः श्रेष्ठतम ह्येतन्नान्यदस्ति मतं मम।
आत्मसंस्थं शिवं त्यक्त्वा बहिःस्थं यः समर्चयेत्।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया।

यह आत्मा ही बाहर और भीतर प्रयत्नपूर्वक पूजन के योग्य है। मेरे विचार से यही सबसे श्रेष्ठ योग है, इससे उत्तम दूसरा योग है ही नहीं। जो साधक अपने अन्तरात्मा में स्थित—अभिव्यक्त शिव का त्याग कर बाहर ही-बाहर (बाह्यरूप में) देव का अर्चन (पूजन) करता है, वह करस्थ—हाथ में स्थित पदार्थ (देवता) का त्याग कर इधर-उधर उसकी खोज में भटकता रहता है।

[शिवसंहिता ५ । ६३-६४]

चित्तविश्रान्ति और सामरस्य

महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज

नाथमत के अनुसार सद्गुरु की कृपा से चित्तविश्रान्ति का लाभ सबसे पहले होना चाहिए, बिना उसके सामरस्य-प्राप्ति नहीं हो सकती। जब तक चित्त देहात्मबोधमूलक क्षोभ से मुक्त नहीं होता, तब तक इसमें शान्ति नहीं होती और यथार्थ साधना का प्रारम्भ नहीं होता। चित्त-विश्रान्ति से स्वभावतः भगवदानन्द और अनन्त ज्योतियों का आविर्भाव होता है। इस अद्वय प्रकाश से द्वैत भाव नष्ट हो जाता है। इसके बाद चित्त-शक्ति का प्रकाश होता है और योगी निज देह के पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करता है। इसका फल है देहसिद्धि या पिण्डसिद्धि। इसका नामान्तर है देह का अमरत्व। इसे नामान्तर से सिद्ध अवस्था कह सकते हैं। अभी भी जो यथार्थ अन्तिम लक्ष्य है, वह दूर है। इस समय योगी की देह ज्योतिर्मय आकार को लेकर प्रकाशमान् होती है। यह चैतन्य की सारभूत सत्ता है। परम पद के नित्य सिद्ध प्रकाश के साथ इस प्रकाशमय आकार का एकत्व-प्रतिपादन सुदीर्घ काल तक आत्मा के स्वरूपानुसन्धान में तल्लीन रहने से हो सकता है। यही सामरस्य है।

सामरस्य और निरुत्थान-दशा, दोनों के अन्तराल में कुछ अवस्थाओं का पता चलता है। पूर्ण स्वातन्त्र्य में समन्वित आत्मा का स्फुरण निरुत्थान-दशा के नाम से प्रसिद्ध है। नाथयोगियों का लक्ष्य है कि पहले पिण्डसिद्धि के द्वारा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो। इस समय कालवंचन सिद्ध होता है, काल के प्रभाव से योगी मुक्त हो जाता है। इसके अनन्तर समरसीकरण के द्वारा परामुक्ति की सिद्धि होती है। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि पिण्डसिद्धि या जीवन्मुक्ति के अनन्तर ओंकार-साधना के द्वारा परामुक्ति का आविर्भाव होता है।

[सौजन्य : हिस्ट्री आफ फिलासफी—ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न]

योगी की दया-दृष्टि

योगिराज देवरहा बाबा

दया आज के युगकी माँग है । दुःखाग्नि से तप्त जीवों को दया की अमृत वृष्टि की आवश्यकता है । दया अहिंसा का ही व्यावहारिक रूप है । अहिंसा के प्रतिष्ठित योगी ही दया करने में समर्थ हैं । योगी की अहिंसात्मक वृत्ति का पहला रूप दया ही है । योगी की दया का फल दया के पात्र की सामर्थ्य के अनुसार ही होता है । जिस तरह सूर्यकी किरणों के प्रकाश को विभिन्न विषय अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार ग्रहण करते हैं, उसी तरह योगी की दया का फल भी सब के लिये समान नहीं होता । अहिंसा में तो हिंसा के भाव का निराकरण है । दया में किसी के दुःख के निवारण का भाव है । अहिंसा निषेधात्मक है, दया प्रवृत्यात्मक है । जहाँ दया-भाव नहीं है, वहाँ अहिंसा हो ही नहीं सकती । अहिंसा में दया का स्वतः समावेश हो जाता है ।

साधारण मनुष्य की दया में कुछ कृपाभाव होता हैं, प्रयत्न भी होता है । दया के पात्र का कष्टनिवारण करने के लिये कुछ उपचार भी होता है, योगी की दया का प्रवाह गंगा के समान अजस्र और अबाध स्वतः प्रवाही है, उसमें कोई भेद-भाव नहीं है । जिस प्रकार गंगा में दुष्ट, पुण्यात्मा और पापी सभी स्नान करते हैं, उसी प्रकार संत-योगी की दया के सभी पात्र हैं । संत-योगी की दया में भगवत्कृपा का भाव है, जो जीवमात्र के लिये समान है । आत्मा में प्रतिष्ठित योगी की जीव-दया अपने ही ऊपर दया है । दया में आर्द्रता, करुणा है । करुणा के भाव में योगी का हृदय दयार्द्र हो जाता है । योगी कभी-कभी अपने भी ऊपर दया करते हैं, यह उनकी आत्मदया कहलाती है । किसी प्राणी के दुःख को देख कर जब योगी करुणार्द्र होते हैं तो संयम में कुछ शिथिलता आ जाती है, उस समय योगी अपने ऊपर दया करते हैं, अपने को सँभाल कर अव्ययपद में स्थिर होते हैं । योगी की आत्मदया आध्यात्मिक दया

होती है और परदया लौकिक होती है। लौकिक दया में योगी की स्वभाववृत्ति नहीं होती, वे तो वीतराग हैं। वे दया करके जीव के दुःख के कारण का निवारण करना चाहते हैं। साधनावस्था में तो दया आदि का भाव चित्त-शुद्धि का उपाय है।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या
पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'
(योगसूत्र १। ३३)

राग, ईर्ष्या – दूसरे के अपकार की इच्छा, असूया, द्वेष और अमर्ष चित्त के मल या विक्षेप कहे जाते हैं। इनका निराकरण करने से चित्त शुद्ध होता है। सुखी पुरुषों से मित्रता तथा प्रेम, दुखी व्यक्तियों के प्रति करुणा तथा दया, पुण्यात्माओं को देख कर हर्ष और पापियों की उपेक्षा से चित्त की शुद्धि होती है। सुखी मनुष्य से मित्रता करने से ईर्ष्या की निवृत्ति हो जाती है, दुखी मनुष्यों पर दया करने से दूसरे का अपकार करने की इच्छा समाप्त हो जाती हैं तथा पुण्यात्मा को देख कर प्रसन्नता होनेसे असूया की निवृत्ति हो जाती है। पापियों की उपेक्षा करने से अमर्ष, घृणा आदि के भाव समाप्त हो जाते हैं। साधक के लिये तो ये सभी आचार हैं, योगी के लिये ये दया हैं।

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा।
आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः॥

[सौजन्य–'तीर्थराज सुसन्देश'

श्रीहरि की प्राप्ति

ध्यान ना उन्मनी, दृढ़ना वन्ध। सर्वी सर्वपूर्णी हरि एकु।
वेदा चा वेदकु शास्त्रां च विवेकु श्रुती परलोकु हरि मांझा।
उगवलें क्षेत्र पिकतें घोलत। तेसें हे अनन्तरूप दिसे।
निवृत्ति चोखाल गायना-प्रसाद। श्रीरंग गोविन्द दिधला मज।

ध्यान, उन्मनी समाधि आदि में सर्वत्र एक मात्र श्रीहरि ही विराजमान हैं। वेदों का वेदत्व (ज्ञान) और शास्त्रों का समस्त विवेक, श्रुति, परलोक आदि हमारे हरि ही हैं। उन्हीं में सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति और सम्पूर्णता अथवा परिपक्वता है। सद्गुरु सिद्धयोगीश्वर गहिनी नाथ की कृपा (प्रसन्नता) से मुझे स्पष्ट रूप से श्रीरंग, गोविन्द, हरि की प्राप्ति हो गई।

[योगिराज सिद्ध निवृत्तिनाथ]

ज्ञान में सिद्ध-दर्शन

अनन्त श्रीस्वामी पथिकजी

सिद्धसिद्धान्तविषयक लिखे लेख अनेक विद्वानों द्वारा पढ़ने-सुनने को मिलते हैं, मिलते रहेंगे। धरती में करोड़ों मनुष्य ऐसे हैं, जिन्हें सिद्धसिद्धान्त विषयक लेख पढ़ने-सुनने का सौभाग्य सुलभ नहीं है। सौभाग्य से जो कोई सिद्धसिद्धान्त की महिमा पढ़ता-सुनता है, उसके मन में सिद्ध होने एवं सिद्धान्त को समझने-समझाने की उत्सुकता बढ़ती है। इनमें से जिस किसी को ऐसी उत्सुकता हो, उसे आत्मनिरीक्षण करना चाहिए कि हम अपने को कहीं सेवक, कहीं शिष्य, कहीं साधक, कहीं विरागी, त्यागी, साधु-नगस्त्री अथवा हममें से कोई-कोई अपने को संन्यासी हंस, परमहंस मानते हैं। अब इस प्रकार की किसी भी मान्यता को शास्त्र-मत से अथवा संत सद्गुरु-मत से सिद्ध कर लेना परम हितकर होगा, क्योंकि असिद्ध संन्यासी, असिद्ध हंस, परमहंस एवं असिद्ध विरक्त ज्ञानी धर्मोपदेशक, इसी प्रकार असिद्ध गुरु अज्ञान में अपने को मानते हुए सिद्ध महापुरुष की उपासना नहीं कर सकते।

असिद्ध व्यक्ति अज्ञान में अपने को मानते हुए जो कुछ भी करता है, उसके द्वारा अहंकार, कामना-वासना की ही पूर्ति होती है। उस पूर्ति से अहंकार ही सुखी होता है और अन्त में वही दुःख भोगता है। अज्ञान में पढकर-सुनकर अपने को मानते रहना अहंकार की ही क्रीड़ा है। केवल ज्ञान में ही अहंकार की परिधि का दर्शन होता है। अपने को सुखी, सौभाग्यवान्, दानी, धर्मात्मा, सेवक, शिष्य, साधु, संन्यासी, महात्मा, सिद्ध, भक्त मानने वाले सहस्रों अहंकारी हैं, लेकिन ज्ञान में अहंकार को देखने वाले विरले ही सिद्ध महापुरुष हैं।

यह लोकोक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि जो पक जाता है, उसे ही सिद्ध कहते है। जो कच्चा रहता है, उसे असिद्ध कहते हैं। मर्यादित ताप की पूर्णता से भोजन पक कर जिस प्रकार सिद्ध होता है, उसी प्रकार शास्त्र-विधि के अनुसार तप द्वारा भोगी जीवात्मा सिद्ध महात्मा हो जाता है। सिद्ध होने के लिये तप और त्याग की पूर्णता अनिवार्य है। तप एवं त्याग का संकल्प दृढ़ न होने के कारण अहंकार

अपरिपक्व कच्चा) बना रहता है। कच्चा होते हुए भी सिद्ध होने का दम्भ अहंकार ही करता है; आज अहंकार की बहुत बड़ी भीड़ है, जो असिद्ध धर्मोपदेशक, असिद्ध वैरागी, त्यागी, साधु एवं असिद्ध संन्यासी, असिद्ध महात्मा और असिद्ध गुरुपद को ओढ़कर असिद्ध श्रद्धालुओं को घेरे हुए हैं। वास्तव में जो सिद्ध हैं, वही अर्चनीय है, वन्दनीय है, दर्शनीय है और उपासनीय है।

अज्ञान में असिद्ध व्यक्ति अहंकारवश गति, प्रगति दुर्गति का भोगी बनता है, इसके विपरीत ज्ञान में नित्य जाग्रत् सिद्ध महापुरुष नित्य-परम सत्तत्व का योगी रहकर सद्गति द्वारा परमविश्राम को प्राप्त होता है। जो देह से बँधा है, वही गृहस्थ है। जो देह-मन आदि उपकरणों का साक्षी है, वही संन्यासी है। जो मन-बुद्धि को साध-साध कर अहं के आकारों को पार करके परमात्मामय हो जाता है, वही सिद्ध है। जिसे वेद-मन्त्रों का साक्षात्कार हुआ है, जो तत्वदर्शी है, उसे ऋषि कहते हैं, । जिन्हें मनन द्वारा आत्मा का बोध हुआ है, उन्हें मुनि कहते हैं, जो आत्मवान् है, उसे ही पण्डित कहते हैं। जो अन्त.करण से असंग होकर जगत् के प्रभाव से मुक्त रहता है, जो नित्य बोधस्वरूप है, उसे ही सम्यक्दर्शी सिद्ध कहते हैं। जो देह में व्याप्त मन को जानता है तथा जो मन में व्याप्त आत्मा को अखण्ड, अनन्त परमात्मा में अनुभव करता है, उसे ही सर्वद्रष्टा सिद्ध कहते हैं। सर्वदर्शी जनों का निर्णय है कि परमात्मा में लीन रहने वाली अव्यक्त प्रकृति परमात्मा की सत्ता से व्यक्त होती है और परमात्मा की चेतना गहनतम जड़त्व को तोड़ती हुई अपने ही प्रकाश से पूर्ण होने के लिये निरंतर गतिमान् है।

मानव-शरीर में यह चेतना वासना से सनी हुई कामना की पूर्ति का आस्वाद लेते हुए सन्ताप से तप-तप कर वासना से मुक्त होती जाती है, इसीलिये तीसरे शरीर से शक्ति वासना-पूर्ति में व्यय होती है । चौथे शरीर की जागृति में भक्तिभाव की पूर्णता में शक्ति का सदुपयोग होता है। पाँचवें शरीर की जागृति में हठयोग की सिद्धि सुलभ होती है। जिस वासना की निवृत्ति कई जन्म की साधना से नहीं होती, वही पाँचवें शरीर में एकही जन्म की साधना से हो जाती है और वासना से मुक्ति मिल जाती है। छठे शरीर पर अधिकार प्राप्त करने वाला सिद्ध महापुरुष आनन्दमय हो जाता है। ऐसा सिद्ध ही मुक्ति के अभिलाषी साधकों के लिये उपासनीय होता है। ऐसे सिद्ध की समीपता में ही साधक को अपनी असिद्धि का ज्ञान होता है। असिद्धि का दुःखपूर्वक ज्ञान ही असिद्धि के त्याग की प्रेरणा देता है। त्याग के द्वारा ही सिद्धि की उपासना साधक को सिद्धपद में प्रतिष्ठित करती है।

सिद्धयोगी-सम्प्रदाय की दृष्टि में
शिव-शक्तितादात्म्य

आचार्य अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय

सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय के दर्शन में शिव और शक्ति का तात्विक तादात्म्य एक महत्वपूर्ण सत्य है। शक्ति काल-दिग्युक्त जगद्-व्यवस्था में स्वयं को अभिव्यक्त एवं आनन्दित करती हुई शिव से भिन्न कुछ नहीं है। इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के शिव स्वयं निमित्त और उपादान कारण हैं, इस रूप में उन्हें शक्ति कहा जाता है। इस प्रकार पारमार्थिक शिव की शाश्वत सेवा में शक्ति (व्यावहारिक शिव) संलग्न रहती है। इस प्रकार शाश्वत, अनन्त, अखण्ड, स्वतः सिद्ध आत्मरत, निरपेक्ष परमात्मा शिव और प्रापंचिक जगत् में शाश्वत रूप से अनन्त आत्माभिव्यक्तियों के रूप में शक्ति, दोनों एक ही हैं, दोनों शाश्वत आलिंगन-पाश में बँधे हुए हैं। शिव शाश्वत रूप से शक्ति को आलिंगन-सूत्र में बाँधे हुए हैं। शक्ति के प्रकाशक एवं समस्त जागतिक विकासों के प्रेरक शिव हैं और शक्ति शाश्वत रूप से शिव के अनन्त सौन्दर्य, सत्ता, चेतना एवं शुभ को अनेक रूपात्मक प्रापंचिक सत्ताओं में प्रकट कर, शिव के शाश्वत आनन्दविलास में सहयोग दे रही है। पारमार्थिक शिव इस जगद्-व्यवस्था और इसके अन्तर्गत समस्त स्तरों के अस्तित्वों की आत्मा हैं और सक्रिय शिव अर्थात् शक्ति इस ब्रह्माण्ड और इसके अन्तर्गत समस्त जीवों का शरीर है।

शिव को जगत्पिता और शक्ति को जगज्जननी कहा गया है और उस स्तर पर वासनात्मक भाव से लिंग-भेद का कोई प्रश्न ही नहीं है। समस्त प्रापंचिक सत्ताओं के पारमार्थिक निमित्त-कारण के रूप मे शिव जगत्पिता हैं और सक्रिय भौतिक कारणरूप में जगत् की अनेकरूपधारिणी उनका पालन कर पुनः आत्मगत करनेवाली शक्ति या जगन्माता है। शिव सब में आत्मरूप में प्रकाशित हैं और शक्ति अपने विकास के विभिन्न स्तरों के अन्तर्गत विभिन्न क्रियाओं द्वारा उनके लिये शरीर, जीवन तथा बुद्धि और विवेक का स्फुरण करती है एवं उनके

आत्मप्रकाशन और आत्मानन्द में योगदान करती है। आत्माभिव्यक्ति के प्रापंचिक स्तर पर शक्ति के प्रसारण एवं संकोचन की विभिन्न प्रक्रियायें हैं। वह एक को अनेक और अनेक को एक करती है। वह एक सत्ता में से अनेक सत्ताओं का सृजन करती है तथा पुनः समस्त सत्ताओं की मौलिक एकता प्रदर्शित करती है। वह आध्यात्मिक को भौतिक पदार्थ बनाकर भौतिक को पुनः आध्यात्मिक बना देती है। वह आत्मा के लिये अनेक प्रकार के भौतिक, जैविक, मानसिक शरीर तथा आत्माभिव्यक्ति का क्षेत्र प्रदान करती है। उन समस्त शरीरों एवं समस्त ब्रह्माण्ड-क्रीड़ाक्षेत्र की मूलभूत आध्यात्मिक एकता का प्रदर्शन करना शक्ति का ही काम है। वह सान्त (अन्तसहित) को अनन्त (अन्तरहित) और पुनः एक अनन्त, शाश्वत, अपरिवर्तनीय सत्ता को समस्त परिवर्तनीय, सीमित सत्ताओं में प्रदर्शित करती है। शक्ति की द्विधा क्रीड़ा शाश्वत रूप से चल रही है।

यह स्पष्ट है कि सिद्ध-योगी-सम्प्रदाय सांख्य-सम्प्रदाय के कपिल की भाँति जगत् के अन्तिम कारण को जड़ प्रकृति नहीं मानता, जो शाश्वत रूप से पुरुष कही जाने वाली निष्क्रिय आत्मप्रकाशयुक्त अनन्त आध्यात्मिक आत्माओं से सम्बन्धित और जगत्-विकास-प्रक्रिया का स्रोत है; न यह सम्प्रदाय इस परम सक्रिय स्रोत को परमात्मा पर आवरण डालकर मिथ्या जगत् प्रतीत करने वाली माया कहता है, जैसा रूढ़िवादी शांकर अद्वैतानुयायी मानते हैं, न तो यह द्वैतवाद का समर्थन करता है, जिसके अनुसार जगत् की अनेकता का भौतिक कारण, परमात्मा से अस्तित्वतः और शाश्वत रूप से भिन्न एक अनात्मिक यथार्थ या शक्ति अथवा ऊर्जा है, जो उसके आदेशानुसार जगत् का सृजन और पालन करती है और न ये इस शक्ति को परमात्मा का शाश्वत गुण मानते हैं, जिनमें पदार्थ और उसके गुण का-सा सम्बन्ध हो।

सिद्ध योगियों के अनुसार इस जगत् का स्रोत भौतिक पदार्थ न होकर आध्यात्मिक सत्ता है, अचित् शक्ति न होकर चित् शक्ति है, अविद्या या माया न होकर विद्या या संवित् (ज्ञान अथवा चेतना) है, जो आवरण-विक्षेपात्मिका न होकर प्रकाश-विमर्शात्मिका है। वह परमात्मा के अनन्त ऐश्वर्य और सौन्दर्य को विभिन्न स्तरों पर प्रकट करती है। गोरखनाथजी ने इस शक्ति का वर्णन किया है :

परापरविमर्शरूपिणी संविन्नानाशक्तिरूपेण निखिलपिण्डाधारत्वेन वर्तते इति सिद्धान्तः।'

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ४। २९)

एक सक्रिय चित्-शक्ति, जिसका स्वभाव परमात्म प्रकृति को अनेक उच्च एवं निम्न स्तर की (सामूहिक एवं वैयक्तिक) सत्ताओं के रूप में प्रकट करना है, अपने को विभिन्न प्रकार की शक्तियों एवं अनन्त प्रकार के पिण्डों (शरीरों) के रूप में प्रकट करती है और सर्वव्यापी आध्यात्मिक अस्तित्व के द्वारा उन्हें एकसूत्र करके अपने आप में धारण किये रहती है। उसकी धारणा आत्म-प्रकाशक, आत्मविभाजक, सर्वव्यवस्थापक, सर्व-एककारक, शाश्वत सक्रिय, गति-शील सच्चिदानन्द के रूप में की जाती है। वह परम शक्ति, दिव्यजननी, ब्रह्माण्डपोषिका, सच्चिदानन्दमयी है।

जगत् के सक्रिय स्रोत के सम्बन्ध में सिद्धयोगी-सम्प्रदाय का दृष्टिकोण तान्त्रिक मत के निकट प्रतीत होता है। दोनों मतों के अनुसार शक्ति, जिससे यह जगत् उत्पन्न है, जिसमें इसकी स्थिति है तथा जिसमें यह विलीन हो जाता है, चित्शक्ति है। वह आत्मविलासिनी, सच्चिदानन्दस्वरूपिणी शिवानी शक्ति है, जो सच्चिदानन्द शिव से आन्तरिक रूप से अद्वैत या शाश्वत आलिंगन में बद्ध हैं। दोनों मतों की धारणा है कि यह उदात्त एवं सुन्दर जगत्-व्यवस्था (जिसमें हम सीमित चेतन प्राणी अपनी-अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं और समाधि-अनुभव में पारमार्थिक स्तर पर उठकर परम लक्ष्य आत्मज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं) एक दुर्गुण या अन्धकार की उपज नहीं है, वरन् चरमसद्गुण और परम प्रकाशमयी शक्ति की उपज है। जगत् उस शक्ति की उपज नहीं है, जो सत्य के मुख को विकृत कर दे, यह तो उसकी उपज है, जो कालदिग्व्यवस्था में परम सत्य के अनन्त सौन्दर्य, ऐश्वर्य एवं आनन्द प्रकट करती है। वह किसी ऐसी शक्ति की उपज नहीं है, जो परमात्मा के विरुद्ध है, वह तो उस शक्ति की उपज है, जो आनन्दपूर्वक अपने प्रभु की प्रेममय सेवा करने को तत्पर रहती है और उसके अनन्त आनन्दविलास में भाग लेती है। दोनों मतों के तत्वज्ञानालोकित पुरुष शक्ति में शिव या परमात्मा को व्यक्त देखते हैं, शक्ति की ब्रह्माण्ड-क्रीड़ा में वे चित् की क्रीड़ा देखते हैं और जगत् की समस्त तरंगों में ब्रह्म की प्रतिछाया देखते हैं। अपनी प्रतीयमान अद्भुत जटिलताओं और विभीषिकाओं के कारण इस जगत्-व्यापार को बहुधा शिव का चिद्विलास—आत्मा का ऐश्वर्य, आत्मा की पारमार्थिक पूर्णता की प्रसन्न आत्माभिव्यक्ति कहा गया है। पदार्थ भी आत्मा की एक प्रकार की आत्माभिव्यक्ति माने गये हैं। वे समस्त भौतिक जगत् में आत्मा की क्रीड़ा देखते हैं। उनके लिये पदार्थ, जीवन, मन और बुद्धि परमात्मा के मुक्त विलास के रूप हैं, जिनमें वह अपनी विशिष्ट शक्ति से आनन्दमय क्रीड़ा

कर रहा है। इस प्रकार वे समस्त संसार को आध्यात्मिक मानते हैं। वे अपने शरीर-रूपों को भी आध्यात्मिक मानते हैं। वे समस्त व्यावहारिक अनुभवों को शिव और शक्ति की आनन्दमयी क्रीड़ा मानकर उसमें आनन्द लेते हैं।

यह सर्वविदित है कि अति प्राचीन काल से सिद्धयोगी निवृत्ति-मार्ग एवं समाधि के पूर्ण आत्मप्रकाश के आदर्श—कैवल्य अथवा मोक्ष एवं निर्वाण के आदर्श, पूर्ण शिवत्व के प्रचारक रहे हैं। इस सम्प्रदाय के ज्ञानी गुरुओं ने सदैव तप और शान्ति, देह, इन्द्रियों, प्रवल शक्तियों एवं मन के संयम, समस्त सांसारिक इच्छाओं, वासनाओं एवं आसक्तियों से मुक्ति, जगत् के समस्त प्रापंचिक विषयों से असम्बद्धता तथा आत्मा के आन्तरिक स्वप्रकाश में गहन से गहनतर एकाग्रता की शिक्षा दी और गम्भीरतापूर्वक इनका अभ्यास किया। इतना होने पर भी उन्होंने ब्रह्माण्ड-व्यवस्था या प्रापंचिक अस्तित्व के विषय में न किसी निराशावादी दृष्टिकोण का प्रचार किया और न किसी ऐसे दृष्टिकोण का स्वागत ही किया। उन्होंने लौकिक दुःखों एवं बन्धनों से मुक्ति की खोज करनेवाले मुमुक्षुओं को यह अनुभव करने के लिये नहीं कहा कि इस प्रापंचिक जगत् में सब कुछ दुःखमय है, गर्हित है, असुन्दर और घृण्य है, कि इस जगत् का मूल किसी अज्ञानता, किसी भ्रम या किसी वंचनामयी शक्ति, जो सत्य के स्वभाव को आवृत कर लेती है अथवा विकृत कर देती है, में है अथवा अस्तित्वों के सभी स्तर आसुरी हैं या समस्त जगत्-व्यवस्था शैतान से प्रेरित है; किंवा यह जगत् किसी अन्ध भौतिक शक्ति की आकस्मिक उपज है और मानव को अपने चेतन जीवन में अनिवार्यतः जगत् की उन शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है, जो स्वभावतः मानवीय चेतना की महत्वाकांक्षाओं की शत्रु हैं। बहुत-से धार्मिक-दार्शनिक मतों ने, जिन्होंने मोक्ष को परम लक्ष्य बताकर निवृत्तिमार्ग का प्रचार किया, बलात् उपर्युक्त निराशावादी विचार अपने अनुयायियों को सुनाये। ऐसे दृष्टिकोण और भाव आत्मानुशासन के लिये कुछ भी मूल्य रखते हों, वे सिद्धयोगी-सम्प्रदाय, जिसके अनुयायी गोरखनाथजी हैं, के आध्यात्मिक दर्शन के विरोधी हैं।

सिद्धयोगी-सम्प्रदाय के मत के अनुसार जगत् अज्ञान का नहीं, वरन् पूर्ण ज्ञान—जो शिवशक्ति का लक्षण है, की उपज है, परमात्मा के पारमार्थिक स्वभाव को ढकने वाली आवरणविक्षेपमयी माया की नहीं, परमात्मा शिव की निजा शक्ति की रचना है, जिसके द्वारा आत्मा अपने पारमार्थिक सच्चिदानन्दस्वभाव को स्वच्छन्दतया स्वारोपित दिक्काल-सीमाओं के विभिन्न प्रकारों के अन्तर्गत

नाना प्रापंचिक अस्तित्वों, चेतनाओं, क्रियाओं, सुन्दरताओं और सुखों के विविध रूपों में व्यक्त करती है। इस मत के तत्वज्ञानालोकित योगियों ने सत्यान्वेषियों को जगत्-व्यवस्था में शत्रुभावमयी शैतानी शक्ति से उत्पन्न दुःख, अशिवत्व एवं घृणोत्पादक दृश्य देखने को न कह कर एक परम प्रेममयी मातृशक्ति का आनन्दविलास निरखने को कहा, जो शाश्वत रूप से अपनी सन्तानों के लिये स्नेह और दया से परिपूर्ण है, जो इस ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में विभिन्न सोपानों और स्थितियों से होते हुए अपनी सन्तानों (उसकी अपनी आत्माभिव्यक्तियों) को उन्हीं में अवस्थित शिवत्व के पूर्ण प्रकाश और साक्षात्कार की ओर ले जाती है। वे हमें इस जगत् को चिद्विलास, सौन्दर्यलहरी और आनन्दलहरी—आत्मा के लीलात्मक वेषों, सौन्दर्य और आनन्द के समुद्र की लहरियों के रूप में समझने और भोगने की शिक्षा देते हैं।

मन का स्वरूप

हनुमान प्रसाद पोद्दार—आदिसम्पादक कल्याण'

मन क्या पदार्थ है ? यह आत्म और अनात्म पदार्थ के बीच में रहनेवाली एक विलक्षण वस्तु है, यह स्वयं अनात्म और जड़ है, किन्तु बन्ध और मोक्ष इसी के अधीन है। बस, मनही जगत् है, मन नहीं, तो जगत् नही। मन विकारी है, इसका कार्य संकल्प-विकल्प करना है। यह जिस पदार्थ को भली भाँति ग्रहण करता है, स्वयं भी तदाकार बन जाता है। यह राग के साथ ही चलता है, सारे अनर्थों की उत्पत्ति राग से होती है, राग न हो तो मन प्रपंचों की ओर न जाय। किसी भी विषय में गुण और सौन्दर्य देख कर उसमें राग होता है, इसी से मन उस विषय में प्रवृत्त होता है; परन्तु जिस विषय में इसे दुःख और दोष दीख पड़ते हैं, उससे इसका द्वेष हो जाता है, फिर यह उसमें प्रवृत्त नहीं होता; यदि कभी भूलकर प्रवृत्त हो भी जाता है तो उसमें अवगुण देखकर द्वेष से तत्काल लौट आता है, वास्तव में द्वेषवाले विषय में भी इसकी प्रवृत्ति राग से ही होती है। साधारणतया यही मन का स्वरूप और स्वभाव है।

[सौजन्य—'मन को वश में करने के कुछ उपाय']

सिद्ध-सिद्धान्त एवं सिद्ध-दर्शन का उपाय

योगिराज श्रीचन्द्रमोहनजी महाराज
('सिद्धगुफा', सवाई, आगरा)

इस वर्ष 'योगवाणी' का "सिद्धदर्शनांक" निकल रहा है, यह जानकर मन में अत्यन्त प्रसन्नता हुई। भारतवर्ष में योगसिद्धान्तों का प्रसार करने वाली एवं सिद्धयोग का दर्शन कराने वाली एक-दो ही अच्छी पत्रिकायें हैं, जिनमें "योगवाणी" ने अपना विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। इसका श्रेय गोरखनाथ-मन्दिर के महन्त श्री अवेद्यनाथको है। जब श्रीमहन्तजी का पत्र हमारे पास आया, जिसमें उन्होंने उल्लेख किया कि "योगवाणी" का 'सिद्धदर्शनांक' निकलने जा रहा है, तो उसे पढ़कर मन में अत्यन्त हर्ष हुआ। भारत-भूमि में हिमालय की कन्दराओं में रहने वाले सिद्ध आँखों के सम्मुख गुजरने लगे।

सिद्ध-सिद्धान्त क्या है और साधक सिद्धों के दर्शन किस प्रकार कर सकता है—यह एक विशेष विचारणीय विषय है। वैसे तो सिद्ध-सिद्धान्तों से हमारे सभी यौगिक ग्रंथ परिपूरित हैं; यथा हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, गोरक्षपद्धति, सिद्धसिद्धान्तपद्धति एवं यौगिक उपनिषदें, सभी में सिद्धसिद्धान्त ओतप्रोत हैं, फिर भी जन-सामान्य के हितार्थ हम थोड़े-से शब्दों में सिद्ध-सिद्धान्त तथा सिद्ध शब्द की परिभाषा लिख देना ही ठीक समझते हैं। सिद्ध शब्द का यथार्थ अर्थ है— कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् सर्वथा शक्तः स एव सिद्धः अर्थात् जो असम्भव को संभव कर दे और किये हुए कार्य को फिर बिगाड़ दे, पुनः ज्यों-का-त्यों ठीक कर दे। यही सर्वसमर्थता का ठीक प्रमाण है। ऐसे ही सर्वशक्तिसम्पन्न कर्तुम् अकर्तम् की सामर्थ्य वाले महापुरुषों को सिद्ध कहते हैं। सिद्ध पुरुष सब प्रकार से आत्मदर्शी होते हैं तथा सर्वशक्तियों से सम्पन्न भूतजयी, प्रकृति पर हुकूमत करने वाले एवं दिव्य देहधारी महापुरुष होते हैं। योगदर्शन हमें बतलाता है—

'परमाणु परममहत्वान्तोऽस्य वशीकारः।'
(पा० १।४०)

अर्थात् परमाणु से लेकर परम महत्तत्व या मूलप्रकृतिपर्यन्त उनका पूर्ण अधिकार होता है। उनका चित्त अभ्यास करते-करते उस स्थिति को प्राप्त कर

लेता है। उन्हें फिर अभ्यास की जरूरत नहीं रहती। व्यासभाष्य की ये पंक्तियाँ हैं—

'सूक्ष्मे निविशमानस्य परमाण्वन्तं स्थितिपदं लभत इति। स्थूले निविशमानस्य परममहत्वान्तं स्थितिपदं चित्तस्य। एवं तामुमयीं कोटिमनुधावन्तो योऽस्य अप्रतिघातः स परो वशीकारः। तद् वशीकारात्परिपूर्णं योगिनश्चित्तं न पुनरभ्यासकृतं परिकर्मापेक्षत इति।'

अर्थात् जिस समय योगी सूक्ष्म में संयम करना आरम्भ करता है, उस समय वह परमाणु तक का साक्षात्कार कर लेता है और जिस समय स्थूल में संयम करता है, उस समय मूलप्रकृतिपर्यन्त महत्तत्व तक उसका पूर्णाधिकार हो जाता है। सूक्ष्म में अभ्यास करने वाले तथा स्थूल में अभ्यास करने वाले योगी जिस समय स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, तो वह उनका परम वशीकार कहलाता है अर्थात् उनका चित्त इतना संयमित हो जाता है कि उनको पुनः अभ्यास से संयम करने की आवश्यकता नहीं रहती है। केवल संकल्पमात्र से ही उनका संयम सिद्ध रहता है। उनका चित्त बहुत निर्मल होता है। वे जहाँ संयम करते हैं, वहीं स्थिति को पा जाया करते हैं। ऐसे योगी समाधि एवं अपने संयम के बल से परमवशीकारवाले होते हैं। उनके अन्दर कर्तुम्-अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् की ताक़त अनायास ही बनी रहती है। योगदर्शन के विभूतिपाद में जिन-जिन विभूतियों का वर्णन किया गया है, उन सभी विभूतियों को योगी अपने संयम के बल से प्राप्त कर लिया करते हैं। ये ही लोग कर्तुम्-अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् की शक्ति वाले कहलाते हैं। तुलसीकृत रामायण में कागभुशुण्डिजी का उपाख्यान मिलता है, जिसमें आदि महासिद्ध भगवान् शिव की कर्तुम्-अकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् की शक्ति का पूरा परिचय मिलता है। गुरुदेव से अभिमानपूर्वक पीठ देकर अपना भजन करने वाले कागभुशुण्डि को भगवान् सदाशिव ने ८४ लाख योनि भोगने का शाप दिया। जिस समय उसके गुरुदेव ब्राह्मण ने अपने शिष्य पर दया करने के विचार से भगवान् शिव की स्तुति की, उस (स्तुति) को सुनकर भगवान् शिव प्रसन्न हुए और ब्राह्मण को वर माँगने की आज्ञा प्रदान की। उस ब्राह्मण ने प्रथम तो अपने हित के लिये भगवान् की भक्ति माँगी और दूसरे वर के द्वारा अपने शिष्य पर अनुग्रह करने के लिये वरदान माँगा, जिसके फलस्वरूप भगवान् शिव ने अपने शाप को बहुत ही सूक्ष्म में निबटा दिया तथा साथ-ही-साथ यह कह दिया कि मेरे मुख से निकला वचन बिल्कुल मिथ्या तो नहीं होगा, उन योनियों में उसको

जाना होगा और जन्म लेना ही पड़ेगा, किंतु जत्र-जत्र जहाँ-जहाँ जिस-जिस योनि में यह जन्म लेगा, उसको कोई दुःख नहीं होगा, अपितु न के बराबर उस योनि से भोग भोग कर जल्द निकल जायेगा। इसी का नाम है—कर्तुम्-अकर्तुम् सर्वथा शक्तः। ठीक शब्दों में यही सिद्ध शब्द की यथार्थ परिभाषा है।

संसार में एक नियम चलता है और वह यह है कि हमारा चित्त 'प्रख्या-प्रवृत्तिस्थितिशील' होने से त्रिगुणात्मक है, इसीलिये संसार में जन्म लेने वाले व्यक्ति सभी एक मत के हों, यह बात सम्भव नहीं हो सकती है। यही कारण है कि 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्नाः' का सिद्धान्त सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। इसी कारण सारे संसार में नाना प्रकार के सिद्धान्तवादी लोग हैं, किन्तु वे सभी अपनी-अपनी मति के अनुसार सिद्धान्तों की स्थापना करते हैं, किन्तु उनके वे सिद्धान्त सिद्धान्त नहीं हैं, क्योंकि ये लोग अपने-आप ही सिद्ध नहीं हैं। ऋतम्भराप्राप्त योगी ही सिद्धान्तों की रचना करते हैं। सिद्धों के सिद्धान्त ही वस्तुतः मूल सिद्धान्त हैं, क्योंकि उनके वक्ता आप्तपुरुष, सर्वज्ञातृत्व-शक्ति से सम्पन्न होते हैं। हमारा शास्त्रीय सिद्धान्त है :—

यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते।
मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात्।

(व्यास-भाष्य पा० यो० सू० १।७)

अर्थात् जिस सिद्धान्त को कहने वाले वक्ता अश्रद्धेय हैं एवं मनमानी सिद्धान्तों की कल्पना अपने मन में करते हैं, उनके सिद्धान्त सर्वदा गिर जाया करते हैं तथा मूलवक्ता आदि महासिद्ध जो सदा प्रकर्षगति से ही सिद्ध हैं, उनके सभी सिद्धान्त प्लवनरहित होते हैं अर्थात् उनके मुख से निकली वाणी कभी भी असत्य नहीं होती है। उन्हीं की वाणियों को सिद्ध-सिद्धान्त कहा जाता है। यही कारण है कि हमारे ऋषि-मुनियों के मौलिक सिद्धान्त वास्तविक सिद्धान्त हैं, क्योंकि उनका सभी प्रकार का पर्यवेक्षण कर लेने के बाद भी किसी प्रकार की उनमें कमी नहीं दिखाई पड़ती। आजकल के समय में लोग अनेकों प्रकार की भविष्य वाणियाँ करते हैं। उनमें से कोई-कोई ही सत्य निकल पाती है। अधिकांश प्रायः गलत ही निकलती हैं, किन्तु हमारे ऋतम्भराप्राप्त-ऋषिमुनियों ने जो-जो भी भविष्य वाणियाँ कीं, वे सब-की-सब प्लवनरहित हैं। भविष्यपुराण पढ़िये। कलिकाल के वर्णन के अन्दर निर्बीजा पृथ्वी, निरौषधीरसः नीचाः महत्वं गताः। भार्या भर्तुर्विरोधिनी पररता पुत्राःपितुर्दूषकाः—आदि-आदि बातें लिखीं हैं, जो ज्यों-की-त्यों सत्य सिद्ध हो रही

हैं। इनकी सत्यता का कारण यह है कि इनके वक्ता श्रद्धेय थे, सिद्ध थे एवं सर्वज्ञातृत्व शक्ति से सम्पन्न थे। सिद्धान्त शब्द का अर्थ ही यह है कि जिसका अन्तिम निष्कर्ष प्लवनरहित, शुद्ध सत्य हो, वही सिद्धान्त कहलाता है।

अब रही बात यह कि ऐसे सिद्धसिद्धान्तों के वक्ता महापुरुषों के दर्शन मनुष्य कैसे प्राप्त करें और किस प्रकार से उनके मौलिक सिद्धान्तों को अपने जीवन में घटित कर सकें। इसके शास्त्रोक्त दो खास उपाय हैं, जिनके द्वारा मनुष्य सिद्धदर्शन का अधिकारी बन जाता है। पहला उपाय है—मनुष्य अपने जीवन में पुण्यसंवर्द्धन करे और अपनी मानस पवित्रता को बढ़ाता चला जाय। पुण्य-संवर्द्धन के लिये—'यज्ञदानतपःकर्म पावनानि मनीषिणाम्' के नियमानुसार यज्ञ करना, दान करना, तप करना तथा निष्काम कर्म करना आवश्यक है। ये कर्म मनुष्य के अन्तःकरण को पवित्र करने वाले हैं। इन सब कर्मों के करने से पुण्य का संग्रह बढ़ता चला जाता है। मनुष्य उत्कृष्ट तप और साधना करता हुआ, यज्ञदानादि करता हुआ अपने को उत्कृष्ट खजाने से भर लेता है। मनुष्य पुण्य-संवर्द्धन करता चला जाय तथा बढ़े हुए पुण्य की रक्षा भी करता चला जाय। एक मनुष्य बड़े-बड़े दान करता है, एक मनुष्य बड़े-बड़े यज्ञ करता है तथा कठिन तपश्चर्या करता है, उसके फलस्वरूप उसका पुण्य बढ़ता तो चला जायेगा किन्तु यदि उसमें क्रोध है, अहंकार है तथा साथ ही ईर्ष्यालु स्वभाव होने से परपीड़न के भाव बने रहते हैं तो वह अपने पुण्य की बनी हुई निधि को साथ-ही-साथ नष्ट भी करता चला जाता है। ऐसी स्थिति में वह सिद्ध-दर्शन का अधिकारी नहीं हो सकता। इस विषय में हमारा शास्त्रीय लेख है—

ईदृशन्तु भवेद् यद् यद् तत्तद् भुक्त्वा ज्ञानीपुनर्भवेत् पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह सङ्गतिम्। ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ततो नश्यति संसारः। नान्यथा शिवभाषितम् ॥

अर्थात ज्ञानी आत्मा भी अपनी क्लिष्टा-अक्लिष्टा वृत्तियों के उत्थान पतनात्मक विभिन्न प्रकार के भोगों को भोगता हुआ अपनी पुण्यनिधि बढ़ा लेता है तो उसके फलस्वरूप सिद्धों की संगति को प्राप्त करता है। सिद्ध-संगति प्राप्त कर लेने के बाद वह उनकी अनुकम्पा को पाकर योगी बन जाता है। तब संसार का बन्धन छूटता है। यह स्वयं भगवान् शिव ने कहा है। इसलिये निष्काम कर्मयोग करता हुआ साधक त्रिविध प्रकार के पुण्यकर्म करके अपनी पुण्यनिधि को

बढ़ा लेता है। वह सिद्ध-संगति का अधिकारी बन जाता है। इसके बाद दूसरा उपाय है स्वाध्याय—

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः।'
(योगसूत्र २।४४)

\+ + + +

देवा ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छन्ति, कार्येचाऽस्य वर्तन्त इति।

(व्यासभाष्य २।४४)

अर्थात् स्वाध्याय के बल से साधक इष्टदेव की कृपा का लाभ प्राप्त करता है। इसी स्वाध्याय के प्रभाव से मंत्रद्रष्टा ऋषि लोगों, देव लोगों तथा सिद्धों के दर्शन प्राप्त होते हैं। यज्ञ, दान, तप आदि पुण्यकर्मों का करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये सुलभ साधन नहीं है, क्योंकि यज्ञदानादि कार्य अर्थाभाव से सभी लोग नहीं कर सकते किन्तु तप, स्वाध्याय आदि यदि कोई व्यक्ति दृढ़ लगन से करना चाहता है तो वह कर ही सकता है। अनुभवी संतों का यह अनुभव है कि जो पवित्र भागीरथी के तट पर बैठकर अपने इष्ट मंत्रों का जंप करते रहते हैं, स्तोत्र आदि का पाठ करते रहते हैं, उसका परिणाम यह निकलता है कि वे लोग सिद्धों का दर्शन प्राप्त कर लिया करते हैं। सिद्धसिद्धान्त के अनुसार सिद्धों का दर्शन अमोघ होता है। उसके फलस्वरूप साधक उनकी कृपा को पाकर अपने-आप को कृतार्थ बना लेता है। उनके शक्तिपात से उस साधक को सहज ही समाधि प्राप्त हो जाती है। अतः इस सिद्ध की परिभाषा तथा सिद्धान्त की परिभाषा जान करके अपने आप को अध्यात्ममार्ग में अग्रसर करने का प्रयत्न करें, ऐसा करने पर अनुग्रह को पाकर अपने-आप को अवश्य ही कृतकृत्य कर सकेंगे।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

मनोनिग्रह

घड़ी एकैं मनवौ जती रे सन्यासी। घड़ी एकैं मांगल मातो।
घड़ी एकैं मनवौ उनंथ गो छिल्लो। घड़ी एकैं विषिया रातो रे लो॥
इंद्री बांध्या जोगी जती न होइबा। जब लग मनवो न बाधा रे लो॥
[महासिद्ध कृष्णपाद (काणेरी)—नाथ० सि० बानियाँ ६१-६२]

योग और हठयोग

डॉ० एन० रवीन्द्रनाथ
(हिन्दी वि०, कालीकट विश्वविद्यालय, कालीकट)

गुरु गोरक्षनाथ के द्वारा रचित ग्रंथों की सूची बहुत बड़ी है। उनके नाम से संस्कृत और हिन्दी, दोनों भाषाओं में अनेक ग्रंथ प्रचलित हैं। इन ग्रंथों के प्रतिपाद्य से यह अवितर्क रूप से कह सकते हैं कि गोरक्षनाथ ने ही भारतीय धर्म-साधना के मंच पर योगमार्ग को व्यवस्थित रूप दिया था। उनके द्वारा निर्दिष्ट योगमार्ग और उसकी विशेषताओं की चर्चा करते हुए विद्वानों ने महत्व-पूर्ण बातें कही हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि गोरक्षनाथ ने शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों को आत्मसात् कर शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त को ही अपनी साधना का आधार माना था, यद्यपि शांकर वेदान्त से अपना भेद बताने के लिए नाथपंथ के साधक अपने को द्वैताद्वैतविलक्षणवादी कहते हैं। (डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—नाथसम्प्रदाय) आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने भी इससे मिलता-जुलता मत प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है—'गुरु गोरक्षनाथ के दार्शनिक सिद्धान्त वेदान्तपरक जान पड़ते हैं और उनकी योग-सम्बन्धी रचनाओं के अन्तर्गत भी अद्वैत सिद्धान्त का ही प्रतिपादन लक्षित होता है।' आगे चतुर्वेदीजी ने इस बात को भी स्पष्ट किया है कि मोक्ष-प्राप्ति के साधनभेद द्वारा वेदान्तनिर्दिष्ट साधना और नाथपंथ की साधना में महान् अन्तर है। (परशुराम चतुर्वेदी-उत्तरी भारत की संत-परम्परा, पृष्ठ ६०) वस्तुतः गोरक्षनाथ के द्वारा संगठित नाथपंथ भारतीय धर्मसाधना का एक समन्वित साधना-मार्ग है, जिसमें एक ओर वेदान्त का स्वर है, तो दूसरी ओर योग का आत्मचिन्तन और साथ ही सांख्य का प्रकृति और पुरुषवाद (डा० कोमल सिंह 'नाथपंथ और निर्गुण संतकाव्य' पृष्ठ ११५)

योग की अध्यात्म-प्रक्रिया अत्यन्त प्राचीन है। संहिताओं, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में योगपरक आध्यात्मिकता का कहीं उल्लेख मिलता है और कहीं विस्तृत विवेचन। बौद्ध धर्म के त्रिपिठकों (पाली) और संस्कृत ग्रंथों में योग

की विशेष चर्चा मिलती है। जैन ग्रंथों में भी योग-विवेचन उपलब्ध होता है। तंत्रों में योग का महत्वपूर्ण स्थान है ही। मंत्रयोग, लययोग आदि योग प्रसिद्ध ही हैं। (बलदेव उपाध्याय— भारतीय दर्शन पृष्ठ ३६६) देश में योगदर्शन पातंजलयोग नाम से प्रसिद्ध हुआ है। पातंजल योगदर्शन सांख्य के द्वारा प्रस्तावित मूल तत्वों को मानता है। एक फरक यह है कि सांख्य ईश्वर की सत्ता को नहीं मानता है, योगदर्शन मानता है। पातंजल दर्शन के चार भाग हैं:—(१) समाधिपाद, (२) साधनपाद, (३) विभूतिपाद और (४) कैवल्यपाद। स्वामीविवेकानन्द ने योग को इस प्रकार समझाया है (राजयोग पृष्ठ १२६)—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है)। चित्त की पाँच अवस्थायें मानी गयी हैं (१) क्षिप्त (२) मूढ़ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र (५) निरुद्ध। इन अवस्थाओं के अनुरूप सहज ही चित्त के चार प्रकार के परिणाम होते हैं— क्षिप्त, मूढ़—व्युत्थान; विक्षिप्त—समाधि-प्रारम्भ; एकाग्र—एकाग्रता, निरुद्ध—निरोध-लक्षण।

ध्यान देने की बात है कि सभी प्रकार के निरोध योग के अन्तर्गत नहीं आते हैं। योग-सूत्रकार का निरोध से तात्पर्य उस प्रकार के निरोध से है, जिसके होने से अविद्या आदि क्लेशराशि नष्ट होती है, बुद्धि के लिये सात्विक निर्मलभाव की वृद्धि होती है और वह सहजावस्था प्राप्त होती है, जो वास्तविक चित्तवृत्ति निरोध है। (बलदेव उपाध्याय--भारतीय दर्शन पृष्ठ ३७१)

समाधि के दो भेदों की चर्चा योगदर्शन में मिलती है—(१) सम्प्रज्ञात समाधि (२) असम्प्रज्ञात समाधि। सम्प्रज्ञात समाधि में समस्त वृत्तियों का पूर्ण निरोध असम्भव है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में वह सम्भव है। आलम्बन समाधि के लिये आवश्यक है, जिसकी तीन कोटियाँ हैं—ध्याता, ध्येय, ध्यान। आलम्बन जब विद्यमान रहता है, तब सम्प्रज्ञात समाधि और जब आलम्बन क्षीण हो जाता है, तब असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। इस अवस्था में चित्त बिल्कुल निरालम्ब दशा में पहुँच जाता है। मन की यह निरालम्बन-दशा चार अवस्थाओं से गुजर कर एकाग्रता में पहुँच जाती है। वे ये हैं—(१) स्थूल ग्राह्य अर्थात् पंचभूत, फिर (२) सूक्ष्म ग्राह्य अर्थात् पंचतन्मात्रा (३) ग्रहण अर्थात् इन्द्रिय और फिर अन्त में (४) अस्मिता को आलम्बन करके एकाग्रता की साधना है। (हजारी प्रसाद द्विवेदी—नाथ सम्प्रदाय)

योग में चित्त शब्द का तात्पर्य अन्तःकरण—मन, बुद्धि, अहंकार से है। स्वभावतः शुद्ध और निर्विकार होने पर भी अज्ञान होने के कारण आत्मा (पुरुष)

अपने को चित्त से अभिन्न समझता है। चित्त वस्तुतः प्रकृति का परिणाम है और अतः जड़ भी है। चेतन पुरुष की छाया पड़ने के कारण वह चेतन की भाँति जान पड़ता है। (नाथ-सम्प्रदाय)

असीम चित्तवृत्तियाँ पांच मोटे भागों में विभक्त हैं—

(१) प्रमाण (२) विपर्यय (३) विकल्प (४) निद्रा (५) स्मृति। ये ही वृत्तियाँ मूलतः क्लेश का कारण होती हैं। क्लेश के पाँच प्रकार हैं—(१) अविद्या (२) अस्मिता (३) राग (४) द्वेष (५) अभिनिवेश। अभ्यास और वैराग्य से मुमुक्षु इन सबका निरोध कर सकता है और योग-साधना-पालन से असम्प्रज्ञात समाधि का मार्ग खोज सकता है।

यह सच है कि गोरक्षनाथने प्राचीन परम्परा से प्राप्त योगसाधना का आश्रय अवश्य लिया था, लेकिन उन्होंने अपनी साधनापद्धति में शील और संयम की स्थापना के लिये व्यावहारिकता को अधिक बल दिया और उनका योग-मार्ग हठयोग नाम से प्रसिद्ध हुआ है। 'हठयोग' की व्युत्पत्ति पर विविध मत आज उपलब्ध हैं। प्राण-निरोधप्रधान साधना-पद्धति को प्रायः हठयोग कहते हैं। सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार—

हकारः कथितः सूर्यष्ठकारश्चचन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते।।

इस उक्ति की व्याख्या कई प्रकार से हुई है। सूर्य का सम्बन्ध प्राणवायु से तथा चन्द्र का अपान वायु से करके, इन दोनों के योग को प्राणायाम कहा गया है। इस प्राणायाम से वायु का निरोध करने की प्रक्रिया हठयोग है।

गोरक्षनाथ के समय तक भारतीय धर्मसाधना में वामाचार का समावेश एवं प्रामुख्य हो गया था। शुद्ध जीवन, सात्त्विकवृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थीं। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ, दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। वस्तुतः इसलिये गोरक्ष की साधना में सिद्धान्त की अपेक्षा व्यावहारिकता का अधिक महत्व है। उन्होंने अपने सिद्धान्त में ब्रह्मचर्य, वाक्-संयम, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान-निष्ठा, बाह्याडम्बर के प्रति

अनादर, आन्तरिक, शुद्धि, मद्य-मांसादि के पूर्ण बहिष्कार आदि पर विशेष बल दिया है।

हठयोगी साधक को शरीर ज्ञान और यह पहचान होनी चाहिये कि कुण्डलिनी में ही शरीर की कार्यकारिणी शक्ति निहित है और शिवजी की सृजनेच्छा ही शक्ति है और वह निजा, परा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी जैसी पाँच अवस्थाओं से निकलती हुई प्रकट होती है। शिवजी की सृजनेच्छा-रूपा शक्ति के कारण हो जगत् के रूप बदले हैं। संसार में जो कुछ भी पिण्ड है, वह वस्तुतः उसी प्रक्रिया से गुजरता हुआ बना है, जिस अवस्था में से यह समूचा ब्रह्माण्ड बना है। गोरक्षमत का प्रथम सिद्धान्त यह है कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड मे है, वह सभी पिण्ड में है, पिण्ड मानों ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं—गोरक्षनाथ का योगमार्ग साधनापरक मार्ग है। इसलिये केवल व्यावहारिक बातों का ही विस्तार उसमें दिया हुआ है। मनुष्य शरीर को ही प्रधान पिण्ड मानकर इसकी व्याख्या की गयी है। बताया गया है कि कनुष्य के किस-किस अंग में ब्रह्माण्ड का कौन-कौन सा अंश है। पाताल कहाँ है, स्वर्ग कहाँ है। साधनामार्ग के तीर्थस्थान कहाँ हैं, गन्धर्व, यक्ष, उरग, किन्नर, भूत, पिशाच आदि के स्थान कहा हैं (नाथ-सम्प्रदाय)।

शरीर को जानने वाला और स्वयं मुक्त ही मोक्ष का दान दे सकता है। यह भी है कि योगी ही मुक्त हो सकता है। चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है। गोरक्ष-सिद्धान्त की चर्चा के सम्बन्ध में डॉ० रामकुमार वर्मा ने लिखा है—"वैराग्य की भावना जब हृदय में दृढ़ता से उत्पन्न हो जाती है, तब वह अपनी अभिव्यंजना में तीन मार्ग ग्रहण करती है। पहला मार्ग इन्द्रिय-निग्रह का है। दूसरा प्राण-साधना का और तीसरा मन-साधना का है। पहला मार्ग सबसे प्रमुख है। नाथ-सम्प्रदाय में इन्द्रिय-निग्रह पर बड़ा जोर दिया गया है।' (हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा) इन्द्रिय-निग्रह की महत्ता के कारण ही ब्रह्मचर्य को गोरक्ष-सिद्धान्त में विशेष स्थान मिला है। गोरक्षकालीन तांत्रिक और कामोपभोग की प्रक्रिया के रूप ने ही गोरक्ष-मत में संयम को अत्यधिक महत्व दिया। इन्द्रिय-निग्रह में विजेता साधक की सेवा शिव-पार्वती भी करते हैं—

अजपा जपै सुंनि मन धरै, पाँचो इन्द्री निग्रह करै।
ब्रह्म अगनि मै होमै काया, तास महादेव बंदै पाया।

धन जीवन की करै न आस, चित्त न राखै कांमनि पास।
नाद बिंद जाकै घटि जरै, ताकी सेवा पारबती करै।
(गोरखबानी सबदी १८-१९)

ब्रह्मचर्य और प्राणायाम के साथ हठयोगी को नाड़ियों को शुद्ध बनाये रखने की विधि जाननी चाहिये। नाड़ी-शुद्धता के संदर्भ में हठयोग में धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाति – जैसे षट्कर्म की विवेचना मिलती है। पिण्ड के स्थिर होने के लिये नाड़ियों को शुद्ध रखना चाहिये। सुषुम्ना-मार्ग का साफ होना, प्राण और मन का अचंचल होना आदि भी नाड़ी-शुद्धता से ही सम्भव है। इन क्रियाओं के फलस्वरूप ही प्रबुद्ध कुण्डलिनी परमेश्वरी सहस्रार चक्र में स्थित शिव के साथ समरसता प्राप्त कर सकती है और योगी अन्तिम फल प्राप्त कर सकता है। यही योगी "अनाहत ध्वनि" अर्थात् "अनहदनाद" सुनता है।हठयोग के सिद्धान्त-ग्रंथों में गुरु का माहात्म्य बहुत ऊँचा है। यह भी विश्वास है कि अवधूत ही गुरु का आसन प्राप्त कर सकता है और ऐसे गुरु के शब्द-शब्द में वेद निवास करते हैं। वेद भी दो प्रकार के माने गये हैं—स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल वेद से हठयोगी का सम्बन्ध नहीं होता है, उनका सम्बन्ध सूक्ष्मवेद स्वसंवेद्य ॐकार स्वरूप अलख निरञ्जन से ही है।

पातंजल योग की महत्वपूर्ण देन उसकी साधना-पद्धति है। योग की यही साधना विकसित होती हुई हठयोग में भी परिणत हुई। "चित्तनिरोध" और "शरीर-साधना" के विविध मार्ग हठयोगी गुरुओं के द्वारा विकसित एवं परिष्कृत हुए।

हिरण्यगर्भ की उपासना

शास्त्रविरुद्ध कोई भी आचरण क्यों न हो, नहीं करना चाहिए। अविद्या का अर्थ होता है, कर्म करना। इस प्रकार कर्म से चित्त-शुद्धि होने पर देवता या ज्ञान की साधनास्वरूप उपासना से चित्तैकाग्रता प्राप्त होती है। यह उपासना ही हिरण्यगर्भोपासना कही जाती है, जो यदि मृत्यु के पूर्व परिपक्व हो जाती है तो जीवन्मुक्ति का हेतु बन जाती है। इस लोक में ब्रह्मोपदेश से ही मुक्ति प्राप्त होती है।

[सत्य साई बाबा : सौजन्य 'उपनिषद्वाहिनी']

योग के भेद, उसके अंग एवं सिद्धयोग

सोमचैतन्य श्रीवास्तव

(अध्यक्ष : हिन्दी वि०, डी० ए० वी० कालेज, कोरापुट, उड़ीसा)

आत्मा का साक्षात्कार परमतत्व का ज्ञान एवं अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति जीव का परमधर्म, जीवन का परमपुरुषार्थ तथा मोक्ष-प्राप्ति का एक मात्र उपाय है। शास्त्र आदि वाह्य साधनों में प्राप्त होने वाला ज्ञानदीप-प्रकाशवत् अल्प, एकांगी, संशय आदि दोषों से युक्त, देशकाल से सीमित, क्रमयुक्त एवं अपर्याप्त होता है तथा वह स्वात्मप्रकाशरूप आत्मा को प्रकाशित करने में असमर्थ होता है। इसके विपरीत योगाभ्यास द्वारा उपलब्ध विवेकजज्ञान, सूर्यप्रकाशवत् सभी विषयों के तत्व को सर्वांगीण एवं यथार्थ रूप में एक साथ सर्वप्रकार से उद्भासित करने वाला, भ्रान्ति आदि दोषों से रहित, सर्वथा सत्य, देशकाल से अवाधित, पूर्ण तथा अविद्यादि क्लेशों, कर्मसंस्कारों का नाश करने से तारक मोक्षप्रद एवं अनन्त होता है। (भगवद्गीता ५।१६, १०।११, योगसूत्र ३।५४,४।३०,११) मोक्ष की प्राप्ति में साधक अविद्या का नाश, त्रिगुणात्मक प्रकृति से आत्मा का पृथक्करण एवं ब्रह्म की प्राप्ति अथवा ब्रह्म के साथ ऐक्य, ये तीनों कार्य योग द्वारा ही सिद्ध होते हैं। (मार्कण्डेयपुराण अ० ३९) अतः योग को ही मोक्ष-मार्ग (योगशिखोपनिषद् १।५३) कहा गया है। योगविद्या ही पराविद्या और सूक्ष्मवेद है। योगसिद्ध व्यक्ति में ही ईश्वरत्व एवं जीवन्मुक्तत्व सम्भव है, (योगशिख० १।४१–४४। योगसूत्र ३।४९। सिद्ध सि० प० ५।३३–४२) अन्य किसी में नहीं।

मुक्ति-प्राप्ति के दो मार्ग हैं—पिपीलिका-मार्ग एवं विहंगममार्ग या मर्कटक्रम (चींटी की गति से फिसलते, चढ़ते धीरे-धीरे मोक्ष-वृक्ष पर चढ़ना या पक्षी अथवा बन्दर की भाँति एकही छलांग में शीघ्रतापूर्वक वृक्ष के अग्रभाग पर पहुँच जाना। पिपीलिकामार्ग को वामदेवमार्ग एवं विहंगममार्ग या मर्कटक्रम को शुकदेव मार्ग कहते हैं। पिपीलिकामार्ग क्रममुक्ति का मार्ग है, जिसमें वैदिक या तांत्रिक आदि मार्ग का अवलम्बन करके अनेक प्रकार के सुख-दुःखों का विविध असंख्य जन्मों में भोग करते हुए नाना जन्मों के अभ्यास से मोक्ष प्राप्त होता है। विहंगममार्ग या

मर्कटक्रम सद्योमुक्ति प्राप्त करने का योगमार्ग है, जिसमें एकही शरीर से गुरुप्रदत्त दीक्षोपाय द्वारा असम्प्रज्ञात समाधिलाभ होने पर स्वरूप का साक्षात्कार हो जाने से कैवल्यप्राप्ति होती है। यही सिद्धमार्ग है। इसी को काकमत–काक–मायो महेश्वर का मत या शैवमार्ग कहते हैं (योगशिखोपनिषद् १।१४३)।

योगिनो योगयज्ञेन केवलं ज्योतिरुत्तमम्।
इष्टा यान्तीष्टमार्गेण द्रुतंखेचरा इव ।।
(सिद्धसिद्धान्त संग्रह)

एकेनैव शरीरेण योगाभ्यासाच्छनैः शनैः।
चिरात् संप्राप्यते मुक्तिर्मर्कटक्रम एव सः ।।
(—योग० शि० १ । १४०)

योगशिखोपनिषद् (१ । ५०–५३) का कहना है कि अनेक जन्मों के संचित पुण्यफल के परिपाक होने पर सिद्धयोगी गुरु की संगति प्राप्त होती है, तब उसके द्वारा योगदीक्षा पाकर ही साधक शिष्य का संसार (अज्ञान, जन्म–मरण का बन्धन) नष्ट होता है, अन्यथा नहीं। केवल श्रुतिसिद्ध सिद्धमार्ग ही कैवल्य प्रदान कर सकता है—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' योग-साधना से रहित अकेला ज्ञान मोक्ष–प्राप्ति कराने में समर्थ नहीं है। मोक्ष के लिये योग एवं ज्ञान, दोनों का परस्पर साहचर्य एवं सह–अभ्यास आवश्यक हैं। योग एवं ज्ञान, स्वाध्याय और योग दोनों ही एक दूसरे के पूरक तथा परिपोषक हैं एवं एक-दूसरे की वृद्धि करते हुए आगे बढ़ाने वाले हैं। मोक्षविषयकज्ञान योग द्वारा एकही जन्म में प्राप्त हो जाता है। अतः मुक्ति-प्राप्ति के लिये अन्य कोई भी मार्ग (उपाय) योग से बढ़कर श्रेष्ठ नहीं है।

ज्ञानं तु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते।
तस्माद् योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः ।।
(योग शि० १ । ५३)

नाना मार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा शिवभाषितम् ।।
(योग शि० १ । ३–४)

नाथसिद्धयोगियों की दृष्टि में 'सत्' ब्रह्म का प्रापक एवं परम सत्य का साक्षात्कार (ज्ञान) कराने वाला योगमार्ग ही सन्मार्ग है, एवं इससे भिन्न अन्य मार्ग पाषण्डमार्ग है (सि० सि० प० ५।५)। सज्जनों को सदा सन्मार्ग का ही

योग का ही सेवन करना चाहिये । वेदान्तवेद्य ब्रह्म का ज्ञापक एवं प्रापक तथा भवसंतापका शामक योग ही है । वस्तुतः सनातन ब्रह्म ही 'वेद' शब्द का वाच्य है तथा उसको प्रत्यक्ष जानने वाला योगी ही वास्तविक वेदज्ञ विप्र है । योग द्वारा ही सभी विषयों एवं वस्तुओं का पूर्ण रूपेण तत्काल हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, अतः इस एक योगशास्त्र के अध्ययन में तथा स्व-अनुभवसिद्ध सत्यज्ञान की प्राप्ति में ही श्रम करना चाहिये, अन्यत्र नहीं । इस प्रकार नाथसिद्धों के मत में योग ही एक मात्र शास्त्र है, अद्वैतोपरिवर्ती नाथ ही एक मात्र देवता है, मोक्ष ही परमपुरुषार्थ है, योग ही साधन है । अन्त्याश्रमी सर्वसाधनशिरोमणि योगमूर्ति अवधूत ही गुरु है तथा मुमुक्षु साधक ही शिष्य है । 'सिद्धसिद्धान्त-संग्रह' के रचयिता का मत है कि चित्त को योग-प्रवण बनाने तथा जीवन्मुक्ति नामक लक्ष्य के प्रति पूर्ण समर्पित और एकनिष्ठ होने के लिये बालकों को बाल्यावस्था से ही योगसाधना की शिक्षा देनी चाहिये, जिससे वे बड़े होने पर श्रेष्टअवधूत योगी बन सकें ।

वर्तमान समय में योग की अनेक पद्धतियाँ, परम्परायें एवं सम्प्रदाय मिलते हैं । इन सबका उद्भव एवं विकास इतिहास के कालक्रम में विभिन्न धर्म-मतों, सम्प्रदायों, साधना-पद्धतियों एवं संस्कृतियों के उद्भव–विकास एवं संम्मिश्रण के साथ हुआ है । इन सब साम्प्रदायिकमतों का ईश्वर, जीव, सृष्टि, बन्ध, मोक्ष, मोक्षके उपाय आदि के सम्बन्ध में अपना-अपना दर्शन या बौद्धिक चिन्तन है । इस बौद्धिकविचार-भेद के आधार पर ही योग की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ योगसूत्र, पुराण, तंत्रसाहित्य, सिद्धसाहित्य, बौद्धसाहित्य, शैवसाहित्य, नाथ-साहित्य एवं हठयोगसाहित्य आदि में मिलती हैं; परन्तु इन सबमें सदाचार का पालन, भावनाओं की निर्मलता, कामना एवं अहंकार का त्याग, वैराग्य, गुरु एवं ईश्वर की भक्ति, चित्त की अन्तर्मुखता, ईश्वर-संयम, प्रार्थना, धारणा एवं ध्यान का अभ्यास आदि बातें सामान्यरूप में मिलती हैं । साधक के स्वभाव, संस्कार, शिक्षा, अभिरुचि, कुलपरम्परा आदि का विचार करके अधिकारीभेद के अनुसार प्रारम्भ की साधना-विधियों में कुछ भेद होता है, परन्तु एक बार द्वैत और नानात्व के क्षेत्र मन तथा बुद्धि की सीमा का अतिक्रमण कर लेने के बाद सभी अध्यात्मचेतनालोक की सामान्य भावभूमि में पहुँच जाते हैं । स्कन्दपुराण (काशीखण्ड ४१ । ४२-४३) का कहना है कि बहिर्मुख सर्वेन्द्रियों को मन में, मन को आत्मा में, आत्मा को ब्रह्म में, युक्त करना ही ध्यान है, योग है । इनसे अतिरिक्त शेष बाते ग्रंथविस्तार मात्र हैं । जैसे कुमारी कन्या स्त्री-सुख को

नहीं जानती, इसी प्रकार योगाभ्यास नहीं करने वाला स्वसंवेद्य अनिर्देश्य ब्रह्मसुख को नहीं जानता। योग का नित्य एवं सतत अभ्यास करने वाले को ही समाधि में ब्रह्मसुख संवेद्य होता है। स्कन्दपुराण (काशीखण्ड ४१। ४५-४७) का कहना है कि जिसका मन एवं सभी चेष्टायें ब्रह्मप्राप्ति में ही केन्द्रित हैं, जो अभ्यास के श्रम से खिन्न नहीं होता, केवल आत्मा ही जिसका संगी है तथा जो दृढ़ निश्चयपूर्वक ध्यानाभ्यास में लगा रहता है, वह आत्मक्रीड, आत्मतृप्त, आत्माराम साधक इसी जीवन में ही ब्रह्म को पाकर ब्रह्मीभूत हो जाता है।

> अभियोगात्सदाभ्यासात्तत्रैव विनिश्चयात्।
> पुनः पुनरनिर्वेदात्सिध्येद्योगो न चान्यथा॥ ४५॥
> आत्मक्रीडस्य सततं सदात्ममिथुनस्य च।
> आत्मन्येव सुतृप्तस्य योगसिद्धिर्न दूरतः॥ ४६॥
> अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति।
> आत्मारामः स योगीन्द्रो ब्रह्मीभूतो भवेदिह। ४७॥

योग की परम्परा बहुत प्राचीन काल से ही आगम एवं निगम-मार्ग के भेद से दो धाराओं में प्रवाहित होती आ रही है। आगम-धारा के प्रवर्तक एवं आद्य उपदेष्टा भगवान् आदिनाथ सदाशिव हैं तथा यह धारा प्रमुख रूप से हठयोग, तंत्रयोग, पाशुपतयोग एवं सिद्धयोग के नाम-भेद से प्रवाहित हुई है। निगममार्ग वेदप्रतिपादित मार्ग है। वेद में उच्चकोटि की आध्यात्मिक उपलब्धियों एवं साधनाविधियों के रहस्यपूर्ण संकेतात्मक वर्णन मिलते हैं। वैदिक साधनापद्धति में योग, विद्या, उपासना, भक्ति या भजन, ये शब्द समानार्थक रूप से मिलते हैं। उपनिषद्-काल में 'विद्या' शब्द का प्रचलन अधिक था। योग शब्द का अधिकप्रचलन श्वेताश्वेतरउपनिषद् के समय के बाद हुआ था। इस समय तक योग के अवान्तर भेदों का प्रचलन नहीं हुआ था। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ही प्रथमबार ध्यानयोग (१। ३) शब्द का उल्लेख हुआ है। पीछे ब्राह्मणयुग में वैदिक श्रुति का कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड के भेदों के रूप में विभाजन होने पर योगमार्ग का भी कर्मयोग एवं ज्ञानयोग के नाम से विभाजन हुआ, जिसका उल्लेख त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् (मंत्रभाग २३–२७) में मिलता है। इसमें भी निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति ज्ञानयोग से ही बताई गयी है। यही दोनों भेद अविद्या एवं विद्या नाम से उपनिषदों, देवीभागवतपुराण एवं विष्णुपुराण में वर्णित हैं। शिवसंहिता (१। २०—३२) में भी कर्मकाण्ड

एवं ज्ञानकाण्ड का वर्णन है तथा ज्ञानकाण्ड को योगमार्ग बताया गया है, जो नित्यनैमित्तिककर्मों में आसक्ति का परित्याग करके ही प्रवृत्त होता है। 'आत्मा-वाऽरेश्रोतव्यो मन्तव्यः, आत्मा का ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं साक्षात्कार करना चाहिये, यह बृहदारण्यक उपनिषद् का श्रुतिवाक्य ही ज्ञानकाण्डात्मक योगमार्ग का आधार है। महाभारत में, भगवद्गीता में कर्ममार्ग से योगनिष्ठा का एवं ज्ञानमार्ग के नाम से सांख्यनिष्ठा का वर्णन है। अष्टांगयोग-मार्ग के सबसे प्राचीन वक्ता महर्षि हिरण्यगर्भ हैं, जिन्होंने 'योगानुशासन' नामक बृहद्ग्रंथ की रचना की थी। महर्षिपतंजलिकृत योगसूत्र इस 'योगानुशासन' ग्रंथके आधार पर ही रचा गया है। इस परम्परा का इसके बाद कोई स्वतंत्रग्रंथ नहीं मिलता। वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा प्रोक्त जिस योग का प्रचलन विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियों की परम्परा में हुआ था, वह भी श्रीमद्भगवद्गीता एवं अनुगीता में पुनः प्रोक्त किये जाने पर भी इससे आगे अधिक पल्लवित एवं विकसित नहीं हो सका। आचार्य यम द्वारा नचिकेता को उपदिष्ट योगविधि एवं ब्रह्मा द्वारा अपने ज्ज्येष्ठपुत्र अथर्वा को दी गयी ब्रह्मविद्या क्रमशः कठोपनिषद् एवं मुण्डकोपनिषद् में स्मृतिमात्र बन कर रह गयी है। यही स्थिति उपनिषदों में वर्णित अनेक ब्रह्मविद्याओं की है। इन प्राचीन योगविधियों या ब्रह्मविद्याओं के लुप्त होने कारण सम्भवतः यह था कि इनकी विधियाँ गुरु–शिष्य परम्परा में ही उपदिष्ट की जाती थीं। अनधिकारीपात्र को ये विद्याएँ किसी भी कीमत पर नहीं दी जाती थीं। ऋषिदध्यङ्ऽथर्वा का उदाहरण स्पष्ट है, जिन्होंने शिर काट देने की धमकी देने पर भी इन्द्र को मधुविद्या का रहस्य नहीं बताया था, परन्तु सत्पात्र शिष्य के रूप में अश्विनी देवताओं के प्राप्त होने पर इन्द्र द्वारा अपना शिरच्छेद कर दिये जाने की चिन्ता किये बिना उन्हें मधुविद्या का उपदेश दे दिया था। आगममार्गानुयायी शिवसंहिता का मत (१। २६) है कि सृष्टि कर्मबन्धमयी है तथा पाप एवं पुण्य, दोनों प्रकार के कर्मों से दुःख होता है। अतः मुमुक्षु योगसाधक को सर्वत्र आत्मदर्शन का अनुभव होने तक आसक्ति एवं फलवासना का परित्याग करके सभी वर्णाश्रमकर्मों को करना चाहिये। सर्वत्र एकात्मदर्शन होने पर सतत आत्मनिष्ठ होने की अवस्थिति प्राप्त होने पर कर्म-परित्याग में दोष नहीं है।

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१। ३) एवं अद्वयतारकोपनिषद् में तारकयोग एवं अमनस्कयोगके भेद से दो प्रकार के योग का वर्णन है। वराहोपनिषद् (५। १०)

में केवल तीनयोगों, मंत्र, लय एवं हठ का ही वर्णन है । यहाँ हठयोग को अष्टांगसयुक्त बताया गया है-(लयमंत्रहठायोगा योगो ह्यष्टांगसंयुतः) । शिवसंहिता (५ । १४) में मंत्र, हठ, लय एवं राजयोग नाम से योग के चार भेदों का वर्णन मिलता है । इसी ग्रंथ में प्रतीकोपासना का भी वर्णन है तथा राजयोग के एक अन्यभेद राजाधिराजयोग का भी । योगतत्त्वोपनिषद् (१९) का कहना है कि योग पारमार्थिकरूप से एक होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से मंत्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग,-इन चार नामों से भिन्न-भिन्न हो जाता है । योगशिखोपनिषद् (१ । १२९-३०) के अनुसार मंत्रयोग आदि एकही महायोग की क्रमशः अपली-अगली चार भूमियाँ हैं--

> मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ताभूमिकाः क्रमात् ।
> एक एव चतुर्धांयं महायोगोऽभिधीयते ।।

इस उपनिषद् के गुरूपदेश के अनुसार श्वास-प्रश्वास की विपरीत गति से सुषुम्णा नाड़ी में प्रवाहित होने पर "हस", "हंस" का विपरीत होकर 'सोऽहं, सोऽहं' रूप में जप होने लगता है, यही मंत्रयोग है । सूर्य एवं चन्द्र के एकीकरण को हठ कहते हैं । हठयोग के द्वारा जब जड़ता पर पूर्ण नियंत्रण हो जाता है एवं जीव तथा परमात्मा का ऐक्य हो जाता है, तब उस ऐक्य के सिद्ध होने पर चित्त लीन हो जाता है । पवन स्थिर हो जाता है एवं तब लययोग का उदय होता है । लययोग का उदय होने पर स्वात्मानन्दरूप परमसुख की प्राप्ति होती है । रज और रेत के योग को राजयोग कहते हैं । रज जपाबन्धूक-सदृश वर्ण का देवीतत्व है । राजयोग से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं । इन चारों योगों में प्राणापान का समायोग होता है । (प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम् १ । १३८) इन चारों योगों में यद्यपि प्रणवोपासना होती है तथापि वेदान्तयोगप्रधान उपनिषदों में प्रणवयोग के अंग के रूप में हंसविद्या, हंसयोग, वैराजविद्या, अजपागायत्री एवं नादानुसंधानविद्या का वर्णन भी मिलता है । कहीं-कहीं भावनायोग एवं सहजयोग को मिलाकर योग के छः भेदों का वर्णन भी मिलता है । कहीं-कहीं, किन्हीं-किन्हीं योग-भेदों के स्वरूप-निर्धारण में भी अन्तर मिलता है । मंत्रयोग को कहीं तो गुरु से प्राप्त इष्टदेवता के मंत्र का जप बतलाया गया है तो कहीं नादानुसन्धान । योगशिखोपनिषद् के अनुसार सुषुम्णानाड़ी में सोऽहं, सोऽहं का जप मंत्रयोग है । एक अन्य व्याख्या के अनुसार मन्ता को तारने वाला सम्यक् ज्ञानस्वरूप का अनुसन्धान ही मन्त्रयोग है ।

लययोग का वर्णन कहीं पर नादानुसंधान के रूप में है तो कही पर चित्त का परमतत्व में लय के रूप में। वराहोपनिषद् (५ । १०) पर ब्रह्मयोगी की टीका के अनुसार हठ, लय, मंत्र एवं हठ, इन तीन योगों का क्रम साधना की दृष्टि से विपरीत है। उसके मत में मृदु मंत्रयोग का नादानुसन्धान के रूप में अभ्यास करना होता है, क्योंकि नाद सभी मंत्रों का मूल है । नादानुसन्धान से लययोग की प्राप्ति होती है । नादानुसन्धान (मंत्र) का हेतु है हठयोग। अत: साधना की दृष्टि से इनका क्रम होगा; प्रथम हठयोग, उसके पश्चात् मंत्रयोग, (नादानुसन्धान) एवं उसके पश्चात् लययोग। देवीभागवतपुराण (७ । ३५ । २६–६०) ज्ञेय ब्रह्म के ज्ञान के लिये मंत्राभ्यास एवं योग, दोनों का साथ-साथ अभ्यास आवश्यक मानता है । दोनों में से अकेले-अकेले कोई भी समर्थ नहीं है। जैसे तम से पूर्ण गृह में स्थित घट दीप-ज्योति के द्वारा दिखाई पड़ता, है इसी प्रकार यह मायाकृत आत्मा गुरूपदिष्ट मंत्र के अभ्यास से प्रत्यक्ष हो जाता है ।

> मंत्राभ्यासेन योगेन ज्ञेयज्ञानाय कल्पते।
> न योगेन विना मंत्रो न मंत्रेण विना हि सः ॥ ६० ॥
> द्वयोरभ्यासयोगोहि ब्रह्मसंसिद्धिकारणम्।
> तमः परिवृत्ते गेहे घटो दीपेन दृश्यते ॥ ६१ ॥
> एवं मायावृतो ह्यात्मा मनुनागोचरीकृतः ।

वाराहोपनिषद् (अ० १ एवं अ० ३) में तत्वज्ञान तथा भगवद्भक्ति को मोक्ष का आवश्यक साधन बतलाया गया है । ये दोनों साधन ही योगाश्रित हैं। विष्णुपुराण एवं श्रीमद्भागवतपुराण में सर्वत्र योगांगों के साथ भक्ति का उल्लेख मिलता है। स्कन्दपुराण काशीखण्ड (२२ । ११०) का कहना है कि तत्वार्थ का अनुशीलन ही योग है। योग के बिना ज्ञान नहीं हो सकता है। इसी पुराण (काशीखण्ड ४० । ४१) का कहना है कि आत्मज्ञान होने पर ही परमात्मा के प्रति भक्ति दृढ़ होती है। आत्मज्ञान योग के बिना नहीं हो सकता है । अत: भक्ति का अवलम्बन भी योग है। यह योग चिर काल के अभ्यास से ही सिद्ध होता है ।

> आत्मज्ञानेन भक्तिः स्यात् तच्च योगादृते न हि।
> स च योगश्चिरकालमभ्यासादेव सिध्यति ॥

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१ । १ । २) ने ज्ञानसंहिता यमाद्यष्टांग के अभ्यास को ही योग माना है—

'ज्ञानसहितयमाद्यष्टांगयोग उच्यते ।'

विभिन्न योगपद्धतियों में उनकी दार्शनिक मान्यता एवं साधना-प्रणाली के अनुसार छः, सात, आठ, दस या पन्द्रह अंगों का वर्णन किया गया है । ध्यानबिन्दूपनिषद् (४१), गोरक्षपद्धति (१ । ७), योगचूड़ामणि उपनिषद् एवं योगमार्तण्ड (२) में आसन, प्राणसंनिरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि—इन छः अंगों का षडंगयोग के नाम से वर्णन मिलता है । अमृतोपनिषद् (६) में वर्णित योग के ६ अंगों में आसन की गणना नहीं है । उसके स्थान पर तर्क (आगम का अविरोधी ऊहन) का उल्लेख है । बौद्धषडंगयोग में आसन के स्थान पर 'अनुस्मृति', इष्टदेव के प्रतिविम्बाकार दर्शन का वर्णन मिलता है । योगचूड़ामणि (१०९–११०) के अनुसार षडंगयोग के अभ्यास द्वारा आसन से रोग, प्राणायाम से इन्द्रियों एवं सूक्ष्मशरीर के दोष तथा प्रत्याहार के द्वारा मानस–विकार नष्ट होते हैं । धारणा के अभ्यास से चित्त स्थिर होता है, ध्यान द्वारा अद्भुत योगैश्वर्यों की प्राप्ति होती है एवं समाधि द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है । घेरण्डसंहिता (१ । ९–११) में घट (शरीर) का शोधन कर स्थिर योगदेह की प्राप्ति के लिये षट्कर्म आसन, मुद्रा. प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान एवं समाधि–इन सातयोगांगों का वर्णन मिलता है । उपर्युक्त षडंगयोग के आरम्भ में यम और नियम, इन दो और योगांगों को संयुक्त कर अष्टांगयोग का वर्णन योगतत्वोपनिषद् (२४—२५), वराहोपनिषद् (५ । ११–१२), शाण्डिल्योपनिषद् (१ । १ । ३), त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् (मंत्रभाग २८-३२), दर्शनोपनिषद् (१ । ४–५) योगसूत्र, स्कन्दपुराण (वैष्णवखण्ड ३० । ९) माहेश्वर खण्ड ५५ । ११), विष्णुपुराण एवं मार्कण्डेयपुराण आदि में मिलता है । हठयोगप्रदीपिका २ ।२६ की ब्रह्मानन्दकृत ज्योत्स्नाटीका मे राजयोग के पंचदशांग एवं दशांग–इन दो रूपों का वर्णन मिलता है । अपरोक्षानुभूति (१०२–१२४) तथा तेजोबिन्दूपनिषद् (१ । १५–३७) में यम, नियम, त्याग, मौन, देश, (विजन), काल आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान एवं समाधि—इन पन्द्रह योगांगों का ब्रह्मज्ञानमयी दृष्टि से विवेचन कियागयाहै ।

योगसाहित्य का अध्ययन करने वाले एवं योग के जिज्ञासुओं में प्रायः सामान्य धारणा यह पाई जाती है कि षडंगयोग हठयोग है तथा अष्टांगयोग

पातंजलयोग अथवा योगसूत्रप्रोक्त राजयोग है, परन्तु यह धारणा गलत है। पातंजल योगसूत्र को छोड़कर षडंगयोग एवं अष्टांगयोग के वर्णन के उपर्युक्त सभी स्थलों में हठयोगप्रोक्त आसन, प्राणायाम, कुण्डलिनीयोग, चक्रवेध, धारणा, ध्यान, नादानुसंधान समाधि आदि क्रियाओं का वर्णन मिलता है। योगतत्वोपनिषद् (२४–२७) में स्पष्ट रूप से हठयोग का वर्णन साष्टांगयोग के रूप में मिलता है तथा इस ग्रंथ में यम, नियम आदि अष्टांग के साथ महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरी, जालन्धर आदि बन्धत्रय, दीर्घप्रणवसंधान, सिद्धान्त-श्रवण, वज्रोली, अमरोली, एवं सहजोली को हठयोग का अंग माना गया है।

यह मान लेना भी भूल है कि षडंगयोग यम और नियम की उपेक्षा करता है अथवा योगसाधना में उसे आवश्यक नहीं मानता। षडंगयोग में आसन आदि छः अंगों का वर्णन नित्य अभ्यास की जाने वाली योगक्रियाओं की प्रमुखता की दृष्टि से किया गया है। षडंगयोग भी यह मानता है कि योगी की व्रतचर्या में यय–नियमों का महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु उनका उल्लेख अलग योगांगों के रूप में न मिलकर योगसाधना में सिद्धिदायकगुणों के रूप में अथवा योगविद्या के लिये अधिकारी शिष्य के लिये आवश्यक गुणोंके रूप में मिलता है। तेजोविन्दूपनिषद् १। ३ में योगसाधक के लिये जितेन्द्रिय, जितक्रोध, जितसंग, यताहार, निर्द्वन्द, निरहंकार, निराशीः (कामनारहित) एवं अपरिग्रही होना आवश्यक माना गया है। अमृतनादोपनिषद् (२७) में योगी के लिये भय, क्रोध, आलस्य, अतिस्वप्न, अतिजागरण और अनाहार का त्याग आवश्यक बताया गया है। हठयोगप्रदीपिका में ब्रह्मचर्य, मिताहार, त्याग, योगपरायणता, (१। ५७) सर्वचिन्ताविसर्जन (१। १४) उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय, एवं जनसंगपरित्याग (१। १६)–इन गुणोंको योगसाधना में सिद्धि पाने के लिये आवश्यक बताया गया है।

यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि योगतत्त्वोपनिषद्, वराहोपनिषद्, दर्शनोपनिषद्, देवीभागवपुराण (७। ३७) आदि में अष्टांगयोग के अंग के रूप में जिन यम और नियम का वर्णन मिलता है, वे योगदर्शनप्रोक्त नहीं हैं, अपितु वे संख्या और स्वरूप की दृष्टि से भिन्न प्रकार के हैं। त्रिशिखब्रा० मंत्रभाग (३२—३४), दर्शनोपनिषद् (प्रथमखण्ड एवं द्वितीयखण्ड) तथा देवीभागवतपुराण (७। ३५–३६) में दस प्रकार के यम (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार एवं शौच) तथा दशविधनियम

(तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति जप एवं व्रत (होम) का वर्णन मिलता है। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (१ । १ । ३-४) में गुरुभक्ति, सत्यमार्गानुरक्ति, वैराग्य आदि नवविध नियमों का तथा शीतोष्णाहार, निद्राजय, सर्वदाशान्ति, निश्चलत्व एवं विषयेन्द्रियनिग्रह—इन चार प्रकार के यमों का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार आसन, प्रत्याहार, धारणा आदि अन्य योगांगोंके स्वरूप एवं संख्या के विषय में भी विभिन्न दृष्टिकोणोंका परिचय भिन्न-भिन्न योगग्रंथों में मिलता है। आसनों के विषय में किसी ने दो, किसी ने चार, किसी ने सात या नौ और किसी ने ग्यारह आसनों को प्रमुख मानकर वर्णन किया है। सभी योगग्रंथ सिद्धासन एवं पद्मासन को योगसाधना के लिये श्रेष्ठ आसन मानते हैं। इन दोनों में भी प्राणायाम के अभ्यास के लिये पद्मासन को तथा ध्यान और जप के अभ्यास के लिये सिद्धासन को उत्तम माना गया है। प्राणायाम (कुम्भक) के अभ्यास के पूर्व नाड़ी-शोधन की : क्रिया को सभी आवश्यक मानते हैं। शाण्डिल्योपनिषद् १ । ५ में प्रणवात्मक प्राणायाम के अभ्यास पर बल दिया गया है। इसी उपनिषद् (१ । ८, १ । ९) में तथा दर्शनोपनिषद् (७, ८) में पाँच प्रकार के प्रत्याहार एवं पाँच प्रकार की धारणा का वर्णन मिलता है। हठयोग में पंचभूतों की धारणा के अभ्यास पर बल दिया गया है तो तंत्रयोग में चक्रधारणा के अभ्यास पर। घेरण्डसंहिता में ध्यान के तीन भेदों एवं समाधि के छः भेदों का वर्णन मिलता है। ये भेद पातंजलदर्शनप्रोक्त समाधि के सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात, सबीज एवं निर्बीज भेदों से अलग है।

यह विचार भी कि ध्यान एवं समाधि का विषय केवल पतंजलिप्रोक्त योगदर्शन अथवा राजयोग में ही मिलता है, गलत है। सभी योगप्रणालियों में धारणा ध्यान एवं समाधि का वर्णन मिलता है, क्योंकि ये ही योग के प्रमुख अंग हैं, परन्तु प्रत्येक योगप्रणाली की साधना-विधि एवं लक्ष्य में भेद के अनुसार धारणा, आदि के अभ्यास से प्राप्त होने वाले फल में भी भेद होता है। इसी प्रकार हठयोग को भी केवल प्राणायामप्रधान योगसाधना का मार्ग मान लेना भी भूल है। यदि ऐसा होता तो इसमें नादानुसंधान, शांभवीमुद्रा, खेचरीमुद्रा, मूलधारणा, षोडशाधारों में धारणा एवं ध्यान, समाधि आदि का एवं योगैश्वर्यों की प्राप्ति का वर्णन नहीं होता। हठयोग के ग्रंथों में हठयोग एवं राजयोग, दोनों का वर्णन मिलता है तथा दोनों के परस्पर पूरक होने के कारण दोनों का अभ्यास साथ-साथ करने का उपदेश मिलता है।

हठंविना राजयोगो राजयोगं बिना हठः।
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्॥
(हठयोगप्रदीपिका २। ६७)

वस्तुतः 'हठयोग' शब्द के पूर्वांग "हठ" शब्द के दक्षिण और वामस्वर या प्राण और अपान के सीमित अर्थ में प्रयोग ने हठयोग के सम्बन्ध में बहुत भ्रम फैला दिया है। वस्तुतः पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड में दृश्य या अदृश्य, व्यक्त या अव्यक्त सभी द्वन्द्वों का चेतना के सभी स्तरों पर समायोग करके वैषम्य दूर कर उनमें ऐक्य सम्पादित करके निर्द्वन्द्व, प्रशान्त, सामरस्य की परमोच्च अवस्था को प्राप्त करना—हठ शब्द द्वारा प्राचीन संकेतिक अर्थ था। इस अर्थ की पुष्टि योगशिखोपनिषद् (१। ६८,६९) द्वारा होती है, जो प्राण और अपान, रज और रेत, सूर्य और चन्द्र तथा जीवात्मा और परमात्मा—इस प्रकार के सभी द्वन्द्वजालों के संयोग को योग कहा जाता है यथा—

योऽपानप्राणयोरैक्यं रजसोरेतसस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं हि द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते॥

योगशिखोपनिषद् (१।४५) की टीका में टीकाकार ब्रह्मयोगी ने "हठ" शब्द को अद्वैतज्ञान में दृढ़बोध का वाचक माना है। उनकी व्याख्या के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त देहादि की सत्ता नहीं है, इस दृढ़बोध को ही "हठ" कहते हैं, इस अद्वय ब्रह्म का बोध कराने वाला योग हठयोग है। प्राणतोषिणी-तंत्र के अनुसार हठात्, अकस्मात् ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला योग हठयोग है। हठयोग के नामकरण के सम्बन्ध में इन व्याख्याओं को देखते हुए हकार एवं ठकार के वाच्य सूर्य, चन्द्र अथवा प्राणापान, शिवशक्ति आदि शब्दों के संकेतितार्थ को बहुत सूक्ष्म, व्यापक एवं उदात्त अर्थ में लेना चाहिये।

हठयोग-विद्या के हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, गोरक्षपद्धति आदि सभी ग्रन्थों का कहना है कि हठयोग की आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि सभी क्रियाओं के अभ्यास का उद्देश्य राजयोगपद की प्राप्ति के लिये है। यह राजयोग शब्द भी प्राचीन काल में केवल पतंजलिप्रोक्त योग के अर्थ में सीमित नहीं था, अपितु चित्तस्थैर्यकारक होने से श्रेष्ठयोगपद्धति (योगों का

राजा उत्तमयोग; राजज्योतिर्मयब्रह्म का प्रापक योग) के व्यापक अर्थ में प्रचलित था । प्रत्येक योगपद्धति अपनी उच्चतम साधनापद्धति को राजयोग के नाम से पुकारती थी । तांत्रिकयोग की किसी रज-वीर्य निरोधक मैथुनमयी क्रियाविधि का नाम भी राजयोग था । योगतत्वोपनिषद् (१२६-१२६) में रज-विन्दु के संयोग या समरसीकरण को राजयोग नाम दिया गया है । इस राजयोग के तीन क्रियांग हैं–'वज्रोली, सहजोली एवं अमरोली । आगे चल कर तांत्रिक प्रभाव के कारण इन क्रियाओं का समावेश हठयोग की पद्धति में भी हो गया है । इन क्रियाओं का वर्णन योगचूड़ामणि उपनिषद् (५६-६४), हठयोगप्रदीपिका (३ । ८३-१०३), योगमार्तण्ड (५८-६४) एव शिवसंहिता (४ । ७८-१०४) में मिलता है । इन क्रियाओं का फल है रज एवं बिन्दु की सिद्धि, दिव्य शरीर की प्राप्ति, खेचरी सिद्धि एवं मुक्ति में भी मुक्ति की प्राप्ति, परन्तु अमरौघप्रबोध (१६), में भगवान् गोरक्षनाथ ने इन क्रियाओं की निन्दा की है तथा सुषुम्ना में प्राण-प्रवेश के बाद चित्त की साम्यावस्था की प्राप्ति को ही अमरोली, वज्रोली एवं सहजोली बताया है । घेरण्डसंहिता में वर्णित वज्रोलीमुद्रा विपरीतकरणी से मिलती-जुलती है, उसमें दोनों हथेलियों को भूमि पर स्थापित करके भुजाओं के सहारे ऊर्ध्वपाद एवं अधःशिर होकर स्थित हुआ जाता है । अमरौघप्रबोध में राजयोग के दो भेदों—आध्यात्मिक एवं औषधियों का वर्णन मिलता है । हठयोगप्रदीपिका (४ । ७७) में ध्येय के साथ एकीभूत चित्त को राजयोग नाम दिया गया है । मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में राजयोग के दो भेदों–तारकयोग एवं अमनस्कयोग का वर्णन मिलता है । भगवान् आचार्य शंकर ने अपरोक्षानुभूति नामक ग्रन्थ में अखंडब्रह्माकारवृत्ति के उदय होने को राजयोग माना है । उनका यह मत है कि वासनाहीन शुद्धचित्त वालों के लिये ही राजयोग सुलभ और सिद्धिदायी होता है । अतः जिनका चित्त अभी विषयवासना के कारण मलिन है, उन्हें हठयोगसहित राजयोग का अभ्यास करना चाहिये—किंचित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः (१४३) । शिवसंहिता (५ । २०३) में सहस्रारचक्र में कुलाख्य परमेश्वर में चित्तवृत्ति को लीन करके समाधि में स्थित होने की प्रक्रिया को राजयोग नाम से अभिहित किया है तथा मन को आलम्बनहीन बना कर, निरहंकार हो पूर्ण आत्मरूप हो जाने को राजाधिराजयोग नाम से संकेतित किया है । मण्डलब्राह्मणोपनिषद् के चतुर्थ ब्राह्मण में नवचक्र, षडाधार, त्रिलक्ष्य एवं व्योमपंचक का सम्यक् ज्ञान तथा इनसे सम्बन्धित योगसाधना का समन्वितरूप

राजयोग है। ऐसा संकेत दिया गया है। योगचूड़ामणि उपनिषद् (३) में षडाधार के स्थान पर षोडशाधार पाठ मिलता है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में भी योगी के लिये नौ चक्रों, सोलह आधारों आदि का ज्ञान एवं उनसे सम्बन्धित योगक्रियाओं में सुदक्ष होना अत्यन्त आवश्यक बतलाया है।

> नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
> सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः॥
> (सि० सि० प० २।३१)

योग की एकही साधना-प्रणाली में भी पात्रभेद एवं साधनाभूमि के स्तरभेद के अनुसार योग के विभिन्न अंगों के स्थूल तथा सूक्ष्म स्वरूप के अभ्यास का वर्णन मिलता है। प्रारम्भ में साधना में स्थूलदृष्टि ही प्रधान रहती है। परन्तु योगांगों के अभ्यास के फलस्वरूप तमोगुण एवं रजोगुणरूपी मलावरण के क्रमशः क्षीण हो जाने के साथ-साथ ज्यों-ज्यों बुद्धि में ज्ञानदीप्ति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उसकी बुद्धि अधिकाधिक सूक्ष्मग्राहिणी होकर योगांगों के ब्रह्मचैतन्य-संयोजक वास्तविक स्वरूप को समझने लगती है। तब इस साधक की सभी चेष्टायें ब्रह्मोन्मुख, ब्रह्मसंयुक्त ब्रह्मकेन्द्रित एवं ब्रह्मसमर्पित होती जाती हैं। ऐसी ब्रह्ममयी चेष्टाओं एवं योग-सुसाधनाओं के फलस्वरूप साधक आत्मनिष्ठ होकर ब्रह्म में वास करने लगता है। दर्शनोपनिषद् के प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में यम एवं नियम के भेदों के स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों रूपों की व्याख्या की गयी है। अपरोक्षानुभूति तथा तेजोविन्दूपनिषद् में योग के पन्द्रह अंगों का विवेचन सूक्ष्म योग की दृष्टि से किया गया है। त्रिशिखब्रा० एवं मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में सूक्ष्मअष्टांगयोग का ही वर्णन मिलता है। निर्विशेषब्रह्म की प्राप्ति इस सूक्ष्म अष्टांगयोग के अभ्यास से ही होती है। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद् (मंत्रभाग २८-३२) के अनुसार देहेन्द्रियों में वैराग्य यम है, परतत्व में सतत अनुरक्ति नियम है। सर्ववस्तुओं मे उदासीनता "आसन" है, यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, ऐसी प्रतीति प्राणायाम है, चित्त का अन्तर्मुखी-भाव प्रत्याहार है, चित्त का निश्चलीभाव धारणा है, 'मैं वह चिन्मात्र ही हूँ'— ऐसा चिन्तन ध्यान है तथा ध्यान की विस्मृति समाधि है। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार विषयव्यावर्तनपूर्वक चित्त को चैतन्य में स्थापित करना धारणा है तथा सर्वशरीरों मे एकचैतन्य के विस्तार का निश्चय एवं प्रतीति होना (सर्वशरीरेषु चैतन्यैकता) ध्यान है। योगांगों के स्थूल स्वरूप के अभ्यास के समय उनके सूक्ष्म संकेतार्थ को भी विचार में रखना चाहिये, तभी उन योगांगों का स्थूल क्रियाभ्यास सफल होगा।

.....'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के (द्वितीयोपदेश ३२-३६) में अष्टांगयोग का वर्णन मुख्यतया सूक्ष्मयोग की दृष्टि से किया गया है, परन्तु यम, नियम, आसन एवं प्राणायाम के स्वरूप-विवेचन के समय इन अंगों के स्थूल रूप का भी वर्णन मिलता है। इस अष्टांगयोग के वर्णन के पूर्व नवचक्र, सोलह आधार, तीन लक्ष्य एवं पाँच-व्योम का स्वदेह में ज्ञान तथा उनसे सम्बन्धित योग-क्रियाओं का पूर्ण अभ्यास योग होने के लिये आवश्यक बताया गया है (२ । ३१) । इसके पूर्व प्रथमोपदेश में ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड की उत्पत्ति के तत्वज्ञान का वर्णन है। इसका अभिप्राय यह है कि योगसाधना आरम्भ करने से पूर्व साधक को योगसाधना के क्षेत्र ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड की उत्पत्ति का, इनके घटनातत्वों का, इनमें कार्य करने वाली दैवी एवं प्राकृतिक शक्तियों तथा गुणों का, सृष्टि तथा प्रलय का, सृष्टि के क्रमिक विकास की तारतम्य अवस्था का, ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड के परस्पर सम्बन्ध का, पिण्ड में ब्रह्माण्ड की शक्तियों की अवस्थिति आदि का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। योगसाधना की विकसित अवस्था में जब सूक्ष्म जगत् में प्रवेश होता है तथा विभिन्न देवशक्तियों के दर्शन होते हैं अथवा विभिन्न प्रकार की शक्तियों पर वशीत्व स्थापित करके उन्हें प्रयोग में लाना होता है या सूक्ष्म जगत् में साधना-सम्बन्धी कोई बाधा आ उपस्थित होती है, तब यह सैद्धान्तिक ज्ञान बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। जिस क्षेत्र में भी कार्य करना हो, उस क्षेत्र का सही-सही यथासम्भव पूर्ण एवं विस्तृत ज्ञान बहुत आवश्यक है। योगसाधना का क्षेत्र तो अणु से महत्तत्वपर्यन्त, क्षुद्र देवता से लेकर ब्रह्म देव तक, क्षुद्रविघ्नों से लेकर महान् आसुरी शक्तियों से संघर्ष तक, पाताल से लेकर आदित्यलोक तक, क्षुद्र आनन्द से लेकर परब्रह्म के ऐश्वर्य तथा आनन्दभोग तक विस्तृत है। अतः ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड का तत्वज्ञान बहुत ही आवश्यक है। इसके बाद साधना का अभ्यास-क्रम शुरू होता है, जिसका संकेत 'नवचक्र कलाधारम्' (२ । ३१) श्लोक में दिया गया है। 'नवचक्रम्' एवं 'षोडशाधारम्' शब्द के द्वारा हठयोग की सम्पूर्ण साधना-प्रक्रिया का संकेत दे दिया गया है। नवचक्र शब्द के द्वारा चक्रभेदन से सम्बन्धित सभी आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, कुण्डलिनी शक्ति का उद्‌बोधन एवं सहस्रार में प्रवेश, खेचरी मुद्रा, अमृतपान, पंचभूतधारणा, नादानुसन्धान आदि अभ्यास संकेतित हैं। षोडशाधार शब्द पादांगुष्ठ से लेकर सहस्रार तक में धारणा, ध्यान एवं उनसे प्राप्त सिद्धियों एवं योगैश्वर्यों की सूचना देता है। त्रिलक्ष्य एवं पंचव्योम शब्द राजयोग के दो भेद तारक तथा अमनस्क योग की साधना का संकेत देते हैं, त्रिलक्ष्य के अनुसन्धान से शांभवी मुद्रा सिद्ध होती है, जिसका पर्यवसान अमनस्कयोग की सिद्धि तथा

अक्षरब्रह्म में अवस्थिति में होता है। अमनस्कयोग द्वारा ब्रह्मानुभूति एवं ब्रह्म में अवस्थित हो जाने के बाद इस ब्रह्माकारवृत्ति को सतत स्थायी एवं दृढ़ बनाने के लिये सूक्ष्म अष्टांगयोग का अभ्यास सहज एवं स्वाभाविक रूप से होने लगता है। तब इन्द्रियों एवं मन की वृत्ति सहज ही शान्त तथा नियंत्रित रहती है। साधक सहज ही अपने शुद्ध आत्मचैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हैं। उसे प्राण निरोध के लिये प्रयत्न नहीं करना पड़ता। उसके प्राण हृदयस्थ ब्रह्मचैतन्य के साथ एकत्व को प्राप्त होकर स्थिर रहते हैं। इन्द्रिय-मार्गों द्वारा वाहर जाती हुई चैतन्यतरंगों को सभी कुछ आत्मा ही प्रतीत होता है तथा बहिर्जगत् में आत्मातिरिक्त अन्य सत्ता का अभ्यास न पाकर विषयाभाव में वे पुन: लौटकर आत्मचैतन्य में ही उपशमित हो जाती हैं। बाह्याभ्यन्तर सर्वत्र निजतत्वस्वरूप या ब्रह्मतत्व की ही अनुभूति होने से उसकी चित्तवृत्ति निर्वातदीप की भाँति अचल रहती है। सर्वत्र अद्वैत आत्मभाव का स्फुरण होते रहने से उसे सर्वभूतों में आत्मभाव तथा समदृष्टि की प्राप्ति हो जाती है। इसके पश्चात् ही वह अनायास ही समाधि की अवस्था को, सर्वतत्वों की समावस्था को, समरसता की दशा को या परमआनन्द पद को प्राप्त कर लेता है। यही श्रीगोरक्षनाथसम्मत सिद्ध अष्टांगयोग है। सिद्धयोग की साधना का सामान्यकाल बारहवर्षों का है। इस योगसाधना-काल के बीच में ही कभी वह परम दुर्लभ पुण्य का क्षण आता है, जब परमकारुणिक नाथस्वरूप सिद्ध अवधूत सद्गुरु की कृपा प्राप्त होती है तथा वे शांभवी दीक्षा द्वारा क्षणमात्र में सच्छिष्य के पाशाष्टक का नाश करके तत्क्षण शिष्य को स्वसंवेद्य परमशांभवपद का, सर्वानन्दतत्व का अनुभव करा देते हैं। इस परमपद की अनुभूति चित्त की निरुत्थान दशा तथा स्वात्मचैतन्यसुख में विश्रान्ति से नित्य तृप्ति सद्गुरु की कृपा के बिना संभव नहीं है। श्रीसद्गुरु के वचनमात्र से, दृष्टिपात करके पादावलोकन से, शक्तिपात से अथवा इच्छामात्र से दीक्षा प्रदान कर शिष्य को परम पद की अनुभूति एवं प्राप्ति करा सकते हैं। ऐसे सद्गुरु की नित्य ही सर्वांग प्राणिमात्र के द्वारा स्तुति एवं भक्ति करनी चाहिये। श्रीसद्गुरु की कृपा से परमपद में स्थिति प्राप्त होने के बाद दैहिक साधनों के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती। जब तक ऐसे सिद्ध अवधूत गुरु की कृपा न प्राप्त हो तब तक अप्रमत्त रहकर नित्य सतत योगांगों के स्थूल एवं सूक्ष्मरूप का अभ्यास निष्काम भाव से अपनी साधना को ईश्वर को समर्पित करते हुए करते ही रहना चाहिये। सिद्धसिद्धान्तपद्धति पाँचवें अध्याय का यह वचन स्मरण रखना चाहिये।

अतएव सम्यग् निजविश्रान्तिकारकं महायोगिनं सद्गुरुं सेवयित्वा

सम्यक् सावधानेन परमं पदं सम्पाद्य तस्मिन् निजपिण्डे च समरसभावं कृत्वाऽत्यन्तनिरुत्थानेन सर्वानन्दतत्वे निश्चलं स्थातव्यम् । ततः स्वयमेव महासिद्धो भवतीति । ५६ ॥ एनानि साधनानि सर्वाणि दैहिकानि परित्यज्य परमपदेऽदैहिके स्थीयते सिद्धपुरुषैरिति । ६३ ॥

कथनाच्छक्तिपाताद्वा यद्वा पादावलोकनात् ।
प्रसादात् स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥ ६५ ॥

सिद्ध चर्पटीनाथजी की

चर्पटवनी

चर्पटवनी योगिराज चर्पटी नाथ की योगसिद्धि की सजीव प्रतीक है । यह पुण्यस्थली पंजाब प्रदेश के गुरुदासपुर जनपद में पठानकोट के सन्निकट ही स्थित है । योगिराज चर्पटीनाथ इस रमणीय वन के लता-वृक्षों के शान्तिमय वातावरण में तप करते हुए अलखनिरञ्जन परमात्मा के ध्यान में स्थित थे कि वन के स्वामी के मन में सन्देह हुआ कि कहीं योगिराज इस पर अधिकार न कर लें, उसने उनसे इस स्थान का परित्याग कर चले जाने का आग्रह किया । वैराग्यराज्य के अवधूत योगसिद्ध चर्पटीनाथ के लिये उस स्थान का कोई महत्व ही नहीं था । उन्होंने वन का त्याग कर प्रस्थान ही किया था कि उनके पीछे-पीछे वन के लता-वृक्ष चल पड़े । अद्भुत बात थी । वन के मालिक ने योगिराज से वहीं निवास करने की प्रार्थना की । चम्बा राज्य के तत्कालीन अधिपति महाराज साहिल्लदेव यौगिक चमत्कार से आकृष्ट होकर उनके दर्शन के लिये उपस्थित हुए, वे निस्सन्तान थे । योगिराज चर्पटीनाथ के आशीर्वाद से उन्हें कन्यारत्न की प्राप्ति हुई । एक दिन योगिराज चर्पटवनी में शिष्यों के साथ सत्संग कर रहे थे कि एक बारात जा रही थी । सांसारिक वैषयिक जीवन से विरक्त योगिराज ने बारात का आशय पूछा तो कहा गया कि स्त्री-पुरुष का विवाह होगा । उन्होंने भोलेपन में विवाह करने का संकल्प किया कि राजा साहिल्लदेव ने उन्हीं के आशीर्वाद से प्राप्त कन्या उनके चरण में समर्पित कर दी । ब्रह्मचर्यव्रत में अडिग योगिराज वैवाहिक बन्धन से दूर रहे और राजकन्या चम्पा ने उनके सन्निधान में योगसाधना में सिद्धि पायी । चम्बा राज्य में चम्पा देवी का मन्दिर उसकी सिद्धि का स्मारक है । चर्पटवनी तब से आज तक सुरक्षित है और पंजाब सरकार का कठोर आदेश है कि कोई भी व्यक्ति चर्पटवनी के लता-वृक्ष न काटे । चर्पटवनी प्रायः बीस एकड़ भूमि में विस्तृत है ।

सिद्ध-सिद्धान्त और पिण्डपदसामरस्य

डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जन

"चरमसत्य" एक ही हो सकता है, उसे जैसा जिसने देखा, अपरोक्षानुभूति की, वैसा कहा । फिर कहने की भी एक सीमा है—अभिधा की सीमा है और 'व्यंजना' तो 'भग्नावरणा चित्' ही है । अतः उस शक्ति के सहारे 'वह' अनुभवैक-वेद्य है । उसी चरम सत्य की अभिव्यक्ति त्रैवर्णिक 'निगम' भी कहते हैं और ावर्णिक 'आगम' भी । व्याख्या 'निगम' की भी द्वैत और अद्वैतपरक की गई और आगम की भी, पर 'निगम' की 'अद्वैत' व्याख्या से 'आगम' की 'अद्वैत' परक व्याख्या भिन्न हैं । 'निगम' की व्याख्या द्वारा अद्वैत का जो स्वरूप आचार्यपरम्परा ने निखारा है, वह 'निर्विशेष','अकर्ता' तथा 'सजातीय', 'विजातीय', एवम् 'स्वगत'— सर्वविध भेदविवर्जित है । 'आगम' सम्मत 'अद्वैत' का अर्थ भिन्न है, वह 'सम' है, उसमें 'शक्ति और शक्तिमान्' का सामरस्य है । वहाँ 'एक में दो' समरस हैं । नाथयोगियों का शिव—'द्वैतवादद्वैतरूप' द्वयतउत परं योगिनं शंकरं वा' है । क्या कहा जाय—द्वैत, अद्वैत या दोनों से परे ? अर्थात् ऐसा अद्वैत जिसमें द्वैत भी समाया हुआ है । यह विश्वासात्मक भी है और विश्वोत्तीर्ण भी । सारा विश्व इसी की शक्ति का महाविष्कार है—रूपान्तरण है—अज्ञान-विजृम्भण नहीं है । सिद्धों का मत आगमसम्मत है, इसीलिये परतत्वविषयक निजी धारणा का समर्थन करने के लिए प्रत्यभिज्ञाशास्त्र तथा वामकेश्वर तंत्र को 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' में उद्धृत करते हैं ।

अलुप्तशक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् ।
पुनः स्वेनैव रूपेण एक एवावशिष्यते ॥
(सि० सि० प० ४ । १२)

चरमतत्व सर्वात्मना स्फुरित हो सकता है, होता है, इसीलिये वह शक्तिमान् कहा जाता है । पुनः सबको आत्मसात् करता हुआ सर्वातीत भी हो सकता है । वामकेश्वरतन्त्र को भी वहीं उद्धृत करते हुए कहा गया है ।

शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन।
स्वशक्त्या सहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत्॥

तात्पर्य यह है कि आगमसम्मत 'अद्वय' में 'द्वय' का निषेध नहीं, अन्तर्भाव है; दो का नित्य सामरस्य है, सिद्धमत में आगमों का 'अद्वय' ही स्वीकृत हुआ है। वह जड़ और चेतन का आत्यन्तिक विरोध नहीं मानता। जो लोग दोनों में भेद मानते हैं, वे नाथ-सिद्धों की दृष्टि से भ्रान्त हैं। बात यह है कि जब तक जड़ और चेतन में पार्थक्य है, तब तक देह-सिद्धि किस प्रकार संभव होगी? सिद्ध-देह और आत्मस्वरूप के बीच कोई भेद परमार्थतः नहीं है। कहना तो यह चाहिये कि देह-सिद्धि के बिना आत्मस्वरूप की उपलब्धि हो ही नहीं सकती। सिद्धगण उस दर्शन और साधना में आस्था रखते हैं, जो जड़ (देह) और चेतन (आत्मस्वरूप) में तात्विक अभेद स्वीकार कर उसको उपलब्ध करने की दिशा में बढ़ता है। इनका योग इसी योग या सामरस्य के लिये है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में छह उपदेश हैं—पिण्डोत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार, पिण्डपदसामरस्य और नित्य अवधूत लक्षण। भारतीय संस्कृति की एक असाधारण विशेषता यह है कि वह ज्ञान से आचरण को निरन्तर जोड़ती रहती है। इसीलिये वह 'पिण्ड' 'पद'—सामरस्य से पूर्व 'पिण्ड' एवं 'पद' का सम्यक् विज्ञान देती है—तदनन्तर आचरण की ओर प्रेरित करती है। केवल ज्ञान 'ततो-भूयस्तमः' की ओर ले जाता है और केवल क्रिया 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति' की ओर। अतः 'उभयं सह' का समर्थन किया गया है। तभी 'मृत्युंतीर्त्वा'······अमृतत्व-मश्नुते' सम्भव है।

सिद्धमत में परमतत्व का सृष्ट्यात्मक अवरोहण निरूपित करते हुए कहा गया है कि विश्वोत्तीर्ण दशा का तत्व अनामा कहा जाता है। उसकी निजा शक्ति है, इस निजा शक्ति के उन्मेष से पराशक्ति और उसके स्पन्दन से अपरा, उससे सूक्ष्मा और उससे कुण्डलिनी। इस शक्तिपञ्चक से परशिवात्मक परपिण्ड की व्यक्ति होती है, उसके बाद अनाद्यपिण्ड, आद्यपिण्ड, महासाकारपिण्ड, प्रकृतिपिण्ड तथा गर्भोत्पत्तिपिंड का क्रम है। सिद्धमत में बड़े विस्तार से अवरोहण-क्रम निरूपित हुआ है। यहाँ उसका विस्तार सम्भव नहीं है। जिज्ञासु जन 'सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति' में इसका विस्तार देख सकते हैं। कविराज गोपीनाथजी ने पिण्ड-क्रम इस प्रकार कहा है—परपिण्ड, साकारपिण्ड, प्राकृतपिण्ड अवलोकन' गर्भपिण्ड।

अवरोहण के अनन्तर आरोहण की प्रक्रिया, पारमेश्वर शक्तिपात-गुरुदीक्षा तथा साधककृत उपाय से सम्भव है। आरोहण में 'पिण्ड' का 'परमपद' में विलयन होता है। जिस क्रम से अवरोहण है, उसके विपरीत क्रम से आरोहण। पिण्ड अथवा देह का ज्ञान सम्यक् सिद्ध होने पर परमपद से उसका सामरस्य स्वभावतः प्रतिष्ठित हो जाता है।

सिद्धमत 'तत्वबोध से ही मुक्ति होती है'-इस बात को अविकल रूप से स्वीकार नहीं करता। वह ज्ञान को खड्गस्थानीय मानता है और योग को युद्ध तथा वीर्यस्थानीय। यदि वीर्य या बल न हो और उसके साथ युद्ध न किया जाय तो केवल खड्ग से विजय-लाभ नहीं किया जा सकता, इसलिये ये लोग ज्ञानयुक्त योग या योगयुक्त ज्ञान को ही ग्राह्य मानते हैं। सिद्धमत उक्तविध योग-मार्ग को ही सन्मार्ग मानता है और एकमात्र सद्गुरु ही इस मार्ग का निर्देशक है। केवल ज्ञानमार्ग से इसका एक व्यतिरेक और है और वह है-पिण्डसिद्धि। ज्ञानमार्ग में देह के परिपक्व न होने से प्रारब्ध जय नहीं किया जा सकता, किन्तु योग की अग्नि से संस्कृत देह पर प्रारब्ध का कोई वश नहीं है। सिद्धमत में माना जाता है कि कुण्डलिनी शक्ति की दो दशाएँ हैं-प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध वा सुप्त। कुण्डलिनी की प्रबुद्ध दशा ही परासंवित् है। सद्गुरु की कृपा से कुण्डलिनी की प्रबोधावस्था में होनेपर देह-सिद्धि होती है। यह देहसिद्धि या पिण्डसिद्धि इस धारा की असाधारण विशेषता है। सिद्ध देह पर प्रारब्ध का प्रभाव नहीं होता। ज्ञानमार्ग में संचित ज्ञान दग्ध हो जाता है और क्रियमाण कोई संस्कार पैदा नहीं करता, पर प्रारब्ध का भोग देह को करना ही पड़ता है।

सिद्धों की साधनापद्धति का जहाँ ज्ञानमार्ग से व्यतिरेक है, वहीं क्रमागत मार्कण्डेयप्रवर्तित हठयोग तथा वज्रयानी तांत्रिकों के षडंग हठयोग से भी भेद है। नाथ-पंथ या सिद्धमत समर्थित 'योग' से प्राण और अपान के संयोग से देह में स्थित चन्द्र और सूर्य का ऐक्य-सम्पादन होता है। इस एकीकरण के प्रभाव से तीव्र अग्नि का विकास होता है, यही योगाग्नि है, इस चिन्मयी अग्नि के अनुप्रवेश से धातुमय शरीर दग्ध होता है और अभिनव चिद्देह का आविर्भाव होता है। यही सिद्धदेह है, प्रारब्धवश होनेवाले व्याधि, विकार, जरा-जन्म इसपर असर नहीं डाल सकते।

सिद्धमत में सारी योग-साधना कुण्डलिनी को ही केन्द्र में रखकर की जाती है और एतदर्थ प्राणसाधना अपेक्षित है। प्राण-साधना सम्यक् रूप से (सिवासिद्ध मत के) अन्यत्र अनालोचित है। प्राण की जय से चित्तजय और चित्त की जय से स्वरूप की अपरोक्षानुभूति होती है। प्राणजय का अर्थ उसकी स्थिरता है और

स्थिरता का अर्थ प्राणापानात्मविरोधी प्रवाह की समाप्ति है, जिसके फलस्वरूप चिदग्नि या कुण्डलिनी का प्रबोध होता है। यह महाशक्ति प्रबुद्ध होकर परिच्छेदक चक्रों को समभावापन्न कर देती है और उनको आत्मलीन करती हुई निरालम्ब स्थान पर पहुँच जाती है, तब परम शिवरूप से एकात्म हो जाती है। जिस बिन्दु से चक्रों की उत्पत्ति होती है, उसी बिन्दु में वे सब विलीन हो जाते हैं। चरमावस्था में एकमात्र यही परम शक्ति रह जाती है और परम शिव में परमभाव से स्थिर हो जाती है। 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' में कहा गया है—

'सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां निरुत्थानदशायां वर्तते तदा शिवः स एव भवति। अतएव कुलाकुलस्वरूप सामरस्यनिजभूमिका निगद्यते'।

(सि० सि० प० ४। १-२)

कार्यदशा में जो पराशक्ति है, वही अकाय दशा में शिव है, वस्तु एक ही है, केवल कार्याकार्य-दशा की अपेक्षा से इनके भिन्न-भिन्न नाम हैं। तत्वतः वह अनामा है।

सिद्धमत में योग को कहीं कहीं महायोग कहा गया है—'एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।' यही महायोग मंत्र, लय हठ तथा राजयोग—जैसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। इन चारों प्रकार के योगों का एक ही सामान्य लक्षण है प्राणापानसमीकरण। इस समीकरण के लिये नाडी-शोधन की अपेक्षा है, जो शरीर में जाल की तरह फैली हुई है सिद्धगण अपनी साधना का आरम्भ नाभिचक्र से करते हैं, इसीलिये नाभिचक्र को सुषुम्णा का मुखद्वार कहा जाता है। देह में नाभि से सभी मार्ग निकले हैं, जो नाभिस्थित सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित हैं। नाड़ी और रश्मि को पर्याय मानने का यही रहस्य है। नाड़ी शक्ति का प्रवाह-मार्ग है। निष्कर्ष यह कि प्राण ही शक्ति है और नाड़ियाँ उस शक्ति-संचार के मार्ग। साधना से इसी अवरोध को भी हटाया जाता है। फिर यही वायु जब शुद्ध और सरल होकर सुषुम्णा में प्रवेश करती है, तो उसी को कुण्डलिनी-चैतन्य कहा जाता है।

इस प्रकार प्राणशोधन को केन्द्र में रखकर चलने वाली हठयोगी नाथसिद्धों की साधना से पिण्ड की शुद्धि हो जाने पर निरुत्थान पर्यवसायी प्रत्याहार, धारणा और ध्यान में सौन्दर्य आ जाता है। समाधि, जिसे राजयोग कहा जाता है, दृढ़ हो जाती है। समाधि को दृढ़ता से चिन्मयीकृत पिण्ड का पद से समरसीकरण हो जाता है।

सिद्धों को जगाने की कुमाऊंनी पद्धति--जागर

डा० मदनचन्द्र भट्ट
(इतिहास वि०, राजकीय स्नातकोत्तर म० विद्यालय गोपेश्वर, चमोली)

पिथौरागढ़ से आठ की० मी० की दूरी पर स्थित 'जाख' नामक गाँव में एक 'सिद्ध' का थान है। इसे स्थानीय लोग जाख का सिद्ध कहते हैं और इष्ट देवता मानते हैं। सिद्ध का थान एक लघु मन्दिर के रूप में है, जिसके अंदर लोहे के त्रिशूल, चिमटे और दिये गड़े हुए हैं और उनके सामने केवल एक व्यक्ति के बैठने का स्थान है। थान के प्रवेशद्वार के बाहर दो स्तम्भाकार पत्थर गड़े हुए हैं और दाहिनी ओर पूजा के अवसर पर भोजन तैयार करने के लिये रसोई की थाली है। बाँयी ओर एक विशाल धूनी है, जिसमें पूजा के अवसर पर अग्नि प्रज्वलित की जाती है। दो पर्वतीय नालों के संगमस्थल पर गहन अरण्य के बीच स्थित सिद्ध देवता की महिमा के अनेक किस्से आस-पास के गाँवों में प्रचलित हैं।

जाख का सिद्ध भूमिदेवता के रूप में प्रतिष्ठित है। जाख, पुरान, रौलंगू, मैलडुँगरी, विशाड़ आदि अनेक गाँवों के निवासी प्रत्येक फसल के पश्चात् नये अन्न से सिद्ध के थान में जाकर पूजा करते हैं। विवाह, पुत्रोत्सव अथवा अन्य किसी भी शुभकार्य के अवसर पर भी सिद्ध की पूजा की जाती है। जाख गाँव में नाथपंथी लोग रहते हैं, जो अपने नाम के पीछे 'गिरि' शब्द का प्रयोग करते हैं। देवगिरि नामक व्यक्ति के घर में सुरक्षित एक प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थ में इन योगियों का प्राचीन इतिहास और दैनन्दिन कर्मों का वर्णन मिलता है। इस पुस्तक के अनुसार ये योगी रामेश्वर मठ से सम्बन्धित थे, जो पूर्वी रामगंगा तथा सरयू के संगमस्थल पर आज रामेश्वर मन्दिर के रूप में प्रसिद्ध है। कैलाश-मानसरोवर-यात्रापथ पर स्थित होने से पुराकाल में रामेश्वर मठ का

विशेष महत्त्व था और नाथपंथ की शिक्षा-दीक्षा के साथ-साथ तीर्थ-यात्रियों के लिये पंथशाला का भी यह कार्य करता था। जाख के स्व० नरगिरि के घर पर ताँबे की एक प्राचीन नाली सुरक्षित है, जिसमें अलमोड़ा के चन्द्रवंशीय राजा दीपचन्द का लेख उत्कीर्ण है। दीपचंद ने पिथौरागढ़ जिले के सोर परगने के गाँव में प्रत्येक परिवार से फसल के पश्चात् एक नाली धान और गेहूँ एकत्र करने का अधिकार रामेश्वर मठ को दिया था। जाख के समीपस्थ गाँव मेलडुँगरी में दो प्राचीन ताम्रपत्र भी हैं, जिनमें रामेश्वर मठ को मध्यकाल में भूमिदान का विवरण है। जाख गाँव के समीप 'भारूड़ी' नामक स्थान पर एक प्राचीन नौले की दीवार पर भी एक शिलालेख है। यह नौला एक रानी ने यात्रियों की सुविधा के लिये बनवाया था। जाख गाँव के प्राचीन विवरणों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि सिद्ध देवता इन योगियों से सम्बन्धित हैं और बाद में भूमि-देवता के रूप में अन्य स्थानीय लोगों ने उसकी पूजा शुरू की। आज भी यह परम्परा है कि सिद्ध की पूजा के अवसर पर महिलायें थान के आस-पास नहीं जातीं; केवल पूजा करने वाले परिवारों के पुरुष ही पूजा में सम्मिलित होते हैं। यदि महिलायें वहाँ चली भी जायें, तो वे पूजा के समय भोजन नहीं बनातीं। यह माना जाता है कि सिद्ध महिलाओं द्वारा निर्मित भोजन स्वीकर नहीं करता।

साधारणतया यह माना जाता है कि सिद्ध देवता अपने थान के समीपस्थ जंगल में तपस्यारत रहा है और आज भी उसकी आत्मा इस क्षेत्र पर अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है। यह लोकविश्वास ईसाई धर्म के 'होली-स्पिरिट' की मान्यताओं से पूर्णतया साम्य रखता है। ईसाइयों के धर्म ग्रंथ 'बाइबिल' का सबसे महत्वपूर्ण विश्वास है—'होली स्पिरिट' का धर्म-प्रचार और जन-कल्याण में लगे अनुयायियों की सहायता करना। जिस प्रकार फाँसी पर चढ़ाये जाने के पश्चात् ईसा मसीह की पवित्र आत्मा ने अपने शिष्यों को धर्मप्रचार के लिये प्रेरित किया, उसी तरह जाख का सिद्ध भी अलौकिक प्रभाव से अपने अनुयायियों को धर्माचरण के लिये प्रेरित करता है और जो इसकी उपेक्षा करते हैं, उनको दण्ड भी देता है। ऋग्वेद का देववाद भी इसी परम्परा का प्राचीन स्वरूप है। ऋग्वेद में वर्णित देवता और बाइबिल में वर्णित प्रोफेट की तरह सिद्ध के सम्बन्ध में भी यह लोकविश्वास है कि वह प्रारम्भ में एक मानव की तरह पैदा हुआ। तपस्या और धर्म-प्रचार के कार्य में जीवन भर लगे रहने के पश्चात् वह अपने युग का एक चर्चित व्यक्ति बन गया। उसे अपने नये धार्मिक विचारों को फैलाने में कड़ विरोध का सामना करना पड़ा और अन्त में सफलता प्राप्त हुई। पिथौरा-

गढ़ में सिद्धों को चौरासी सिद्ध भी कहा जाता है, क्योंकि वे प्रारम्भ में 'चौरासी-माल' में रहते थे। 'चौरासीमाल' प्राचीन काल में कुमाऊँ के तराईभावर क्षेत्र का नाम था। जाख के सिद्ध के लिये भी यह मान्यता है कि वह माल का 'लाट-भरङणो' नाम का सिद्ध है, जो तराई-भावर से जाख में उसके अनुयायियों द्वारा लाया गया था। इन सिद्धों को 'बारहपंथ' के अन्तर्गत माना जाता है।

कुमाऊँ में चौरासी सिद्धों का मेला लगाया जाता है, जिसे 'बआसी' भी कहते हैं। यह मेला ग्यारह दिन और ग्यारह रात तक अर्थात् बाइस बार लगता है, जिससे 'बआसी' शब्द प्रचलित हुआ है। मेले का आयोजन गाँव के लोग सम्मिलित रूप से सिद्ध के थान में या किसी भी ग्रामीण के आँगन में करते हैं। कुमाऊँ-गढ़वाल से प्राप्त अनेक हस्तलिखित ग्रंथों में इस मेले का उल्लेख मिलता है। कुछ ग्रंथों में इस मेले को 'चौरासीय' भी कहा जाता है। चमोली जिले में पीपलकोटी के समीप 'नीरख' गाँव के उमेदलाल के घर में सुरक्षित हस्तलिखित पुस्तक में निम्नवत् उल्लेख है :—

'गुरू ध्यान बैठे। नौ नाथ चौरासी सीद बैठे। चौदह खली। चौदह गुरू। चौरासीय बैठे।'

चौरासी सिद्धों के मेले में समतल मैदान के बीच में धूनी जलाई जाती है, जो ग्यारह दिन और ग्यारह रात तक निरन्तर जलती रहती है, लेकिन रात्रि में धूनी से विशाल लपटें निकलती हैं। धूनी प्रज्वलित करने के बाद चार दिशाओं के लिये चार दीपक प्रज्वलित किये जाते हैं। धूनी से कुछ दूर पर ढोली, औजी, बावगी आदि बैठ जाते हैं और ढोल के गगनभेदी स्वर के साथ स्वर मिलाकर पाण्डव, गोरिया, गढ़देवी, कत्यूर, नरसिंह, भैरो, गंगनाथ, भोलानाथ, नौलिया, चूम, गुस्यानी आदि स्थानीय देवताओं में से किसी की भी कथा सुनाते हैं। उनके ठीक दूसरी ओर धूनी के पास में 'भगार' बैठे रहते हैं, जो उनके द्वारा गायी कथा को दुहराते रहते हैं। आँगन को चारों ओर ग्रामवासी और उनके इष्ट-मित्र बैठकर कथा का आनन्द लेते हैं। इसी भीड़ में कुछ ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जिन्हें गाँव वाले 'डंगरिया' कहते हैं। ऐसे व्यक्तियों के बारे में यह कहा जाता है कि उनके शरीर में सिद्ध गोरिया, गढ़देवी आदि का अंश है और इसी कारण उन्हें एक विशेष सदाचार का पालन करना पड़ता है। यदि वे उस सदाचार का पालन नहीं करते तो उनके पागल होने की शंका रहती है।

मध्यरात्रि में ढोल-नगाड़े की आवाज के साथ जब भगार किसी विशेष स्वर में सिद्ध गोरिया या चूम की विपत्ति की कथा सुनाने लगते हैं, तो अचानक भीड़ में से उछल कर 'डंगरिये' बाजे और धूनी के बीच में कूद पड़ते हैं और एक विशेष प्रकार का देव-नृत्य प्रदर्शित करते हैं, सिर, हाथ और पैरों को भयंकर कंपन देते हुए वे कभी-कभी आग में कूद जाते हैं, अंगारों को मुंह में रखते हैं। कुछ देर तक भयंकर उछल-कूद के बाद वे जोर से चीखते हैं और फिर एक स्थान पर बैठकर धीरे-धीरे सिर हिलाते रहते हैं।

ऐसी स्थिति आ जाने पर आस-पास खड़े लोग थोड़े चावल लेकर उस व्यक्ति के आगे रख देते हैं और वह तुरन्त चावल देने वाले की सारी समस्या और उसका समाधान बता देता है। ये समस्यायें चोरी, रोग, अनुचित दण्ड, अन्याय आदि से सम्बन्धित होती हैं। इस प्रक्रिया को 'जागर' कहते हैं अर्थात् जगाना। 'जागर' की सारी प्रक्रिया किसी सिद्ध आत्मा को उद्बोधन के द्वारा जगाना मात्र है। वैदिक यज्ञ-परम्परा भी इसी तरह की प्रक्रिया थी और यूरोप के 'पैगान धर्म' में भी इसी तरह के तत्व विद्यमान थे। 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' में यहूदियों के पैगम्बरों द्वारा अग्नि प्रज्वलित कर भेड़ तथा बैल की बलि देने के जो विवरण हैं, वे कुमाऊँ-गढ़वाल में प्रचलित जागरों से पूर्णतया साम्य रखते हैं। जिस तरह 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' में हजरत मूसा को किसी विशेष परिस्थिति में ईश्वर के आदेश मिलने का उल्लेख है, उसी तरह कुमाऊँ में भी यह लोक--विश्वास है कि सदाचारी और पवित्र विचार वाले व्यक्ति की आत्मा को जाग्रत् करने से दैवी सूचनायें प्राप्त की जा सकती हैं। वैदिक यज्ञ-परम्परा में भी इसी तरह देवताओं का आवाहन किया जाता था। जिस तरह आज चौरासी सिद्धों की मान्यता है, उसी तरह ऋग्वेद में तैंतीस देवताओं के आवाहन के उल्लेख मिलते हैं। जागर के अवसर पर बकरी की बलि देने का भी नियम है। जाख के सिद्ध देवता के साथ यह परम्परा है कि सिद्ध स्वयं बलि स्वीकार नहीं करता, उसके द्वारपालों को बलि दी जाती है। सिद्ध के उपासकों में से जो लोग स्वयं मांस का प्रयोग करते हैं, वे ही बलि देते हैं और जागर लगाते हैं। जो मांस का प्रयोग नहीं करते, वे सिद्ध के थान में पूजा के अवसर पर नारियल तोड़ते और रात्रि को जागर में भाग नहीं लेते।

चमोली--गढ़वाल में अलकनन्दा के बायें तट पर क्षेत्र है--'फर्स्वाण फाट'। इस क्षेत्र के गाँवों में सबसे अधिक संख्या है फर्स्वाण जाति के क्षत्रियों की, जिनका

इष्ट देवता जाख कहलाता है। पर्वतीय भाषा के विशेषज्ञों की यह धारणा है कि आधुनिक पहाड़ी भाषा का जाख शब्द प्राचीन संस्कृत शब्द यक्ष का अपभ्रंश है और चमोली जिले का जाख देवता की पूजा के साथ भी चौरासी सिद्धों के मेले की परम्परा है और यह मेला बारह वर्ष के पश्चात् लगाया जाता है। जाख देवता का देवनृत्य करनेवाला लोहे का एक छल्ला गरम करके अपने गले में पहन कर दिखाता है, जिसे 'जान्ती' कहते हैं। इस अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जाख देवता यक्ष-पूजा से नहीं, बल्कि सिद्धपूजा से सम्बन्धित है।

कुमाऊँ-गढ़वाल में चौरासी सिद्धों के मेले और 'बआसी' में सबसे महत्त्वपूर्ण गाथा है 'गोरिया' की। चम्पावत का गोरिलचौड़, अलमोड़े के पास चितँ का ग्वाल देवता और नैनीताल के समीप घोड़ाखाल का 'ग्वालाक' थान आज कुमाऊँ के लोकप्रिय मन्दिर हैं। पिथौरागढ़ में जाखगाँव से लगभग तीन कि० मी० पर स्थित थरकोट गाँव के निवासी कलुवा ढोली के पास गोरिया की जीवनी के सम्पूर्ण भाग सुरक्षित हैं। यह जीवनी 'धरमदास' नामक कवि ने पहाड़ी काव्य में निर्मित की है और उसके एक अंश से ही जागर के अवसर पर सिद्धों को जाग्रत किया जा सकता है। इस कथा के अनुसार गोरखनाथ नाम के एक सिद्ध 'रणवण' नामक स्थान में रहते थे। एक बार कालिनारा नाम की एक दुःखी और गर्भवती युवती आत्महत्या के विचार से उस जंगल में पहुँची :—

'बेटी कालिनारा हो-ओ, एक जागा गोरखनाथ आसन बैठीन हवाला।
बार वरसा का, सित छन हो-ओ—धुनि-पानि नीमा रै छ।
फूलवाड़ी सुकी बेर। भाड़ लागी रै छ।'

कालिनारा के दो पुत्र हरू और सैंम बाल्यकाल में गोरखनाथ के आश्रम में चले। उसकी पुत्री कालिका का विवाह चम्पावत के समीप घुमाकोट के राजा हलराय के साथ हुआ था। हलराय और कालिका का पुत्र था गोरिया, जिसने अपने मामा हरू और सैंम के साथ मिलकर हिमालय में नाथपंथ का प्रचार किया और ये नाथपंथी जोगी आज कुमाऊँ के ग्राम-देवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। हरू, सैंम और गोरिया क्षत्रिय कुल में उत्पन्न हुए थे और नाथपंथ स्वीकार करने के बावजूद भी उनमें राजहठ विद्यमान था। उनके विषय में निम्न उल्लेख मिलता है—

"गोरिया वट्गायो ! हंसुला घोड़ी की सतजुगी जीन होली !
कलजुगी लगाम। कंणोली कट्याल होली। डोर्याली चाबुक !

+ + + +

सुन चूड़ा पैराया। लम्बी झगुली। लम्बी फुरकी।
आव पैरनान। जोगील की साज। गुरू द्वारि चिमटा समा।
खरूवा की झोली। बिभूतों को ग्वाला॥"

जिस तरह रोमन साम्राज्य में ईसाई प्रचारकों को कैद किया गया, उसी तरह हिमालय में नाथपंथ के प्रचारकों को भी तंग करने के उल्लेख मिलते हैं। कैलास के यात्रा-पथ पर स्थित छिपुलाकोट में सैंम को और केदारखण्ड में गोरिया को कैद किये जाने का विवरण मिलता है। पौराणिक धर्म के अनुयायी गाँवों में गोरखनाथ के शिष्यों को भिक्षा मिलने में भी कठिनाई होती है। एक बार जोशी जाति के ब्राह्मणों के गाँव में जोगी गोरिया को भिक्षा माँगने में जिस उपेक्षा को सहना पड़ा, उसका वर्णन कवि धरमदास ने निम्नवत् किया है—

'तलि ज्वेशी गौं में पुज्यो। अलख जगूं छ।
दे माई भिछिया भैंस। भर मेरी चादर।
असती मुलुक में त। अलख जगा छ।
बुड़ि-बुड़ि ज्वेस्यान आव द ईसो वोलं छे।
त्वे दिनूं भिछिया जोगी गोदी में बालक।
वी दुसरि देली न्है ग्यो, अलख जगा छ।
त्वे दिनूं भिछिया मैंन। शिला लोड़ी हाथ।
वी तीसरि देली न्है ग्या। अलख जगा छ।
त्वे दिनूं भिक्षिया मैंत दोणी रवर म्यार जोगी।
वाछो फोकी द्यो छ। सारि तलि ज्वेशीमठ।
भिख्या कैले नीदिनी॥'

कुमाऊँ का ग्राम-देवता हरू, जिसे कवि धरमदास ने राजा हरिश्चन्द्र बतलाया है, कुमाऊँ में चौरासी सिद्धों और नौ नाथों की शिक्षा का प्रचारक रहा है और अधिक सम्भावना यही है कि उसने ही आधुनिक जागर-परम्परा शुरू की। वह सिद्धों की आत्मा को जाग्रत करने की एक विशिष्ट पद्धति का ज्ञाता था और आज जो मध्य हिमालय में देवनृत्य, उद्‌बोधन, जागर आदि की लोकप्रियता है, वह उसी की देन है। कवि धरमदास ने उसके आकर्षक व्यक्तित्व के बारे में लिखा है—

महासिद्ध जालन्धरनाथ

'मल्ली ज्वेशीमठ बैठ्या। पीपल चौरड़ी।
धांङ्ली बजाला। आंगुली नचाला।
मल्ली ज्वेशीमठ मेंत तैं नवाली पाट।
सोल सौ पनवारी आन। जोगी की रमौली लागीं।
सूए ! जोगी रौत तुम। जोग किलै ल्हीयो।
क्या उदेख लाग्यो। हलदुवा गात में त ! बीभूत कि पैर्‌यो।'

कथा के मध्य में जब-जब नाथपंथके प्रचारकों पर राजा, राजकर्मचारियों अथवा पौराणिक धर्म के अनुयायियों द्वारा अत्याचार के विवरण गाये जाते हैं, अचानक सिद्ध की आत्मा जाग जाती है और ऐसे अलौकिक कार्य सम्पन्न होने लगते हैं, जैसे बाइबिल में 'होली स्पिरिट्' के सन्दर्भ में वर्णित है।

कुमाऊँ में नाथपंथ के पुनर्गठन तथा आज तक लोकप्रियता के लिये चौरासी सिद्धों के मेले अथवा जागर को ही सबसे अधिक श्रेय दिया जाना चाहिये। आज के वैज्ञानिक वातावरण में भी यह पद्धति पूर्णरूपेण विद्यमान है। इसने इस्लाम और ईसाई-धर्म के प्रभुत्व के युग में भी अपनी महत्ता सुरक्षित रखी और आधुनिक नवीन जीवन के साथ भी यह पूर्ववत् लोकप्रिय रही है। यदि इससे सम्बन्धित समस्त हस्तलिखित पुस्तकें प्रकाशित हो जायें, तो इसका विस्तृत विवरण सुलभ हो सकेगा।

श्रीनाथतेज की वन्दना

वन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरहरं भानुतेजस्करं वा
सत्कर्तृव्यापकं वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा।
मुद्रानादत्रिशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं
द्वैतं वाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनं शङ्करं वा॥

जो संसार के अन्धकार का नाश करने के लिये साक्षात् सूर्य के प्रकाश के समान है, जो समस्त सत्कर्मों में परिव्याप्त है, जो प्राण वायु का संचालक है, जो आकाश के समान निर्भर है, जो मुद्रानादत्रिशूल से परिशोभित है, जो भस्मयुक्त खप्पर धारण करता है, जो द्वैत (सकल) और अद्वैत (निष्कल) है अथवा द्वैत और अद्वैत दोनों से परे महायोगी शंकर है, मैं उस श्रीनाथतेज (स्वरूप) की वन्दना करता हूँ।

[महासिद्ध योगेश्वर जालन्धरनाथ— सिद्धान्तवाक्य']

समत्वयोग और गुरुपद

कृष्णकान्त शुक्ल
(आकाशवाणी, गोरखपुर)

युगों से मनुष्य प्रयत्नशील है कि वह सत्य को जान ले । इसी प्रयत्न में कवि ने अपनी कल्पना तथा भावना को सत्य माना । वह उसकी खोज करता रहा और सत्य से वञ्चित रहा । गणितज्ञ की गणना ने एक दूसरा ही सत्य प्रतिपादित किया, किन्तु उसकी उपलब्धियाँ शून्य में ही सिमट कर रह गयीं। वैज्ञानिक अपनी विजय-पताका लेकर चाँद-सितारों पर पहुँच गया, परन्तु कामना की इतिश्री को नहीं प्राप्त कर सका । शास्त्रों के मर्मज्ञ अपनी तर्क की कसौटी पर सत्य को परखने में अनवरत लगे रहे पर निष्कर्ष हाथ न लगा । मनुष्यमात्र ने सत्य की प्राप्ति के लिये, न जाने, कितने गुरुओंके चरण-स्पर्श किये किन्तु मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना के कारण वह भी सत्य का साक्षात्कार न कर सका । ज्ञान की पवित्र अमृतधारा में, न जाने, कितनी बार जीवन ने गोते लगाये, पर मिला क्या ? सच्चे ज्ञान की उपलब्धि के लिये गुरु को अपूर्व महत्त्व प्रदान किया गया है । संत कवियों और साधकों ने ईश्वर के ज्ञान—कृपा की प्राप्ति को गुरु-कृपा से ही सम्भव बताया है । संत कबीर ने गोविन्द से भी अधिक गुरु को महत्व दिया है ।

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय ।
वलिहारो गुरु आपने, जिन गोविन्द दयो बताय ॥

क्या सत्य की प्राप्ति के लिये गुरु आवश्यक है ? इससे पहले यह जान लेना आवश्यक है कि क्या गुरु गुरु होने का पात्र है ? अब यहाँ क्या यह प्रश्न नहीं उठता कि यदि शिष्य में इतनी सामर्थ्य हो कि वह गुरु की पहचान कर सके तो उसे गुरु की आवश्यकता ही क्या ? यदि शिष्य में यह भावना आ जाती है तो गुरु के प्रति वह निष्ठा कहाँ रह पायेगी, जो शिष्य में होनी चाहिये, क्योंकि जब तक जीव के हृदय में एक निष्ठा की भावना नहीं जाग्रत् होती, तब तक सत्य के सन्निकट पहुँचना सम्भव ही कैसे हो सकता है ।

यह बात तो निश्चित है कि यदि गुरु परम पुरुष परमात्मा से तद्रूपता न प्राप्त कर सका तो अज्ञानी शिष्य पूर्ण लाभ नहीं प्राप्त कर सकता है, फिर भी क्या शिष्य को अधिकार है कि गुरु की इतनी छानबीन करे। जिस गुरु के चरणों में जीव अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित करने जा रहा है, उसके विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के लिये हर सम्भव प्रयास कर लेना अनुचित नहीं है। जब जीव को अपने गुरु की पूर्ण जानकारी हो जाती है, तब उसके हृदय में गुरु के प्रति एकनिष्ठा का जन्म होता है और तभी वह अपने जीवन की बागडोर गुरु के हाथों में सौंप कर निश्चिन्त हो सकता है। इसको इस प्रकार से समझा जा सकता है कि गुरु एक शक्तिशाली पावर-हाउस (मुख्य केन्द्र) है, जिसको अनन्त-शक्ति परमात्मा (मेन पावर हाउस, प्रमुख शक्तिकेन्द्र) से शक्ति मिल रही है। जब जीव का सम्बन्ध गुरु से जुड़ता है, तब शक्तिशाली गुरु जीवकी शक्ति का अन्दाज लगाता है कि यह (जीव) कितनी शक्ति धारण कर सकता है। धीरे-धीरे अपने ज्ञान और तर्क से वह उस धारक (जीव) की शक्ति को परखता है और जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि अब वह शक्तिशाली हो गया है, तभी वह जीव का सम्बन्ध (कनेक्शन) सीधे अनन्त शक्ति (मेन पावरहाउस–प्रमुख शक्तिकेन्द्र) से जोड़ देता है और अपने-आप को बीच से हटा लेता है और जीव (शिष्य) भी गुरु हो जाता है, पर यह प्रयोग शीघ्रता से सम्भव नहीं है। कभी-कभी सम्पूर्ण जीवन भी इस अवस्था की प्राप्ति के लिये कम हो सकता है।

गुरु की महिमा की चर्चा स्वयमेव एक सत्य है, जिसे किसी युग में नकारा न जा सका। आज भी सहजोबाई की ये पंक्तियाँ क्या सत्य के लिये चुनौती के रूप में प्रस्तुत नहीं की जा सकतीं।

राम तजूँ पर गुरु न बिसारूँ।
गुरु के सम हरि को न निहारूँ॥

अनेक संत-सम्पर्क के बाद जीव इस निष्कर्ष पर सहज ही पहुँच जाता है कि गुरु का स्थान सर्वोपरि है। गुरु के सत्संग का एक-एक क्षण दुर्लभ है। प्रत्येक क्षण उसी का चिन्तन ही सर्वोच्च और मुख्य साधन माना जा सकता है। यही है आत्मसमर्पण की चरम सीमा, जिसको गुरु-संग या सत्संग की संज्ञा दी जा सकती है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट कर दिया है कि गुणों

की समता से ऊँचा कोई योग-साधन हो नहीं है। उपनिषदों ने इसी को आत्मयोग कहा है। सबसे पहले साधनारत जीव पर यह दशा कुछ क्षणों के लिये आती है, फिर क्रमशः अभ्यास से उसकी मात्रा बढ़ायी जा सकती है। जब अभ्यास स्वभाव बन जाता है, तभी जीव के स्वभाव में समता की भावना का प्रादुर्भाव होता है और वह हर्ष, शोक, सुख, दुःख और रागद्वेष से परे हो जाता है। यह ऐसी अवस्था है, जिसमें जीव को कोई भी विचलित नहीं कर सकता और वह सर्वोच्च पद पर स्वयमेव पहुँच जाता है, जहाँ किसी प्रकार का आकर्षण व्यवधान नहीं बन सकता। यह स्थान माया से परे है। इस स्थान तक पहुँचने में जीव का एकमात्र सहारा है गुरु। सत्संग और गुरुकृपा से यहाँ तक पहुँचने में जल्दी हो जाती है। गीता में भगवान् योगेश्वर श्रीकृष्ण ने इसी समत्वयोग का प्रतिपादन किया है :—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

कर्म करने के समय उसमें लिप्त नहीं होना चाहिये, उसका फल हमारे अनुकूल होगा या विपरीत होगा, इधर दृष्टि भी नहीं करनी चाहिये। कर्म अच्छा होनेपर हर्ष न हो, उसके बिगड़ जाने पर शोक न हो, ऐसी समानता स्वभाव में लाना ही परम योग है। हृदय में रहने वाले (सत, रज और तम) गुणों का साम्यावस्था में ले आना मात्र ही कर्तव्य कहा जा सकता है। इस कार्य की सम्पन्नता समर्थ गुरु से ही सम्भव है। सभी संत और सूफियों ने सत्संग की महिमा पर प्रकाश डाला है। यह सत्संग एक साथ बैठकर भजन-कीर्तन करना मात्र नहीं है, न तो परस्पर बातचीत ही है, यह तो गुरु-शिष्य की एकरूपता का स्वरूप है। इसके लिये किसी प्रकार के तप, साधना की आवश्यकता नहीं है, यह तो केवल इस सत्य पर प्रतिष्ठापित है कि सभी धर्मों का परित्याग कर एकमात्र मेरे शरणागत हो जाओ।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

(गीता १८।६६)

यह शरण ही गुरुपद का वरण है।

जायसी-साहित्य में योग-सिद्धि

डॉ० गोपीनाथ तिवारी
(सत्यसदन, विंदवासिनी नगर, गोरखपुर)

मध्यकालीन निर्गुण धारा के प्रायः अनेक संत कवि तथा मुख्यतया हिन्दी सूफी कवि गुरु गोरखनाथ और उनके योगमार्ग से प्रभावित दिखाई देते हैं, विशेषतया संत कबीर और जायसी। जायसी मुस्लिम सूफी कवि हैं, तब भी वे योगमार्ग का वर्णन अपने साहित्य में करते हैं। जायसी योगमार्ग और उसकी सिद्धि का उल्लेख बार-बार करते हैं। अखरावट में वे सिद्धिप्राप्त अलखिया साधु के विषय में कहते हैं--

और उन्ह नावं सीखि जो पावा। अलखनावं लेइ सिद्ध कहावा।
(अख० ४१)

वह योगमार्गी शून्य में पहुँच कर सिद्ध हो जाता है--

इहै जगत कै पुन्नि, यह जप तप सब साधना।
जानि परै जेहि सुन्न, मुहम्मद सोई सिद्ध भा॥
(अख० २६)

इस सिद्धिप्राप्ति-मार्ग की साधनाओं का अंकन भी उन्होंने अपने साहित्य में किया है। सिद्धि का मार्ग है योग। योगमार्ग में गुरु गोरखनाथ का सबसे ऊँचा आसन है। योगमार्ग के प्रसार-प्रचार का सर्वाधिक श्रेय गुरु गोरखनाथजी को है। जायसी का मत है कि योग की सिद्धि तभी होगी, जब गुरु गोरखनाथ जैसा सिद्धगुरु प्राप्त हो जाय--

गुरु बिनु पथ न पाइय, भूलै सो जो मेट।
जोगी सिद्ध होय तब जब गोरख सों भेंट।
(पद्मावत)

योगमार्ग में गुरु का बड़ा महत्व है। यह मार्ग ही ऐसा है, जहाँ गुरु की आवश्यकता सबसे अधिक है, गुरु गोरखनाथजी स्वयं सिद्ध योगी थे, तब भी उन्हें मछीन्द्रनाथ को गुरु बनाना पड़ा था। जायसी मछीन्द्रनाथ का भी गुरुरूप में उल्लेख करते हुए कहते हैं कि सिद्धि प्राप्त करनी है तो दृढ़ विश्वास के साथ गुरु को ध्याओ—

लीन्हे सिधि संसा मन मारा। गुरू मछन्दरनाथ संभारा।
चेला परै न छाँड़हिं पाछू, चेला मच्छ, गुरू जस काछू॥
(पद्मावत)

जायसी-साहित्य में गुरु की अनिवार्यता प्रकट है, जिसके बिना साधक को सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है।

साधकरूप में जायसी ने प्राणायाम, नाद और शून्य अवस्था का चित्रण किया है। ये तीन प्रधान अंग हैं। योगमार्ग सरल नहीं है। अतः साहस और दृढ़ता के साथ इस ओर कदम बढ़ाना है। साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्त साधक, जो योगमार्गरूपी सागर में 'धंसता है, निडर हो कदम बढ़ाता है।

समुद न डरै पैठ मर जीवा। (पद्मावत)

नौ चक्राकार है यह शरीर। जायसी ने नौ (९) पौरी कहा हैं :—

नव पौरी बाँकी नव खंडा। नवौ जौ चढ़ै जाइ ब्रह्मंडा।
पौरो नवै वज्र कै साजी। सहस सहस तहँ बैठे पाजी।
नौ खण्ड नौ पौरी औ तहं वज्र केवार।
चारि वसेरे सौं चढ़ै सत सौ उतरै पार॥

चक्रों के विषय में तंत्रशास्त्रों और योगशास्त्रों में मतभेद है। किसी ने चार, किसी ने छह, किसी ने सात, किसी ने आठ, किसी ने नौ माने हैं। सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति में गुरु गोरखनाथजी ने नव चक्रों को 'पिण्डे नवचक्राणि' कहकर मान्यता दी है। जायसी भी नौ चक्रों को नौ पौरी के रूप में स्वीकृति देते हैं। इन नौ 'पौरियों' के पश्चात् 'दसवं' द्वार है। योगी कुण्डलिनी जाग्रत् कर इस दसवें द्वार पर पहुँचता है, जो शून्य अवस्था है। जायसी इस शून्य का वर्णन करते हुए अखरावट में लिखते हैं :—

जानि परै जेहि सुन्न मुहम्मद सोई सिद्ध भा (२६)
भा भल सोइ जो सुन्नहि जानै । सुन्नहि ते सब जग पह्चिानै ।
सुन्नहि ते है सुन्न उपाती । सुन्नहि ते उपजहि बहु भाँती ।
सुन्नहि मांझ इन्द्र ब्रह्मण्डा । सुन्नहि ते टीके नवखण्डा ।
सुन्नहि सात सरग उपराहीं । सुन्नहि सातौ धरति तराहीं ।

इस दसवें द्वार पर प्राणायाम-साधना से पहुँचा जाता है। प्राणायाम है प्राण और अपान वायु का समीकरण। प्राणायाम प्रधान साधन है योगमार्ग में, आसन उसका सहायक है। जायसी आसन का संकेत करके 'सब बैसहु बज्रासन मारी। गहि सुखमनापिंगलानारी' प्राणायाम को प्रश्रय देते हुए कहते हैं--

जाइ सो तहाँ साँस मन बांधी (पद्मावत)

प्राणायाम-साधना से कुण्डलिनी जाग्रत की जाती है। कुण्डलिनी सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ती है, तब नाद की उत्पत्ति होती है। दसवें द्वार में पहुँचकर साधक नादमय हो जाता है, वह आनन्द-लोक है, जिसका वर्णन कठिन है। पद्मावत में इसका वर्णन करते हुए कहते हैं--

नवौ खंड नव पौरी औ तंह बज्र केवार।
चारि बसेरे सौं चढ़ै सत सौं उतरै पार ॥
नाद, वेद मद, पैंड जो चारी। काया महँ ते लेहु बिचारी ॥
नाद हिए मद उपनै काया। जहँ मद तहाँ पैंड नहि छाया ॥
होइ उनमद जूझा सो करै। जोनके आँकुस सिर धरै।
जोगी होइ नाद सो सुना। जेहि सुनि काय जरै चौगुना ॥
(पद्मावत)

इन नवों चक्रों का भेदन चार साधनों, ज्ञान, कर्म, भक्ति और योग से हो सकता है। इनमें योग श्रेष्ठ है। योग द्वारा ऊर्ध्वमुखी कुण्डलिनी से दसवें द्वार तक पहुँचा जा सकता है। जब प्राणवायु और अपानवायु को प्राणायाम द्वारा एक कर लिया जाता है तब एक नाद उत्पन्न हो जाता है, साधक उन्मत्त हो उठता है। योगी ही इस नाद को सुन सकता है।

दसवं दुआर तारू का लेखा उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा।
जाइ सो जाइ साँस मन बंदो। जस धसि लीन्ह कान्ह कालिंदी।
(पद्मावत २२। २१६)

साधक दसवें द्वार में पहुँच कर समाधि की शून्य अवस्था में पहुँच जाता है—

गही पिंगला सुखमन नारी। सुन्नि समाधि लागि ओ तारी।
(पद्मावत २३। २३५)

इस सिद्धावस्था को पहुँचना ही तो योगी का लक्ष्य है। यहाँ पहुँच कर वह सिद्ध हो जाता है। जायसी ने कई स्थानों पर सिद्धिप्राप्त सिद्ध का अंकन किया है—

सिद्ध निसंक रैनि पै भंवहीं। ताकहि जहाँ तहाँ उपसवहीं॥
सिद्ध अमर काया जस पारा। छरहिं मरहिं बर जाइ न मारा॥
(पद्मावत २४। २४०)

सिद्ध अंग नहि बैठे माखी। सिद्ध पलक नहि लागै आंखी।
जोजग सिद्ध गोसाई कीन्हा। परगट गुप्त रहै को चीन्हा।
(पद्मावत २२। २१२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि जायसी ने योगमार्गीय सिद्धिप्राप्त सिद्धों का तथा उनके साधनों का अंकन प्रचुरता से किया है।

योगसाधना

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनी चञ्चला
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीनीलाम्बुवद् भङ्गुरम्।
लोला यौवनलालसा तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विधद्ध्वं बुधाः॥

समस्त विषयसुख क्षणभंगुर हैं, यह जानकर निरुपम सुख की प्राप्ति के लिये योगाभ्यास करना चाहिये। हे ज्ञानियो! शब्द, स्पर्श, रूप-रस और गन्ध-जन्य इन्द्रियविषय भोग उसी तरह चंचल और क्षणिक हैं, जिस तरह मेघसमूह में चंचलदामिनी चमकती और नष्ट हो जाती है—भोग विद्युत् के समान चंचल हैं, इसी तरह आयु—जीवन वायुद्वारा विघट्टित बादल में स्थित जलकण के समान विनश्वर है। प्राणियों की यह लालसा कि यौवन सदा बना रहे, चंचल है, इन सब बातों का अच्छी तरह विचार कर यथाशीघ्र धैर्यसमाधियुक्त अभ्यासपूर्वक योग-साधना में ही लग जाना चाहिये।

[योगसिद्ध भर्तृहरि : वैराग्यशतक—५८]
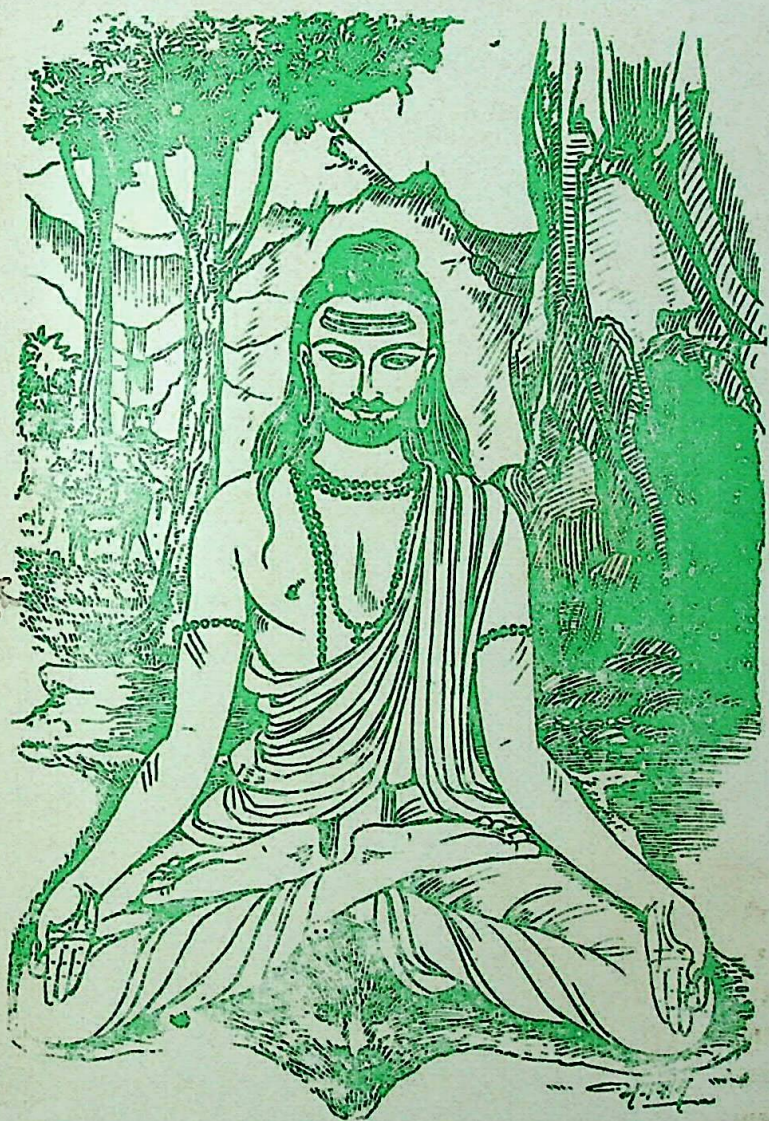
योगसिद्ध भर्तृहरि

हिरण्यगर्भ और सिद्धमार्ग

शिवनाथ दुबे
(गीतावाटिका, गोरखपुर)

भगवान् हिरण्यगर्भ योग के आदि आचार्य अथवा आदिवक्ता कहे जाते हैं। हिरण्यगर्भ निगम के धरातल-पर और भगवान् शिवके निगमागमसम्मत योग के स्तर पर आदिप्रवक्ता हैं। योगशिखोपनिषद् से यह बात सिद्ध होती है कि भगवान् शिव से हिरण्यगर्भ ने योगमार्गकी शिक्षा प्राप्त की। उस उपनिषद् में हिरण्यगर्भ ((पद्मसम्भव अज) श्रोता और आदि शिव वक्ता हैं। इन्हीं आदि शिव से मत्स्येन्द्रनाथ ने महाज्ञान—योग को सुना था तथा शिवस्वरूप गोरखनाथजी को प्रदान किया था। निष्कर्ष यह है कि योगमहाज्ञान के आदि-वक्ता भगवान् शिव हैं।

योग प्राचीनतम जीवन-दर्शन हैं। यह सार्वभौम और निष्पक्ष ज्ञान है, जिसको मानवमात्र अपने जीवन में चरितार्थ कर परमपद की प्राप्ति कर सकता है। हिरण्यगर्भ के सम्बन्ध में कहा गया है :—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषाविधेम॥
(ऋग्० १० । १२१ । १)

हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए, जो समस्त भूतोंके एक पति थे। उन्होंने इस पृथ्वी और स्वर्गलोक को धारण किया। उन सुखस्वरूप देव की हम पूजा करते हैं। उन योगपुरुप भगवान् हिरण्यगर्भ के वर्णन में उपनिषद् का कथन है कि यह सुनहरा पुरुष है जो सूर्य के अन्दर दीखता है, जिसकी सुनहरी दाढ़ी, मूँछें और सुनहरे बाल हैं, नखों से अग्रभाग तक स्वर्णमय है।

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यशमश्रु-हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्वं एव सुवर्णः।
(छान्दोग्य १ । ६ । ६)

महाभारत में कहा गया है कि हिरण्यगर्भ की वेद में स्तुति की गयी है। योगी इनकी नित्य पूजा करते हैं। संसार में इन्हें विभु कहा जाता है।

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः।
(महाभा० १२। ३४२। ९६)

औपनिषद ज्ञान के प्रकाश में योगशिखोपनिषद् में हिरण्यगर्भ के प्रति शिववर्णित योग शैवयोग है। योगियाज्ञवल्क्य के मत से योग के आदिवक्ता हिरण्यगर्भ ही हैं।

हिरण्यगर्भः योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।
(महाभा० १२। ३४९। ६५)

योगशिखोपनिषद् में आया है कि हिरण्यगर्भ ने भगवान् शंकर से पूछा कि हे देव! सभी जीव सुख–दुःख, माया-जाल से वेष्टित हैं, उनकी मुक्ति किस तरह हो सकती है। जो सर्वसिद्धि का मार्ग है, मायाजाल का जिससे नाश होता है, जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि का जो नाशक है, उस सुखद ज्ञान का वर्णन कीजिये।

सर्वे जीवा सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्तिः कथं देव कृपया वद शङ्कर॥
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद॥
(योगशिखोपनिषद् १। १। १-२)

योगेश्वर शिव ने उत्तर दिया कि कैवल्य परमपद सिद्धमार्ग योगमार्ग से ही प्राप्त होता है।

इति हिरण्यगर्भः पप्रच्छ सहोवाच महेश्वरः।
नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्॥
सिद्धमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव॥
(योगशिखोपनिषद् १। १। ३–४)

शंकरजी ने बतलाया कि परमात्मपद निष्कल, निर्मल, शान्त, सर्वातीत और निरामय है। यह सर्वभावपदातीत ज्ञानरूप निरंजन है।

सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपनिरञ्जनम् ।
(योगशिखोपनिषद् १ । १ । ७)

भगवान् ने इस उपनिषद् में विस्तार से आसन, प्राणायाम, नाड़ीशोधन, कुण्डलिनी-जागरण आदि का विवेचन करते हुए कहा है कि मन के उन्मन होने पर जीव पुण्य-पाप से परे होकर मुक्त हो जाता है।

मनसा मन आलोक्य मुक्तो भवति योगवित् ।
(योगशिखोपनिषद् ६ । ६३)

इसी योगज्ञान का हिरण्यगर्भ ने उपदेश दिया। कहा जाता है कि उन्हीं के योगसूत्रों के आधार पर महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र रचे। श्रीमद्भागवत में उनके द्वारा प्रदत्त योगज्ञान का उल्लेख है :

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत् ।
(श्रीमद्भा० ५ । १९ । १३)

सिद्ध जसनाथ

सिद्ध योगिराज जसनाथ को अमरकाय देहसिद्ध योगेश्वर गोरखनाथजी ने प्रत्यक्ष दर्शन देकर धन्य किया था। जसनाथ विक्रमीय सोलहवीं शती के प्रसिद्ध योगसिद्धों में परिगणित हैं। वे बाल्यावस्था में ऊटनियों को चराया करते थे। एक दिन प्रातःकाल योगमूर्ति गोरखनाथ ने उन्हें दर्शन देकर योगदीक्षा दी। जसनाथ ने गोरखनाथजी की आज्ञा से अपनी छड़ी जमीन में गाड़ दी और वहीं साधना करने लगे। यह स्थान नाथतीर्थों में विशिष्ट स्थान रखता है। यह गोरख मालिया कहलाता है। सिद्ध जसनाथ का उपदेश है कि सत्यमय संयमित जीवन अपनाना चाहिये। असत्य नहीं बोलना चाहिये। अपनी शरीररूपी पुस्तक में मन रूपी लेखनी से परमात्मा का चरित अंकन करना चाहिये। उनकी वाणी है :

जत सत रैणा कूड़न कैणा जोग तणी सहनाणी।
मन कर लेखण तण कर पोथी हर गुण लिखो पिराणी ।।
अभी चवै मुख इमरत बोलै, हालो गुरु फरमाणी ।।

सिद्धसिद्धान्तपद्धति में व्यक्त शक्ति पंचक की अवधारणा

डॉ० रामचन्द्र तिवारी

(अध्यक्ष : हिन्दी वि०, गोरखपुर विश्वविद्यालय)

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' नाथयोग का मान्य ग्रन्थ है। यह गोरखनाथकृत समझा जाता है। इसमें नाथमत के सिद्धान्तों का निरूपण बहुत ही सुलझे हुए क्रमबद्ध रूप में किया गया है। यह ग्रन्थ छः उपदेशों में विभक्त है। प्रथम उपदेश में "पिंड की उत्पत्ति", दूसरे में "पिण्डविचार", तीसरे में 'पिण्ड में ब्रह्माण्ड की स्थिति का बोध', चौथे में 'ब्रह्माण्ड के मूल आधार', परम आध्यात्मिक तत्व, पाँचवें में 'समरसकरण और उसके साधन' तथा छठें में 'अवधूत योगी की चर्या' का विवेचन किया गया है। "व्यक्ति-पंचक", "व्यष्टि-पिण्ड" की रचना के विश्लेषण-क्रम में 'भूत-पिण्ड', 'अन्तःकरण पंचक' और 'कुलपंचक' के बाद विवेचित है। यह सम्पूर्ण विवेचन पिण्ड की उत्पत्ति का आख्यान करने के लिये ही किया गया है। यह पिण्ड-रचना क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश —इन पाँच भूतों से की गई है, इसीलिये यह भूतपिण्ड है। गोरखनाथ ने पाँचों भूतों के गुणों का अत्यन्त मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। पिण्ड में जो कुछ स्थूल है, वह क्षिति के गुण से उद्भूत है। जो कुछ तरल है, वह जल के गुण से उद्भूत है। जो कुछ ओजमय है, वह अग्नि के गुण से उद्भूत है। जो कुछ गतिमय है, वह वायु के गुण से उद्भूत है और जो मनोजगत् की सूचक प्रवृत्तियाँ, राग-द्वेष, भय, लज्जा, मोह हैं, वे आकाश के गुण से उद्भूत हैं। इस विवेचन में पिण्ड-रचना के स्थूल तत्त्वों से चल कर क्रमशः सूक्ष्म तत्त्वों की ओर प्रस्थान किया गया है। मनोजगत् तक आने के बाद गोरखनाथ ने अन्तःकरण पंचक' का विवेचन किया है। अन्तःकरण में उन्होंने मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त और चैतन्य, इन पांच तत्त्वों की स्थिति मानी है। इन पाँचों के पाँच-पांच गुणों का विवेचन करके उन्होंने मनोजगत् के सूक्ष्मतम तत्त्वों के पूर्ण ज्ञान का परिचय दिया है। यह विवेचन आज के मनोविज्ञान के अध्येताओं

के लिये भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। कुलपंचक के अन्तर्गत उन्होंने सत्व, रजस्, तमस्, काल और जीव इन पाँच की गणना की है। वस्तुतः 'कुल" शब्द यहाँ जीव को आबद्ध करके उसे जीवत्व प्रदान करने वाले तत्त्वों का वाचक है। इसकी स्थिति मनोजगत् से सूक्ष्म है। इसके बाद 'व्यक्तशक्तिपंचक" का विवेचन है। यह व्यक्त-शक्तिपंचक" वस्तुतः व्यष्टि चेतनाकी अभिव्यक्ति की पाँच स्थितियों का द्योतक है। इसके अन्तर्गत इच्छा क्रिया, माया, प्रकृति व वाक् की गणना की गई है। अपने सुख-लाभ की कामना ही इच्छा है। उन्माद, वासना, वांछा, चिन्ता और चेष्टा—ये पाँच इच्छाके ही रूप हैं। शुद्ध चैतन्य जब माया के वश में होकर भोग की इच्छा में प्रवृत्त होता है तो उन्माद की स्थिति मानी जाती है। यह शुद्ध चैतन्य के अपने स्वरूप का विस्मरण है। इष्ट की भोगेच्छा में प्रवृत्ति वासना है। ऐश्वर्यादि के प्रति लिप्सा ही वांछा है। वाञ्छित पदार्थ की प्राप्ति के लिये चित्त की आकुलता ही चिन्ता है। मानसिक भावों को प्रकट करने वाले शारीरिक विकार ही चेष्टा हैं। क्रिया के भी पाँच गुण हैं—स्मरण, उद्योग, कार्य, निश्चय और स्वकुलाचार। कार्यसाधन के उपायों की स्मृति ही स्मरण है। कर्मेन्द्रियों का व्यापार ही उद्योग है। कर्तव्यता का विषय ही कार्य है। आरम्भ किये गये कार्य को निश्चित दिशा की ओर अर्थात् परिणति की ओर ले जाना ही निश्चय है। कुल-मर्यादा के अनुसार आचरण ही स्वकुलाचार है। माया के भी पाँच गुण हैं—मद, मात्सर्य, दम्भ, कृत्रिमता, असत्य। विद्यादि के गर्व से उत्पन्न मानसिक विकार ही मद है। दूसरे के उत्कर्ष की असहनीयता ही मात्सर्य है। आरोपित गुणों का आख्यान ही दम्भ है। जो वास्तविक नहीं हैं वरन् दर्शन या दिखावा के लिये रच लिया गया है, वही कृत्रिमता है। वाणी और मन की सहज प्रवृत्ति के प्रतिकूल वृत्ति को असत्यता कहते हैं। ये सभी गुण सामान्य स्तर के मनुष्यों में प्रबल होते हैं। ये रजस् और तमस् की प्रबलता के द्योतक हैं। साधक इन्हें अतिक्रान्त करके साधना के उच्चतर सोपानों की ओर बढ़ता है। इसी प्रकार प्रकृति के भी पाँच गुण हैं—आशा, तृष्णा, स्पृहा, काङ्क्षा और मिथ्या। संतों और योगियों ने बार-बार इनसे ऊपर उठने की चेतावनी दी है। भौतिक ऐश्वर्य, धन आदि की प्राप्ति की कामना ही आशा है। कलत्र आदि का लोभ ही तृष्णा है। पुत्र आदि के लाभ की कामना स्पृहा है। यश आदि की प्राप्ति की इच्छा ही आकांक्षा है। पूर्णता की दृष्टि से ये सारी उपलब्धियाँ व्यर्थ हैं, यह भाव मिथ्यात्ववाची है। प्रकृति के प्रथम चार गुण प्रायः समानार्थक ही हैं। विषयगत प्रवृत्ति-भेद से उनमें अन्तर किया गया है। वाक् के पाँच गुण हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, बैखरी, मातृका। परा वाक्

को शब्द ब्रह्म कहा गया है। यहाँ वाणी चेतना से तद्रूप रहती है। यह चेतना में निहित अभिव्यक्ति की शक्ति है। यह सभी प्रकार की ध्वनियों का मूलाधार है। परा वाक् में किसी प्रकारका स्पन्दन नहीं होता। जब यह गतिशील होती है, तब इसमें स्पन्दन होता है। निस्पन्द अवस्था में परावाक् आत्मा का अभिप्राय द्योतन करती है। इस अवस्था में इसे "केवलमात्मन्यभिप्रायरूप" कहा गया है। परावाक् की स्पन्दनावस्था ही पश्यन्ती है। इस स्थिति में आत्मा से स्पन्दित होकर वाणी बुद्धि के स्तर तक आती है। इससे और आगे बढ़ने पर (स्थूल अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होने पर) वह मध्यमा कहलाती है। अब वह मन से भी जुड़ जाती है। इस स्तर पर भी वह स्थूल अक्षरात्मक रूप में प्रकट नहीं होती। वस्तुतः इस स्थिति में यह बाह्य पदार्थों की मानसिक छाप मात्र होती है, इसीलिये इसे "बुद्धि मनः संयोगेन हृदिस्वरात्मिका" कहा गया है। तालु, ओष्ठ आदि स्थानों से स्थूल रूप में उच्चरित होनेवाली वाणी वैखरी है। वाक् के इन गुणों की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है—"परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहकर वस्तुतः यही कहा जाता है कि आरम्भ में चित्स्वरूप निस्पंद शक्ति पहले सामान्य स्पन्द के रूप में, फिर विशेष स्पन्द के रूप में और अन्त में स्थूल स्पष्ट शब्द के रूप में प्रकट होती है, अर्थात् चित् या चैतन्य शक्ति के रूप में आन्दोलित होकर शब्द और अर्थ के रूप में व्यक्त होती है।" (सहज साधना, पृष्ठ ३७) वाक् का पाँचवां गुण मातृका है। वैखरी वाणी में जो भी शब्द उच्चरित होते हैं, उनका सूक्ष्म बीजरूप ही मातृका है। मातृका वाक् नित्य है। ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का यह अनिवार्य तत्व है। नाथयोग में मानव शरीर के भीतर छः चक्रों की स्थिति मान्य है। इन छः चक्रों में ५० कमल-दल माने गये हैं— (मूलाधार = ४; स्वाधिष्ठान = ६; मणिपूर = १०; अनाहत = १२; विशुद्ध = १६; आज्ञा = २) इनमें प्रत्येक दल पर संस्कृत वर्णमाला का एक-एक अक्षर है। चक्रों के ये अक्षर सूक्ष्म हैं। वैखरी वाणी के स्थूल अक्षर नहीं हैं। नाथयोगी इन सूक्ष्म अक्षरों को मातृका कहते हैं। नाथयोगी के लिये प्रत्येक अक्षर शिव-शक्ति का विशिष्ट ध्वनि-शरीर है।

शिव-शक्तियुक्त होने के कारण ही बीजरूप सूक्ष्म अक्षर अलौकिक शक्ति एवं चमत्कार की सिद्धि के माध्यम बन जाते हैं। मंत्र-साधना का यही रहस्य है। योगियों ने मातृकारूप वाक्शक्ति की साधना के लिये ही मन्त्रयोग का विकास किया और इसकी स्वतन्त्र पद्धति स्थापित कर ली।

व्यक्तिशक्ति पंचक के अन्तर्गत इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृति और वाक् का जो परिचयात्मक विवेचन ऊपर किया गया है, उसपर गम्भीरतापूर्वक विचार की आवश्यकता है। वाक् को छोड़कर शेष अर्थात् इच्छा, क्रिया, माया और प्रकृति के अन्तर्गत जिन गुणों का विवेचन किया गया है, वे सभी मुख्यतः मनःप्रवृत्तियाँ हैं। उन्माद, वासना, वांछा, चिन्ता, स्मरण, निश्चय, मद, मात्सर्य, दम्भ, आशा, तृष्णा, स्पृहा, कांक्षा आदि ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं, जो मनुष्य के आचरण को विशेष रूप से प्रभावित करती हैं। इन्हीं प्रवृत्तियों के क्रियाशील होने पर मनुष्य विषयों में प्रवृत्त होता है। इन्हीं वृत्तियों के संयमित होने पर वह ईश्वरोन्मुख होकर अध्यात्म-चेतना के उच्चतर सोपानों का अतिक्रमण करके परमतत्व का सान्निध्य प्राप्त करता है। आज हम यह भूल गये हैं कि आचरण की पवित्रता और सामाजिक अनुशासन के लिये मनोवृत्तियों के उन्नयन की कितनी आवश्यकता है। यह तो निर्विवाद है कि इस भौतिक जगत् के कार्य-कलापों को व्यवस्थित और नियंत्रित रखने वाली एक परम चैतन्यसत्ता इसके मूलाधार रूप में स्थित है। व्यष्टिमन इससे जुड़ कर ही अपने को बन्धन-मुक्त कर सकता है। इससे जुड़ने के लिये मनःप्रवृत्तियों का परिष्कार आवश्यक है। यह परिष्कार तभी सम्भव है, जब हम इनकी स्थिति और गति को ठीक से पहचानें, इसीलिये नाथयोगी सबसे पहले पिण्ड के रहस्य को जानने में तत्पर होता है। व्यष्टि-पिण्ड में सबसे अबूझ मनःलोक है, इसलिये अनेक विधियों और प्रकारों से नाथयोगी मनःलोक के रहस्यों को जान कर उसके परिष्कार की व्यवस्था करता है, इसीलिये कहा गया है कि जो देहसम्बन्धी विकारों को विषयों से विरत करके अर्थात् विषयोन्मुख मन का नियमन करके उसे परम तत्व में लीन कर देता है और प्रपंच-शून्य होकर भेद-प्रभेदों से ऊपर उठ जाता है, वही सच्चा योगी है। जो गत वस्तु के लिये शोक नहीं करता, वैभव की इच्छा नहीं करता, प्राप्ति से हर्षित नहीं होता, सदैव आनन्दमग्न और आत्म-बोध में लीन रहता है तथा काल की गति से अप्रभावित रह कर कालजयी हो जाता है, वही सच्चा योगी है।

गते न शोकं विभवे न वांछा प्राप्ते न हर्षं स करोति योगी।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो न बाध्यते कालपथेन नित्यम्॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६।६८)

卐

सिद्धपुरुष और उनकी भगवदुपासना

प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा
(सम्पादन वि० 'कल्याण' गीता प्रेस, गोरखपुर)

[पण्डित जानकीनाथजी असाधारण शास्त्रमर्मज्ञ के रूप में सम्मानित हैं। उनका यह निबन्ध संक्षिप्त होकर भी उत्तम कोटि का है।··· ··· ···सम्पादक]

वास्तव में संसार में सच्चे सिद्ध तो एकमात्र भगवान् ही हैं।··· ···

अजः सर्वेश्वरः सिद्धः सिद्धिः सर्वादिरच्युतः।
(महा० अनु० विष्णुसहस्र० स्तो० १४६।२४)

\+ + +

सुलभः सुव्रतः सिद्धः शत्रुजिच्छत्रुतापनः।
(महा० अनु० विष्णुसहस्र० स्तो० १४६।१०१)

\+ + +

अन्य जीवों की सिद्धि तो उनके कृपाकटाक्ष पर ही निर्भर है। इस तरह 'सिद्ध' शब्द अन्यान्य विष्णु, शिवादि सहस्र नामों में भी मिलते हैं।

सिद्धार्थः सिद्धसङ्कल्पः सिद्धिदः सिद्धिसाधनः।
(महा० अनु० विष्णुसहस्र० स्तो० १४६।४०)

\+ + +

'श्रियाः श्रीश्च' (वल्मीकि० २।४४।१४)

\+ + +

कः श्रीः श्रियः परमसत्त्वसमाश्रयः कः।
(आलवन्दार० ५)

\+ + +
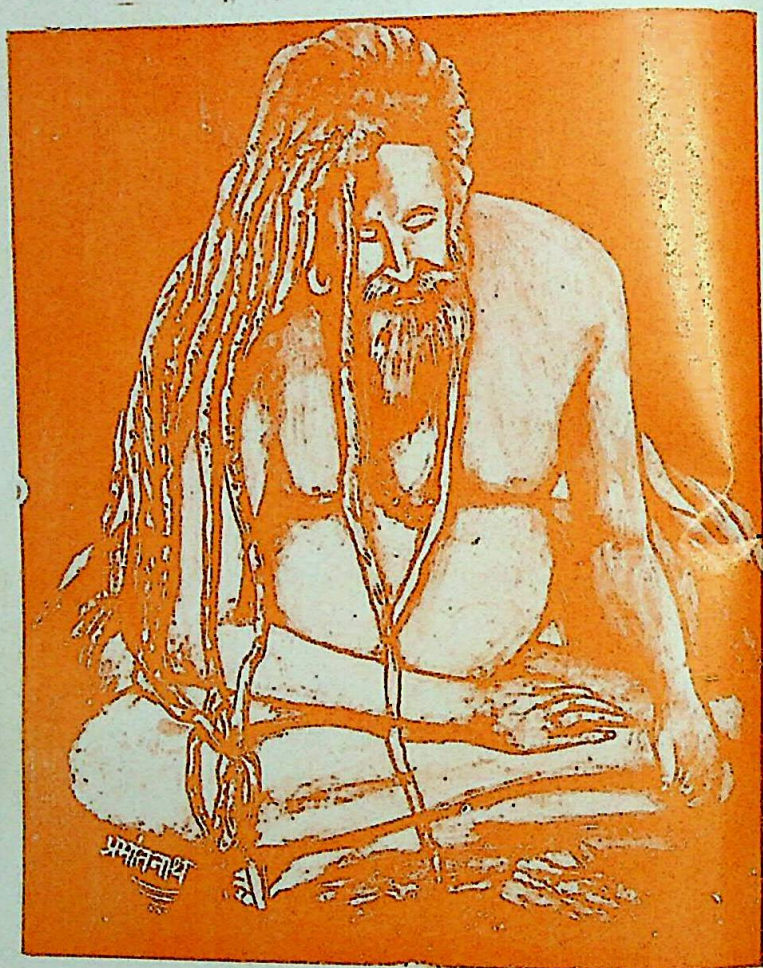
नाथसिद्ध बाबा सुन्दरनाथ

'श्रियः श्रियं भक्तजनैकजीवितम्' (आलवन्दार० ४८)

\+ \+ \+

हरिहि हरता, विधिहि विधिता, सिवहि सिवता जो दई ।
सोइ जानकीपति मधुरमूरति मोदमय मंगलमई ।
(विनयपत्रिका १३४ । ३)

\+ \+ \+

भवानीशंकरौ... ... ...।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥
(रामचरितमानस १ । २ श्लो० इत्यादि)

शास्त्रों को ध्यानपूर्वक देखने से पता लगता है कि सिद्धों के अनेक भेद हैं। वाल्मीकिरामायण-सुन्दरकाण्ड के आरम्भ में इनका भेद दृष्टव्य है। सिद्धयोनि के अतिरिक्त मन्त्रसिद्ध, तपःसिद्ध, ज्ञानसिद्ध, योगसिद्ध, उपासनासिद्ध, मन्त्रोषधि-सिद्ध आदि अनेक प्रकार के सिद्ध निर्दिष्ट हैं।

'विषई साधक सिद्ध सयाने । त्रिबिध जीव जग बेद बखाने ॥'

......आदि प्रकरणों में 'सयाने' पद-विशिष्ट 'सिद्ध', ज्ञानोपासना-सिद्ध का ही निर्देशक दीखता है। श्रीमद्भागवत एवं गीता में कई बार 'सिद्धा, संसिद्धः' शब्द इसी अर्थ में आया है।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः ।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥
(श्रीमद्भा० ६ । १४ । ५)

\+ \+ \+

यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ।
(गीता ७ । ३)

\+ \+ \+

सिद्धानां कपिलो मुनिः । (१० । २६)

इनमें प्रायः जीवन्मुक्त ज्ञानियों को ही 'सिद्ध' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है। श्रीमधुसूदन सरस्वती ने सनकादि, नारद, व्यास, कपिल, प्रह्लाद, शुकदेव,

पृथु आदि को सिद्धोपासक माना है। वे लिखते हैं कि इन लोगा की उपासना दृष्टमात्रफला ही होती है। विस्तार से समझाते हुए मधुसूदनजी लिखते हैं कि सनकादि सिद्धों में उपासना दृष्टफला ही होती है। जैसे ग्रीष्मसंतप्त पुरुष का गङ्गा-स्नान दृष्टादृष्टफलक होता है, वैसे ही वैधी उपासना में भी निदाघतप्त प्राणी के गङ्गावगाहनवत् सुखाभिव्यक्ति होती है। अतः वह दृष्टादृष्टफलक है, किन्तु यदि शीतवातातुर व्यक्ति गङ्गास्नान करता है, तो उसे जैसे अदृष्ट मात्र ही फल होगा, उसका दृष्टांश प्रतिबद्ध होगा, वैसे ही राजसी, तामसी उपासना का सुखरूप दृष्टांश प्रतिबद्ध रहता है। गङ्गास्नान एवं भोजनादि कर लेने पर पुनः गङ्गाजल में क्रीडा करने वालों को जैसे केवल दृष्ट-मात्र ही फल होता है, वैसे ही जीवन्मुक्त सनकादि सिद्धों की उपासना सर्वथा शुद्ध एवं निष्काम होने से दृष्टमात्र फलपर्यवसायिनी ही होती है। ये सिद्धोपासक एक तो साक्षात् भगवत्स्वरूप होते हैं, साथ ही उनके पूर्वोत्तर उभय अदृष्ट ही निर्मूल हो जाते हैं।

अतः उनकी यह उपासना प्रत्यक्ष सुखद होती है :—

वर्तमानतनुं प्राप्य फलं दृष्टमुदाहृतम् ।
भाविदेहोपभोग्यं यत्तद्दृष्टमुदीरितम् ॥

अतः उनकी उपसना को निर्हेतुकी कहा गया है :—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः ॥
(श्रीमद्भा० १।७।१०)

मधुसूदन सरस्वती का कथन है :—

शुद्धसत्त्वोद्भवाप्येवं साधकेष्वस्मदादिषु ।
दृष्टामात्रफला सा तु सिद्धेषु सनकादिषु ॥
दृष्टादृष्टफला भक्तिस्सुखाव्यक्तेर्विधेरपि ।
निदाघदूनदेहस्य गङ्गास्नानक्रिया यथा ॥
रजस्तमोऽभिभूतस्य दृष्टांशः प्रतिबध्यते ।
शीतवातातुरस्येव नादृष्टांशस्तु हीयते ॥
तथैव जीवन्मुक्तानामदृष्टांशो न विद्यते ।

स्नात्वा भुक्तवतां भूयो गङ्गायां क्रीडतां यथा ॥
(भक्तिरसायन २ । ४६–४९)

भगवान् शंकर, विष्णु आदि की परस्परोपासना भी एतादृश ही है। भारतीय अद्वैतादि दर्शनों के अनुसार तथा उपासना-साहित्य के अनुसार भी इनमें तथा उपास्य में कोई अन्तर नहीं रह जाता। उनमें भी भगवान् के ही सदृश कारुण्य, सौशील्य, औदार्य, औज्ज्वल्य दृष्ट होने लगता है :—

संत भगवंत अंतर निरंतर नहिं।
किमपि कहत मतिमंद दास तुलसी ॥

नाथसिद्ध बाबा सुन्दरनाथ

नाथयोगी बाबा सुन्दरनाथ सिद्धपुरुष थे। उनमें अपार योगसिद्धि और साधन-सम्पत्ति थी। बाबा सुन्दरनाथ कर्नाटक प्रदेश के मैंगलोर के कदरी मठ के महन्त थे, जहाँ मत्स्येन्द्र आसन और नाथ-पादुका की पूजा होती है। एक दिन बाबा अचानक अदृश्य हो गये। लोगों को उनका दर्शन बदरीनाथ धाम में भगवती अलकन्दा नदी के तट पर तप में तत्पर रहते हुआ। बदरीनाथ-मन्दिर के कपाट शीतकाल में बन्द हो जाने पर भी वे सिद्ध अवधूत दिगम्बर योगी अलकनन्दा के तट पर विकट हिमपात के वातावरण में योगसाधना और तपस्या में प्रवृत रहते थे। ग्रीष्मकाल में बदरीनाथ-मन्दिर का पट खुलने के समय दर्शनार्थियों और श्रद्धालुओं को उनका यहीं तपस्वी वेष में दर्शन होता था। श्रीगोरक्षनाथ सिद्धपीठ गोरखपुर के सिद्धपुरुष बाबा गम्भीरनाथ में उनकी बड़ी श्रद्धा और सत्कार-बुद्धि थी। वे उनका दर्शन और साक्षात्कार करने गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर में आया करते थे। वे न कुछ बोलते थे, न कहते थे। दोनों सिद्धपुरुषों में अन्तर्वार्तालाप होता रहता था। बदरीनाथ धाम के फोटोग्राफर महेशानन्द एण्ड संस ने कई बार उनका चित्र लेने का यत्न किया। चित्र केमरे के फिल्म में आता ही नहीं था। बाबा सुन्दरनाथ से इसके लिये प्रार्थना की गई। उनकी अनुमति से फोटो लेना सम्भव हो सका। कभी-कभी बाबा का दर्शन हरिद्वार के उस पार चण्डी पहाड़ की तलहटी और गढ़वाल के समीपस्थ जंगलों में किसी-किसी भाग्यशाली को होता रहता है।

'गोरखबानी' में सिद्धसिद्धान्त-निरूपण

डॉ० कमल सिंह

(हिन्दी वि० सनातनधर्म कालेज, मुजफ्फरनगर)

सिद्धसिद्धान्त से हमारा तात्पर्य है—नाथसिद्धों द्वारा अनुभूत महायोगज्ञान अथवा श्रीगोरखनाथ-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त। यहाँ 'गोरखबानी' के दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण श्रीगोरखनाथ द्वारा विरचित 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के परिप्रेक्ष्य में करना ही हमारा अभीष्ट है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के दार्शनिक सिद्धान्त 'गोरखबानी' में भी निरूपित हैं। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' का परम तात्पर्य है—पिण्ड में अखिल ब्रह्माण्ड–नायक की देशकालातीत व्यापकता की आत्मानुभूति और यही परमतात्पर्य श्रीगोरखनाथ की हिन्दी-बानियों में भी मिलता है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में छह उपदेश (अध्याय) हैं। प्रथम उपदेश में ब्रह्माण्ड और पिण्ड की उत्पत्ति का वर्णन है। परमसत्ता के स्वरूप का पूर्ण विवेचन किया गया है। शाश्वत परमसत्ता ही स्वरूपभूता शक्ति के द्वारा ब्रह्माण्ड और पिण्डों के रूप में व्यक्त होती है। वह परमसत्ता ही प्रत्येक पिंण्ड में अन्तर्यामी के रूप में निहित रहती है।

ब्रह्माण्ड और पिण्ड की उत्पत्ति तथा परस्पर सम्बद्धता को श्रीगोरखनाथ ने 'मछीन्द्रगोरषबोध' में प्रश्नोत्तर शैली के माध्यम से अति सरल रूप में समझाया है। श्रीगोरखनाथ प्रश्न करते हैं कि जब साकाररूप पिण्ड समाप्त हो जायगा, पवन, जल इत्यादि पंचतत्व भी नहीं रहेंगे, चन्द्र-सूर्य भी नहीं रहेंगे, तब हंस की क्या स्थिति होगी।

स्वामी अकार छुटिसी निराकार होइसी, पवन न होसी पांणीं।
चंद सूर दोउ न होसी, तब हंस की कौन सहनांणीं॥
(गोरखबानी मछीन्द्र गोरषबोध, ३६)

श्रीमछीन्द्रनाथ समाधान करते हैं कि जब यह सब कुछ नहीं होगा तो साकार निराकार में सहज ही समाहित हो जायगा और हंस का निवास परम ज्योति में होगा—

अवधू सहज हंस का षेल भणीजै, सुंनि हंस का बास।
सहजैं हीं आकार निराकार होइसी, परम जोति हंस का निवास॥
(गोरखबानी मछीन्द्रगोरषवोध ४०)

यह पूछे जाने पर कि शरीर-रचना कैसे होती है, क्या-क्या, कहाँ-कहाँ रहता है, तो मछीन्द्रनाथ उत्तर देते हैं—

अवधू अनील गृह अविगत बास,
अतीत गरभि रह्या दस मास।
मन मुषि पांणीं पवन मुषि अस्तुति षीर,
ओंकार दिसा भइ उतपति सरीर॥
(गोरखबानी मछीन्द्रगोरषबोध ५८)

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के दूसरे उपदेश (अध्याय) में पिण्ड-विचार है। पिण्डकी आन्तरिक रचना का वड़ा विस्तृत विवेचन है। शरीर के अन्तर्गत नवचक्रों, सोलह आधारों, तीन लक्ष्यों तथा पाँच आकाशों के सम्बन्ध में विशिष्ट मान्यताओंका निरूपण किया गया है। इन चक्र इत्यादि के ज्ञान पर श्रीगोरखनाथ ने विशेष बल दिया है। इनके ज्ञान के लिये गुरु के निर्देश को विशेष महत्त्व दिया गया है; क्योंकि --

साच का सवद सोना का रेख। निगुरां कौ चांणक सगुरा कौं उपदेश॥
गुर का मुंड्या गुंण मैं रहै। निगुरा भ्रमै औगुण गहै॥
(गोरखवानो, सबदी १४६)

सत्य का शब्द सोने की रेखा के समान है, जो सब कसौटियों पर सच्चा उतरता है, किन्तु इस सत्य शब्द का उपदेश उन्हीं को होता है, जिन्होंने योग्य योगी को गुरु धारण किया है। गुरुहीनों को तो चालबाजी ही मिलती है, क्योंकि उन्हें बिना गुरु के कुछ आ तो सकता नहीं है, केवल सिद्धि का धोखा देकर प्रसिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं। जिसे गुरु ने मूँड़कर चेला बनाया है, वह गुण ग्रहण करता है। जिसने गुरु की शरण नहीं ली, वह भ्रम में पड़ जाता है और अवगुण धारण कर लेता है।

पिण्ड-रचना का तथ्य 'रोमावली' में कुछ इस प्रकार दिया गया है—

सत पिता रज माता तम करि गाड़ी पाई,
लोह मास तुचा नाड़ी ये चारि धात माता की बोलिये,

बीरज हाड़ गूद्र ये तीनि धात पिता की बोलिये।
ए सप्त धात का शरीर बोलिये।
द्वै हाथ द्वै पैर छाती लिलाट घाट अष्टांग जोग बोलिये।
बंद भेद मुद्रा तीन्यूं साधंति ते सिधा बोलिये।
(गोरखबानी, रोमावली)

पिण्ड के आध्यात्मिक रहस्यका निरूपण रूपक-शैली में 'प्रांणसंकली' रचना में बहुत ही आकर्षक ढंग से किया गया है—

तीस पौलि तेरह प्रवांणी। तीनि गुप्त दस प्रकट जांणीं।
नौ नाटिका कोटड़ी बहत्तरि। चोर पचास पचीस पंच धरि।
चीरा लगा तीनि सै साठी। नौ सै षाई नाटिक गांठी।
नदी अठारह गंडिक बहई। मगर मच्छ जल पैरत रहई।
अठूठ कोटि बनासपती माला। सहज कमल दल पदमनी नाला।
भेदि षट चक्र बसै नांगणीं। कोटणीं सत मोहि फणीं।
(गोरखबानी, प्राणसंकली ५-७)

मानव-शरीर के तेरह प्रामाणिक फाटक हैं, जिनमें दस प्रकट और तीन गुप्त हैं। प्रकट दस द्वार तो ब्रह्मरन्ध्रसहित नवरन्ध्र हैं। तीन गुप्त द्वारों का वर्णन गोपनीय समझकर योगियों ने अपनी वाणियों में नहीं किया है। उसमें नौ नाड़ियाँ और बहत्तर कोठे हैं। नाड़ियाँ बहत्तर हजार मानी जाती हैं। उसमें से बहत्तर श्रेष्ठ मानी जाती हैं और उनमें से दस प्रधान हैं। ये बहत्तर कोठे बहत्तर नाड़ियाँ ही हैं। यहाँ दस नाड़ियों में से सुषुम्ना को छोड़कर शेष नौ कही हैं। सुषुम्ना में ही ये सब मिलती हैं। नौ नाड़ियों के नाम हैं—इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी। इस किले में (शरीर में) पचास (षट्चक्रों के पचास दल)—पच्चीस प्रकृति और पाँच तत्व चोर हैं। जबतक षट्चक्र का वेधन नहीं होता, तबतक पच्चीस प्रकृतियाँ वश में नहीं होतीं। जबतक पंचतत्वों से ऊपर नहीं उठा जाता, तब तक अध्यात्म-योग में सिद्धि नहीं हो सकती। शरीर की ३६० हड्डियाँ पत्थर हैं, जिनसे गढ़ बना है। शरीर में प्रधान नौ नाड़ियाँ खाइं हैं। कुल बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं। असंख्य नाड़ियों का अन्त रोमकूपों में हुआ है। उनसे उठने वाले रोम वनस्पति-माला हैं। इन्हीं नाड़ियों का एक-दूसरे से ग्रथित हो जाना ऊपर कोठड़ी कहा गया है। इनमें से प्रधान ग्रंथियाँ कमल-दल के समान हैं। ये ही षट्चक्र हैं। कुण्डलिनी शक्ति इनसे परे

बसती है। उसे जागरित करने के लिये षट्चक्रों का भेदन आवश्यक है। कुण्डलिनी अपने मोहरूपी फणों से वहाँ सत्य की रक्षा करती है, सत्य के पास किसी को पहुँचने नहीं देती।

"सिद्धसिद्धान्तपद्धति" के तीसरे उपदेश (अध्याय) में श्रीगोरखनाथ ने "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे" पर बल देते हुए यह समझाया है कि जो कुछ बाहर ब्रह्माण्ड में है, वह सब व्यष्टिपिण्ड में भी उपस्थित है तथा दोनों में मूलभूत एकता भी है। इस असीम और नश्वर शरीर की अनादि-अनन्त ब्रह्माण्ड के साथ तद्रूपता की अनुभूति का निर्देशन एक अभूतपूर्व एवं महान् आदर्श है, जो आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के समक्ष गोरखनाथ और उनके सम्प्रदाय द्वारा प्रस्तुत किया गया है। योगी को न केवल विश्वात्मा से व्यष्टि आत्मा की एकता की अनुभूति करनी होती है, वरन् व्यष्टि-पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता का अनुभव करना होता है। योगी विश्व के साथ एकाकार होकर पूर्ण स्वतन्त्रता और आनन्द का अनुभव करता है। ('योगवाणी', गोरख-विशेषांक---'सिद्धसिद्धान्तपद्धति की विषय-सामग्री'—आचार्य अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय पृ० २२३) । श्रीगोरखनाथजी का कहना है कि –

'पिण्डमध्ये चराचरं यो जानाति स योगी पिण्डसंवित्तिर्भवति ।'

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३ । १)

'गोरखवानी' में श्रीगोरखनाथ ने व्यष्टि-पिण्ड में निरंजन की व्याप्ति मन की व्यापकता से कहनी चाही है। इस शरीर में जीव, शक्ति और शिव—तीनों ही मन हैं। इसको समझने वाला तीनों लोकों को समझने वाला होगा। उसी का नाम 'पिण्डसंवित्ति' होगा।

यहु मन सकती यहु मन सीव। यहु मन पाँच तत्त का जीव।
यहु मन ले जै उनमन रहै। तौ तीनि लोक की बातां कहै ॥

(गोरखबानी सबदी ५० क)

सुख-दुःख की अनुभूति ही स्वर्ग-नरक है। इन दोनों की स्थिति इस पिण्ड में ही है। जब योगी अपने पिण्ड में ब्रह्माण्ड की विद्यमानता का अनुभव कर लेता है तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है। यही जीवन्मुक्ति की अवस्था परम कैवल्य अथवा मोक्ष है।

'यत्सुखं तत्स्वर्गं, यद्दुःखं तन्नरकं, यत्कर्म तदबन्धनम्, यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः, स्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः शान्तिर्भवति। एवं सर्वदेहेषु विश्वरूपपरमेश्वरः परमात्माऽखण्डस्वभावेन घटे-घटे चित्स्वरूपो तिष्ठति। एवं पिण्डसंवित्तिर्भवति।'

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३ । १३)

श्रीगोरखनाथ ने इसी समष्टि-पिण्ड एवं व्यष्टि-पिण्ड की एकात्मकता का संकेत निम्न सबदी में किया है—

गगन मँडल मै ऊँधा कूवा तहाँ अमृत का बासा।
सगुरा होइ सु भरि-भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा॥

(गोरखबानी सबदी २३)

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के चौथे उपदेश (अध्याय) में शरीर का अन्तिम आधार एक परम आध्यात्मिक शक्ति को बताया है। यह शक्ति अपने मूलरूप में परमात्मा शिव से अभिन्न है। शरीर शक्ति की आत्माभिव्यक्ति है। समाधिलीन सिद्ध योगी शक्ति को उसके मूल रूप, शिव में समाहित कर शिव-शक्ति के पूर्ण एकत्व का आनन्द प्राप्त करता है। अपनी हिन्दी बानियों में श्रीगोरखनाथ ने कहा है—

अधरा धरे विचारिया, धर याही मै सोई।
धर अधर परचा हूवा, तब उती नहीं कोई॥

(गोरखबानी सबदी ६८)

ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्मतत्व का विचार होता है। ब्रह्माण्ड में भी वही है। जब मूलस्थ कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रारस्थ शिव से परिचय हो जाता है, तब साधक के लिये अनुभव ज्ञान से बाहर कुछ नहीं रह जाता। गृहस्थ के घर में व्यष्टि-पिण्ड की उत्पत्ति होने से मानव-शरीर पृथक् दृष्टिगत होने लगता है, किन्तु विरक्त महात्माओं की संगति से जब शिव में सकलस्वरूपाशक्ति समाहित हो जाती है, तब जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं—

गिरही कै घरि जनम हमारा, संगति सुरति दिढ़ांणी।
कहै नाथ जीव ब्रह्म एकै, जब सिव घरि सक्ति समांणी॥

(गोरखबानी-ग्यानतिलक ३१)

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के पाँचवें उपदेश (अध्याय) में साधना के चरम आदर्श का निरूपण किया गया है। जब व्यष्टि-पिण्ड का समष्टि-पिण्ड के साथ, पिण्डों का परम शक्ति के साथ और शक्ति का परमात्मा शिव के साथ एकत्व हो जाता है, तब साधक समरसता की स्थिति में हो जाता है। इस स्थिति में योगी अपने में और सबमें शिव का दर्शन करता है। सारा संसार ही शिवमय अनुभव होता है। अकेले पिण्ड में भी ईश्वर की खोज नहीं हो सकती है। अकेले ब्रह्माण्ड में भी ईश्वर की खोज नहीं हो सकती। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का जब एकत्व हो जाता है, तभी ईश्वर की खोज हो सकती है—

प्यंडे होई तौ मरै न कोई, ब्रह्मण्डै देषै सब लोई।
प्यंड ब्रह्मण्ड निरन्तर वास, भणंत गोरष मछ्यंद्र का दास॥
(गोरखबानी सबदी ७०)

योगाभ्यास के द्वारा मन को मूर्च्छित करके जो साधक समसरता की स्थिति में हो जाता है, उसके ब्रह्मरन्ध्र में ज्ञान का उजाला होता है, उसे सारा ब्रह्माण्ड प्रकाशित दिखाई देता है—

ऊं आसण करि पदम आसण बंधि। पिछलै आसण पवनां संधि।
मन मुछावै लावै तालो। गगन सिषर मैं होइ उजाली॥
(गोरखबानी आतमबोध १)

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के छठे उपदेश (अध्याय) में अवधूत योगी के चरित्र और आचरण का वर्णन किया गया है। समरसकरण के आदर्श को सिद्ध करने वाला योगी ही अवधूत कहा जा सकता है। इस स्थिति में योगी इच्छाओं, वासनाओं, चिन्ताओं, बन्धनों मे मुक्त हो जाता है—

गते न शोकं विभवे न वांछा, प्राप्ते न हर्षं स करोति योगी।
आनन्दपूर्णो निजवोधलीनो, न बाध्यते कालपथेन नित्यम्॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६। ६८)

'गोरखबानी' में श्रीगोरखनाथ कहते हैं कि जो धन और यौवन की आकांक्षा नहीं करता, स्त्री में मन नहीं लगाता, जिसके शरीर में नाद और बिन्दु जीर्ण हो जाते हैं पार्वती उसकी सेवा करती हैं, क्योंकि वह योगी शिवरूप हो जाता है।

धन जोवन की करै न आस, चित्त न राषै कांमिनि पास।
नाद बिन्द जाकै घटि जरै, ताकी सेवा पार्वती करै॥
(गोरखबानी सबदी १९)

अवधूत के चरित्र और आचरण की ओर संकेत करते हुए श्रीगोरखनाथ योगी को उपदेश देते हैं।

नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू दिढ करि राषहु चीया।
काम, क्रोध, अहंकार निवारो तो सबै दिसंतर कीया॥
(गोरखबानी सबदी २६)

योगी को अहंकार समाप्त कर देना चाहिये, निराकार आत्मा को प्रस्फुटित करना चाहिये। जहाँ गंगा (इड़ा) एवं यमुना (पिंगला) का पानी सोख लिया गया अर्थात् दोनों का प्रभाव मिटाकर सुषुम्ना में मिला लिया गया तथा सहस्रारस्थ चन्द्रमा और मूलाधारस्थ सूर्य, दोनों का विरोधी स्वभाव मिटा कर सन्मुख कर दिया गया हो, उसका लक्षण कोई अवधूत ही जान सकता है। अतः गोरखनाथ ने इस स्थिति की पहचान अवधूत से ही पूछी है।

अहंकार तूटिबा निराकार फूटिबा, सोषीला गंग जमन का पानी।
चंद सूरज दोऊ सनमुषि राषिला कहो हो अवधू तहाँ की सहिनांणी॥
(गोरखबानी सबदी ११३)

'मछींद्र-गोरषबोध' में शिष्य की अनेक शंकाओं का समाधान करते हुए योगी की साधना का विस्तार से विवेचन किया गया है। इस रचना में सारा सिद्धसिद्धान्त निहित है। 'सबदी' में गुरु का महत्व, योगी का आचरण तथा पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकरूपता के सिद्धान्तों का वर्णन है। आत्मबोध में योग-साधना के सिद्धान्त निहित हैं। 'रोमावली' और 'प्राणसंकली' में पिण्ड की आन्तरिक रचना का निरूपण है। 'ज्ञानतिलक' में योग-सिद्धि के अनेक सिद्धान्त निहित हैं और 'पदों' में उलटबासियों के द्वारा गूढ़ सिद्धसिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीगोरखनाथ ने जिन सिद्धान्तों को अपने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' ग्रन्थ में अथवा अन्य संस्कृत ग्रन्थों में निरूपित किया है, वे ही (सिद्धान्त) न्यूनाधिक रूप में उनकी हिन्दी वाणियों में भी प्रकारान्तर से मिल जाते हैं।

नाथसिद्ध सत्यनाथ का चमत्कार

नाथपंथ के महासिद्ध योगी सत्यनाथ का प्रभाव गढ़वाल-कुमाऊँ के प्रदेश पर अत्यधिक रहा है। अनुश्रुति है कि गढ़वाल के राजा (योगिराज) अजयपाल को सत्यनाथ ने कन्धे पर चढ़ा कर अपना आकार बढ़ाते हुए कहा कि जहाँ तक तुम्हारी दृष्टि जाती है, वहाँ तक तुम्हारा राज्य फैल जायेगा। सत्यनाथ ने अपना आकार इतना बढ़ाया कि अजयपाल डर गये। उन्होंने सत्यनाथ से इस रूप के शमन की प्रार्थना की। राजा अजयपाल की दृष्टि हिमालय से शिवालिक पर्वत श्रेणी तक पहुँच गयी और वहाँ तक उनका राज्य फैल गया।

[सौजन्य : नाथपंथ]

सिद्धपुरुष 'रथवर्ग'

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
[हरिसदन, महसों, बस्ती]

घटना चार सौ साल पहले की है । गोरखपुर जनपद का पयासीग्राम सरयूपारीण ब्राह्मणोंके पवित्र आवास-स्थान के रूप में प्रसिद्ध है। उसी ग्राम के निवासी थे पण्डित कान्तिमणि त्रिपाठी । वे काशी में विद्याध्ययन करने गये थे। विद्याध्ययन समाप्त कर वे आजमगढ़ जनपद के मार्ग से पैदल काशी से अपने निवास-स्थान पयासी वापस आ रहे थे। उस समय यात्रा प्रायः पैदल ही पूरी की जाती थी, क्यों कि वाहन की सुविधा कम थी।

उन दिनों आजमगढ़ जनपदके गर्गनगर (वर्तमान घनछुला गाँव) में राजा गारददेव राज्य करते थे। उनके राजप्रासाद (कोट) का भग्नावशेष अब भी विद्यमान है। रास्ते में गर्गनगर पड़ता था। कान्तिमणि त्रिपाठी ने विश्राम करने के लिये राजद्वार जाने का विचार किया। वे राजपौर पर पहुँचे ही थे कि परम धार्मिक महाराज घोड़े पर सवार होकर मृगया के लिये प्रस्थान कर रहे थे, धूलधूसरितचरण ब्राह्मण को महाराज ने अश्व रोक कर, उतरकर सादर प्रणाम किया, राजा ने उनसे मृगया में साथ चलने का निवेदन किया और कान्तिमणि ने महाराज का आग्रह टालना उचित नहीं समझा।

राजधानी से बारह किलोमीटर की दूरी पर बेलसर नामक स्थान में महाराज का शिविर था। शिविर में अवकाश के सदुपयोग और विश्राम को ध्यान में रख कर महाराज गारददेव ने कान्तिमणि त्रिपाठी से आध्यात्मिक और धार्मिक चर्चा की। उन्हें इस चर्चा में इतना आनन्द मिला कि समय का ध्यान ही न रहा और सूर्यास्त का समय सन्निकट था। महाराज ने ब्राह्मण देवता से कहा कि आप से बात करने में बड़ा रस मिला, पर सूर्यास्त होने वाला है, इसलिये आज मेरे लिये भोजन का संयोग नहीं है। मेरा नियम है कि मैं सूर्यास्त के बाद भोजन नहीं करता। अब रात होने में कुछ ही समय शेष है।

कान्तिमणिजी ने कहा कि महाराज ! आप भोजन की व्यवस्था कीजिये, जबतक आप भोजन नहीं करेंगे, सूर्यास्त होगा ही नहीं। राजा ब्राह्मण के वचन में श्रद्धा रखते थे। यद्यपि उन्हें कान्तिमणिजी के आश्वासन पर आश्चर्य हुआ, तथापि उनके विश्वास में कमी नहीं आयी। भोजन की व्यवस्था आरम्भ हो गयी।

कान्तिमणि त्रिपाठी एकान्त स्थान में चले गये। वे शीर्षासन में स्थित होकर किसी इष्ट मन्त्र के जप और इष्टदेव के ध्यान में प्रवृत्त हो गये। सायंकाल का समय बढ़ गया, सूर्य का रथ स्थिर हो गया, सूर्य देवता की गति स्तम्भित हो गयी। महाराज गारद देव ने प्रसन्नचित्त सूर्यास्त के पहले भोजन किया।

दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनाश्च देवताः।
ते मन्त्रा ब्राह्मणाधीनास्तस्माद् ब्राह्मणदेवताः ॥

भोजन के उपरान्त राजा ने ब्राह्मण का दर्शन करना चाहा तो उन्हें पता चला कि वे एकान्त में योग-प्रक्रिया में लीन हैं। महाराज ने उस स्थान पर जाकर कान्तिमणिजी का दर्शन किया और स्थान का नाम कपालगढ़ रख दिया, जो कपाल नगर के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने उसी स्थान पर रथीदेवी की स्थापना की, जो ब्राह्मण द्वारा सूर्य के रथ रोकने का स्मारक है। राजा ने उन्हें 'रथवां' की उपाधि से सम्मानित कर उनके चरण में प्रणत होकर पाँच गाँव प्रदान किये।

इसी स्थान पर नदी के तट पर दो गुणियों का सत्संग हुआ था, इसलिये नदी दुगुनी नदी के नाम से प्रसिद्ध है। आज भी दुगुनी नदी महाराज गारददेव और ब्राह्मण देवता कान्तिमणि की उज्ज्वल कीर्ति चन्द्रिका-सी उस पवित्र भूमि में प्रवाहित है।

हस्तलिखित 'कुल प्रकाश' तन्त्र में उनकी हस्तलिखित 'महालक्ष्मीपूजापद्धति' वर्णित है। चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी से प्रकाशित 'महालक्ष्मी-पूजा-पद्धति' की भूमिका में यह विवरण उपलब्ध होता है।

[सूर्य की गति के स्तम्भन का विवरण हमारे पुराणों में मिलता है। श्रीमद्भागवत-माहात्म्य के पाँचवें अध्याय में वर्णन है कि महात्मा गोकर्ण ने सूर्य के वेग का स्तम्भन कर उनसे श्रीमद्भागवत सप्ताह के द्वारा धुन्धुकारी की मुक्ति का विधान प्राप्त किया था।--'गोकर्णः स्तम्भनं चक्रे सूर्यवेगस्य वै तदा।'

—सम्पादक]

सिद्ध-मार्ग एक दृष्टि

आचार्य प्रतापादित्य
(अरविन्द-आवास, बेतियाहाता, गोरखपुर)

साधक, साधना और सिद्धि प्रगति के तीन सोपान हैं। मनुष्य-शरीर में देवता, राक्षस और मनुष्य तीनों ही का दर्शन मिलता है। मनुष्य वह सीढ़ी है, जिसके द्वारा ऊपर चढ़ने पर देवत्व, नीचे जाने से राक्षस या पशुत्व और दोनों की मध्यावस्था मनुष्यत्व की है, देवत्व मनुष्य की आदर्शावस्था है और पशुत्व उसकी हीनावस्था। मनुष्य की सामान्यावस्था को गति, देवावस्था को प्रगति और राक्षसावस्था को अगति कहेंगे। 'प्र' का अर्थ होता है प्रकृष्ट और इस अर्थ में प्रगति का अर्थ हैं 'प्रकृष्ट गति'। लक्ष्य-भेद से ही यह तीनों अवस्थायें जानी जाती हैं, इस प्रकृष्टगति के द्वारा हम जिस अवस्था को प्राप्त करते हैं, वही अवस्था सिद्धि की अवस्था जानी जाती है, यों तो सामान्य अर्थों में राक्षस-स्थिति की प्राप्ति भी सिद्धि कही जाती है, किन्तु नाथपंथ में सिद्धमार्ग या सिद्धमत प्रकृष्ट अवस्था की प्राप्ति से ही जाना जाता है, यही उचित भी है, किन्तु यह कहना कि सिद्धमत किसी सम्प्रदायविशेष का बोधक है, नाथपंथ या सिद्धमत अथवा सिद्धमार्ग का उचित मूल्यांकन नहीं है, क्योंकि नाथपंथ स्वयं में सम्प्रदायवादी विचारधारा का पोषक नहीं है, इसमें सभी जातियाँ, सभी सम्प्रदाय और सभी मतों को एक भावभूमि पर खड़ा करने का प्रयास प्रतीत होता है। मुसल्मानों, बौद्धों तथा जैनों का इसमें समावेश एक इतिवृत्तात्मक तथ्य है तथा शिव से इस मत की उत्पत्ति और शिव में ही इसकी चरम परिणति इस तथ्य के प्रबल प्रमाण हैं।

गोरखनाथ के सम्बन्ध में डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य है—'गोरक्षनाथ अपने युग के सबसे महान् धर्मनेता थे। उनकी संगठन-शक्ति अपूर्व थी। उनका व्यक्तित्व समर्थ धर्मगुरु का व्यक्तित्व था। उनका चरित्र स्फटिक के समान उज्ज्वल, बुद्धि भावावेश मे एक दम अनाविल और कुशाग्र तीव्र थी। उनके चरित्र में कहीं भी भावविह्वलता नहीं है। जिन दिनों उन्होंने जन्म

ग्रहण किया था, उन दिनों भारतीय धर्मसाधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्ध जीवन, सात्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरखनाथजी ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ, दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया। लोक-जीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से विमुख हो रही थी, उसे गोरक्षनाथ ने नई प्राणशक्ति से अनुप्राणित किया। किसी रूढ़ि पर चोट करते समय उन्होंने दुर्बलता नहीं दिखाई। वे स्वयं पण्डित व्यक्ति थे, पर यह अच्छी तरह जानते थे कि पुस्तक लक्ष्य नहीं, साधन हैं। उन्होंने किसी से भी समझौता नहीं किया, लोक से भी नहीं, वेद से भी नहीं, परन्तु फिर भी उन्होंने समस्त प्रचलित साधनामार्ग से उचित भाव ग्रहण किया।' (नाथ सम्प्रदाय—हजारी प्रसाद द्विवेदी : पृ० १२८) सिद्धमत के प्रणेता या प्रवक्ता गोरखनाथ के विषय में यह मत ही सिद्धमत के व्यापक आधार को स्पष्ट कर देता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से गोरखनाथ के पूर्व और उनके समय में तथा उनके बाद भी सिद्ध आदर्श के रूप में रहे। यह सभी गोरखनाथ के महान् व्यक्तित्व से प्रभावित रहे और उनका मत भी सिद्ध योगी नाथ-परम्परा से इस तरह जुड़ गया कि वे इसी परम्परा के अंग के रूप में जाने जाने लगे। उनकी स्थिति वही हो गयी, जो नदियों की समुद्र में मिलने से होती है।

लक्ष्य के रूप में सच्चिदानन्द ही इस मत के ग्राह्य आदर्श हैं—

न ब्रह्मा न विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैवपृथ्वो न चापो
नैवाग्निर्नापिवायुर्न च गगनतलं नोदिशानैव कालः।
नो वेदा नैवयज्ञा न च रविशशिनो नो विधिर्नैवकल्पाः
स्वंज्योतिःसत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते।
(नित्यनाथकृत सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

यह आदर्श तथाकथित द्वैत और अद्वैत, दोनों अवस्थाओं से परे है, द्वैताद्वैत अवस्था भी नहीं है, क्योंकि मुक्ति या मोक्ष की जो व्याख्या इस परिप्रेक्ष्य में हुई है, वह नाथस्वरूप में अवस्थान है। संचर की जड़ाभिमुखी गति और प्रतिसंचर की ब्रह्ममुखी गति का अन्तिम केन्द्र—बिन्दु नाथस्वरूप सच्चिदानन्द मूर्ति है, जिसकी परमशीतलगोद में बैठकर अनाहत के प्रवेश द्वार से साधक अनन्त आनन्द में समाहित हो जाता है।

सृष्टि का रहस्य ब्रह्म पर शक्ति के प्रभाव से प्रसार तथा पुनः उसकी ओर बढ़ना 'संकोच' दार्शनिक दृष्टि से 'प्रसार' और 'संकोच' के नाम से गोरक्षवचन-संग्रह में इस प्रकार दिया गया है—

प्रसरं भासयेत् शक्तिः संकोचं भासयेत् शिवः।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत् सिद्धयोगिराट्॥

किन्तु शिवशक्ति की उस महान्लीला में एक नगण्य बिन्दु जीव के लिये उन्हें पाना कितना कठिन है, असाध्य है, फिर भी—

असाध्याः सिद्धयः सर्वाःसद्गुरोः करुणांविना।
अतः सद्गुरुः संसेव्यः सत्यमीश्वरभाषितम्॥

और उस सद्गुरु की कार्य-प्रणाली क्या है—

कथनाच्छक्तिपाताद्वायद्वापादावलोकनात्।
प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमंपदम्॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५। ६५)

सद्गुरु की कृपा अहेतुक है, किन्तु उसके लिये साधक का प्रेम भी अहेतुक होना चाहिये जब यह साध्य-साधन जुट जाता है, तो वही योग है और उसी योग के आसरे से देहस्थ सभी चक्र—पद्म-पटल खुल जाते हैं, तब उसमें दिव्य गन्ध, दिव्य ज्योति और दिव्य स्वर आदि स्वयमेव प्रकट हो जाते हैं। यह अहेतुकी कृपा सिद्धों का मार्ग है, क्योंकि इसमें 'कृपा' का ही कौशल है, 'क्रिया' का नहीं।

'योगशिखोपनिषद्' में इसी को एक कथा के रूप में कहा गया है। कहा जाता है संचराधीश सृष्टिकर्ता प्रसारदेवता ब्रह्मा ने सदाशिव से एक बार पूछा था—

सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः
तेषां मुक्तिः कथं देव कृपयावद शङ्कर।
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद॥

हे शंकर ! सभी जीव सुख-दुःखरूप मायाजाल से घिरे हुए हैं। हे देव ! कृपया मुझसे यह कहिये कि इनकी मुक्ति किस प्रकार हो सकती है। ऐसा एक उपाय बताइए, जिससे सब सिद्धियाँ प्राप्त हों, मायाजाल कट जाय और जन्म-मृत्यु-जरा तथा व्याधि का नाश हो। इसके उत्तर में देवाधिदेव महादेव ने कहा—

नानामार्गैस्तुदुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव।

हे ब्रह्मा ! कैवल्यरूपपरमपद की प्राप्ति के अनेक उपाय कहे गये हैं, किन्तु उन समस्त उपायों से उसे प्राप्त करना सहज नहीं है। एकमात्र सिद्धिमार्ग के द्वारा ही कैवल्यपद आसानी से प्राप्त होता है। अन्य प्रकार से नहीं प्राप्त होता है।

सिद्धों की अपनी एक परम्परा है, किन्तु इसमें भी देशकालपात्र के अनुसार साधनाभेद है, फिर भी सबका मूल आधार 'कृपा' है और उस कृपा का आधार चक्रभेद है। चक्रभेद उसका आधार होते हुए भी अन्य अनेकों उपायों के समान जटिल और अस्वाभाविक नहीं होता, इसीलिये सिद्धमार्ग अपनी जटिल मान्यताओं के बावजूद सहजयोग अथवा सहज साधना के नाम से कहा जाता है।

कहा गया है 'फलिष्यतीति विश्वास सिद्धेर्प्रथमलक्षणः' और सिद्धि सद्गुरु के पा जाने के बाद साधक तत्क्षण इस प्रथम लक्षण से विभूषित हो जाता है। जिन्होंने साधना-मार्ग की खोज की है, उन्हें यह मिला है और आगे भी मिलेगा। यही विश्वास है सिद्धमत का, सिद्धमार्ग का और सिद्धों का। सिद्धों के विषय में यह कहा जाता है कि वे अमर हैं। बहुत-से सिद्धों के, विशेषकर स्वामी दत्तात्रेय, भर्तृहरि आदि के विषय में तो यहाँ तक प्रसिद्ध है कि वे आज भी किन्हीं योग्य व्यक्तियों को दर्शन देते हैं। साधना-जगत् में ऐसी श्रुतियाँ भी उपलब्ध हैं। लेखक को एक सिद्ध पुरुष का सौभाग्य और दैवी विधान से दर्शन हुआ था, जिसने उसे गोरखनाथजी के विषय में उनकी साधनास्थली तथा दीक्षा-स्थान का दर्शन कराया था। उसी प्रसंग में यह भी ज्ञात हुआ कि गोरखनाथजी के गुरु ही लाहिड़ी महाशय (श्यामाचरणलाहिड़ी) के भी गुरु रहे। उन्हें बाबाजी के नाम से योगानन्द ने अपनी आत्मकथा में 'अमरगुरु' के नाम से अभिहित किया और उस आत्मकथा के सम्पादक ने अपनी टिप्पणी में लिखा है कि आज भी बाबा नाम से कातरभाव से पुकारने पर उनकी कृपा का अनुभव अनेक साधकों ने किया है। यह बाबाजी लाहिड़ी महाशय के अनुसार 'जोई कृष्ण, सोई बूढ़ा बाबा', यानी

नाथसिद्ध चौरंगीनाथ

सदाशिव स्वयं हैं। गुरु-परमात्मा की यह अविच्छिन्न धारा और उसका बहुविध प्रकाश उसी अमरता का ऐतिहासिक तथा परम्परागत प्रमाण है। अमरता का यह स्वरूप 'कायासिद्ध' 'परकाया-प्रवेश' और 'मानसदेह' अथवा 'सूक्ष्मदेह' में सिद्धों की स्थिति से है और इसका अनुभव भी साधक प्रभुकृपा से आज भी करते आ रहे हैं। यही सिद्धपरम्परा की सिद्धि का, उसकी सरलता का वह रहस्य है, जो गोपन होते हुए भी प्रकट है और सहज होते हुए भी कठिनाई से उपलब्ध है, किन्तु उसके अस्तित्व और उपलब्धि में साधकों को कोई अविश्वास नहीं था, न है, न होना चाहिये।

मृत्युञ्जय सिद्ध-पंथ

एते एक संजोगे तीन भवन एकान्ति साधना सपत पाताल, सपत पाताल ऊपर सपत दीप, सपत दीप ऊपर सपत सुनकार। सपत सुनकार ऊपर बसत निरालंव निरंजन निराकार ग्यांने मन पवन हेतु बुध मति। ए अपार श्रीगुर मछिन्द्रनाथ प्रसादे इह कौसिध संकेत वोलीयै' इह को गुर उपदेश बोलीयै, इह को परम पर अपार अनुपम बोलीयै। इह कौं ध्याइयै कंद्रप जिता चाप त्रिवंध दाय जै सकति संकोच जै गंठि फुटै ब्रह्म अग्नि प्रजालै। ब्रह्म मंडल फोड़ीयै त्रिवेणी संगम पवन संचारीयै, षट्चक्र को फुटीयै। सुमेर मध्ये वाट गगन भेदीयै, भँवर गुफा प्रवेसीयै, इहा कौ पिंड प्राण परस्वो, इह कौं परम सिध बोलियै।

इह कौं अगम बोलियै, इह कौं परम परमार बोलीयै, इह अहोनिस ध्यानै चेतने च्यार तुटै न करता विंद। परकंती पवन कलपता मन, अघोरता निद्रा, इह कौं स्वयं प्रतीत बोलीयै, इह को पिंड प्राण परचो साधन बोलीयै, इह को मृत्यु जयंत सिध पंथ बोलीयै। ए च्यार तुटै सो कायं अजरं अमरं निरविघन निष्पत। त्रिभुवने पूजा ते ऊपर कोऊ नाहीं दूजा अयं सो परमपद सो परम आसण। गुर उपदेसै जानीयै आपै आप प्रमानीयै॥

[सिद्ध चौरंगीनाथ : प्राणसांकली १३१–१४२]

卐

सिद्ध की सहज करुणा

द्वारिका तिवारी
(गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर)

वैराग्यरस के अप्रतिम रसिक योगिराज भर्तृहरि उज्जयिनी का विशाल राज्य अपने भाई विक्रम को देकर महायोगेश्वर गोरखनाथ की कृपा से योग साधना में प्रवृत हो गये। एक दिन तपस्वी सिद्ध पुरुष एक नगर में कपोती-वृत्ति का वरण कर राजपथ पर पड़े अन्न के दाने अपनी क्षुधा-शान्ति के लिये चुन रहे थे। दैवयोग से उज्जयिनी के चक्रवर्ती सम्राट् विक्रम का रथ राजपथ से किसी अज्ञात दिशा में बढ़ रहा था, सम्राट् की दृष्टि उन सिद्ध अवधूतराज पर पड़ी, जो उस समय उनके लिये अपरिचित और सामान्य योगी के अतिरिक्त और कुछ भी न थे।

'इस योगी अवधूत की भी कोई माता हो सकती है क्या ! धिक्कार है इस पुरुष को ! यह अपनी जीविका के लिये भी उद्यम नहीं कर सकता। इसकी माता ने इसे व्यर्थ जन्म दिया। भूमि का भार है यह भिक्षुक !' सम्राट् विक्रम का रथ रोक दिया गया, महाराज उज्जयिनी-पति ने अवधूत का ध्यान आकृष्ट किया, मानो वे कुछ प्रत्युत्तर चाहते थे अपने प्रश्न का। सिद्ध पुरुष वैराग्यराज्य के हिमालय पर अधिष्ठित योगिराज भर्तृहरि ने अत्यन्त कोमल और मर्मस्पर्शी शब्द कहे—उस पुरुष की जननी को धिक्कार है, जो समृद्ध और समर्थ होकर भी परोपकार करने में असमर्थ होता है। उस पुरुष की माता ने ऐसे व्यक्ति को व्यर्थ जन्म दिया, जो असहाय, अकिञ्चन और उपेक्षित की सहायता नहीं करता तथा उसे हेय मानता है। भर्तृहरि की सहज करुणा से महाराजा विक्रम का हृदय आप्यायित हो उठा। वे रथ से नीचे उतर पड़े, आवाज जानी-पहचानी थी। महाराजा ने अपने बड़े भाई सिद्ध अवधूत की निःशब्द चरण-वन्दना की, जिनके विशाल साम्राज्य का उन्हीं के सौहार्द्र से भोग कर रहे थे। भर्तृहरि ने विक्रम पर करुण दृष्टिपात किया और अन्न के दाने चुनने लगे।

[आधार : गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह]

सिद्ध कपिल

श्रीमती मधु
[डी–२४, एस० बी० पी० सी० कालोनी,
जपलासीमेंट फैक्टरी, पलामू (बिहार)]

सिद्ध महर्षि कपिल सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक थे। तत्त्व के निर्णायकरूप में उन्हें सिद्ध मुनि कहा गया है। उनकी सिद्धता की गरिमा केवल मात्र इतने से ही प्रत्यक्ष है कि भगवान् कृष्ण ने विभूतियोग वर्णन करते समय अपने–आपको सिद्धों में कपिल कहा है :

सिद्धानां कपिलो मुनिः।
(भगवद्गीता १०। २६)

सिद्ध कपिल ने सनातन चेतन तत्व का समाधि द्वारा साक्षात्कार किया और दुःख-निवृत्ति अथवा मोक्ष की शिक्षा दी। उन्होंने अपनी माता देवहूति को सांख्यशास्त्र का उपदेश दिया था। बुद्धचरित काव्य में अश्वघोष की स्वीकृति है :

स शिष्यः कपिलश्चेह प्रतिबुद्ध इति स्मृतः।
(बुद्धचरित १२। २१)

आशय यह है कि इस संसार में कपिल अपने शिष्यों सहित ज्ञानी के रूप में स्मरण किये गये हैं। श्रीमद्भागवत में वर्णन है कि पाँचवें अवतार में सिद्धों के स्वामी कपिल ने तत्वों का निर्णय करनेवाले सांख्य शास्त्र का, जो कालगति से लुप्त हो गया था, अपने आसुरि नामक शिष्य को दान दिया।

पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्वग्रामविनिर्णयम्॥
(श्रीमद्भा० १। ३। १०)

वाचस्पति मिश्र का कथन है कि सृष्टि के आदि में आदिविद्वान् कपिल धर्म-ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर प्रकट हुए।

'सर्गादावादिविद्वानत्र भगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्य सम्पन्नः प्रादुर्बभूव।'

सिद्ध कपिल ने यह स्वीकार किया कि यह मेरा निश्चय है कि अध्यात्मयोग ही मनुष्यों के आत्यन्तिक कल्याण का मुख्य साधन है, इसके द्वारा सुख-दुःख, दोनों की ही निवृत्ति हो जाती है।

योगः आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥
(श्रीमद्भागवत ३।२५।१३)

संक्षेप में सिद्ध कपिल का परिचय केवल मात्र यह है कि कपिल स्वायम्भुव मनु की कन्या देवहूति के पुत्र थे। उनके पिता कर्दम प्रजापति थे। ब्रह्मा के कहने से कर्दम ने सरस्वती नदी के तट पर तपस्या की। भगवान् ने तपस्या से प्रसन्न होकर दर्शन दिया और कहा कि मैं अपने अंश---कलारूप से देवहूति के गर्भ में तुम्हारे पुत्र के रूप में अवतीर्ण होऊँगा और सांख्यशास्त्र की रचना करूँगा।

सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्वसंहिताम् ॥
(श्रीमद्भा० ३।२१।३२)

यह तत्वसंहिता ही सांख्यशास्त्र है। कपिल ने माता देवहूति को समझाया कि भक्ति,, वैराग्य और चित्त की एकाग्रता से प्रकट हुए ज्ञान के द्वारा अन्तरात्मा-स्वरूप क्षेत्रज्ञ को इस शरीर में स्थित जान कर चिन्तन करना चाहिये।

तमस्मिन् प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया।

कपिल के सांख्य दर्शन में आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख की निवृत्ति ही परम पुरुषार्थ है। तत्वज्ञान ही सांख्य दर्शन में मुक्ति का कारण है। कर्म-क्षय से ही मुक्ति होती है। विवेक से परम वैराग्य द्वारा समस्त वृत्तियों का निरोध होनेपर जीवात्मा सभी दुःखों से छूटने पर ही कृतार्थ होता है। कपिल ने कारणरूप प्रकृति और चेतन पुरुष को नित्य माना है। अन्य सब कार्यरूप पदार्थ अनित्य हैं, आत्मा निर्गुण है।

सांख्यशास्त्र के मर्मज्ञ श्रीकपिल को सांख्य दर्शन के आचार्यों ने सिद्धगणों का अधीश स्वीकार किया है। ब्रह्मा का कथन है :—

अयं सिद्धगणाधीशः साङ्ख्याचार्यैः सुसम्मतः।
(श्रीमद्भा० ३।२४।१९)

महर्षि कपिल ने आध्यात्मिक विद्या की सांख्यशास्त्र के रूप में व्याख्या की, योग का परम रहस्य समझाया।

सिद्धसिद्धान्त और कुण्डलिनी-जागरण

डॉ० दिवाकर पाण्डेय
(महाराणा प्रताप इण्टर कालेज, गोरखपुर)

योग-साधना द्वारा अपने अन्तस् में निहित दिव्य शक्तियों को उद्बुद्ध कर ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले महान् योगेश्वर सिद्ध की संज्ञा से जाने जाते रहे हैं। उनके दर्शन एवं अध्यात्मविषयक, योग-साधनापरक एवं स्वानुभव पर आधारित सदुपदेश ही सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत हैं। कुण्डलिनी-जागरण हठयोग का एक महत्वपूर्ण अंग है। हठयोग-साधना वस्तुतः शरीर-रचना के सूक्ष्म निरीक्षण तथा शरीर के अन्तर्गत प्राण एवं मानसिक शक्तियों की क्रियाशीलता के नियमों पर आधारित है। योगी साधकों ने शरीर और मन की जटिलतम रचना-प्रणाली के शक्तियुक्त केन्द्र की खोज की और इस केन्द्रबिन्दु के नियंत्रण की विधि का आविष्कार कर शरीर के सभी कार्यों, प्राण एवं मन के ऊपर भी इस केन्द्रबिन्दु से आधिकारिक प्रभाव स्थापित करने की घोषणा की। यह केन्द्रीय शक्ति प्राण-शक्ति में निहित है। प्राण-शक्ति और मनोशक्ति को निम्नतम भौतिक तल से परे उच्चतम आध्यात्मिक भूमि पर ले जाने के लिये ही महायोगी गुरु गोरखनाथजी ने आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि षडंगयोग का विधान किया था। वस्तुतः तांत्रिक एवं यौगिक साधनायें किसी ऐसी मूल शक्ति में विश्वास करती हैं, जो अपने को नाना भावों में रूपायित कर रही है। वह मूल शक्ति ही "शिव" है और उसकी अभिव्यक्ति ही "शक्ति"। समाधि-दशा में "शक्ति" शिव-रूप प्रतीत होती है तथा समाधि से जागृत अवस्था में "शिव" शक्तिरूप प्रतीत होता है। दोनों अभिन्न हैं। शिव "शक्ति-युक्त" होकर ही सृष्टि रचने में सक्षम है, अन्यथा वह कुछ नहीं कर सकता—'शिवोऽपि शक्तिरहितः कर्तुं शक्तो न किंचन।' शिव अपने स्वभावान्तर्गत निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा, कुण्डलिनी के माध्यम से परपिण्ड के रूप में अभिव्यक्त होता है। मानव-पिण्ड में शिवक्षेत्र सहस्रार और शक्तिक्षेत्र मूलाधार बताया गया है। इन्हें परस्पर जोड़ने वाली शक्ति ही कुण्डलिनी है। जीवसत्ता का निवास जननेन्द्रिय-मूल में है तथा ब्रह्मसत्ता का

ब्रह्मरन्ध में। आत्मोत्कर्ष की महायात्रा जिस राजमार्ग से सम्पन्न होती है, उसे मेरुदण्ड या सुषुम्ना-पथ अथवा ब्रह्ममार्ग कहते हैं। कुण्डलिनी-साधना की समस्त गतिविधियाँ प्रायः इसी क्षेत्र को परिष्कृत एवं सरल बनाने के लिये हैं। इस महायात्रा के मध्य सात लोक हैं, जो सात चक्रों के नाम से भी जाने जाते हैं। योगशास्त्रों में चक्रों की संख्या के बारे में कोई हठधर्मी नहीं है। ऐसे सूक्ष्म विषयों पर योग-साधकों के अनुभव कभी-कभी भिन्न भी हो सकते है। गोरक्षपद्धति में जहाँ सामान्य योग-सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है, वहीं पर सूक्ष्म रूप से षट्-चक्रों का भी सांकेतिक वर्णन उपलब्ध है। प्राचीन योगशास्त्रों में नौ चक्रों का उल्लेख मिलता है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में नौ चक्रों की गणना की गयी है। 'विवेकमार्तण्ड' में आधारचक्र, स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और ब्रह्मरन्ध्र–इन सात चक्रों को बताया गया है। इन चक्रों में क्रमशः चतुर्दल, षट्दल, द्वादशदल, षोडशदल, द्विदल तथा सहस्रदल पद्मों की धारणा की गयी है। ये सभी चक्र कुण्डलिनी के ऊर्ध्वारोहण के समय उसके विराम-स्थल का कार्य करते हैं। कुण्डलिनी का एक के बाद एक, क्रमशः इन चक्रों में पहुँचना आत्म-साक्षात्कार की दिशा में साधक द्वारा एक नया पग आगे बढ़ने का संकेत देता है। ज्यों-ज्यों प्राण सुषुम्ना-मार्ग द्वारा इन चक्रों में पहुँचता है, त्यों-त्यों इन चक्रों के उद्घाटित होने के साथ-साथ साधक को इन चक्रों के अधिपति देवताओं के दर्शन होते हैं और उनके अनुग्रह से उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न लोकों में साधक की गति होती है। इन विभिन्न चक्रों की शक्तियों पर उसका अधिकार होता है। कुंडलिनी शक्ति के सहस्रार में पहुँचते ही साधक के प्राण और मन आत्मा के साथ एकत्व की अनुभूति करते हैं। ब्रह्मरन्ध्र में सच्चिदानन्दस्वरूप परमशिव विराजमान हैं। इस शिवपद को मन और वाणी से परे योगानुभव से ही जाना जा सकता है।

नाथयोगियों ने शक्ति की उपासना का प्रधान साधन पिण्ड को स्वीकार किया है। मानव-पिण्ड अनेक दिव्य शक्तियों का आश्रय है। समस्त ज्ञात पिण्डों की अपेक्षा श्रेष्ठ भी है। जीवन्मुक्तियुक्त सिद्धदेह से नाथपद में अवस्थान अथवा पिण्डपद का परमपद में समरसीकरण ही नाथयोगियों का लक्ष्य है। कुण्डलिनी एक व्यापक चेतन शक्ति है। उसका सम्पर्क-तन्तु मानव-पिण्ड के मूलाधार चक्र में है, जो व्यक्ति-सत्ता को विश्वसत्ता के साथ जोड़ता है। सर्वव्यापक होते हुए भी कुण्डलिनी शक्ति की विशेष रूप से अभिव्यक्ति मानव-देह में ही होती है। अतः इस देह में ही उसके उत्थान तथा ध्यानादि से साधना-सिद्धि सम्भव है। कुण्डलिनी-जागरण से पिण्डस्थ चक्र-संस्थानों में जागृति आती है और चक्र-संस्थानों पर

नियंत्रण हो जाने से आत्मजगत् पर साधक का अधिकार हो जाता है। यह आत्मविजय महर्षियों की दृष्टि में विश्वविजय से भी अधिक महत्वपूर्ण है।

कुण्डलिनी शक्ति एक ही है तथापि स्थान एवं सूक्ष्म-स्थूलादि भेद से विभिन्न नामों से जानी जा सकती है, यथा–अधः, मध्य, एवं ऊर्ध्व कुण्डलिनी, स्थूल एवं सूक्ष्म कुण्डलिनी, प्रबुद्ध एवं अप्रबुद्ध कुण्डलिनी आदि। अप्रबुद्ध कुण्डलिनी का निवास मूलाधार में है। मूलाधार चक्र की स्थिति रीढ़ की हड्डी के सबसे निचले छोर से बतायी गयी है। गुदा से दो अंगुल ऊपर तथा लिंग से दो अंगुल नीचे चार अंगुल चौड़ा चतुर्दल आधारपद्म है। उसके मध्य त्रिकोणाकार योनि है, इसे कामपीठ या कामाख्या योनि भी कहते हैं। इस योनि में सुषुम्ना-द्वार के सम्मुख स्वयंभू महालिंग है। इस स्वयंभू लिंग के साढ़े तीन कुण्डल मार कर कुण्डलिनी शक्ति सोई पड़ी है। इस सुषुप्तावस्था में भी वह शरीर–धारणा का कार्य करती है। स्वभाव से चेतन होते हुए भी यह अप्रबुद्ध एवं अधोमुखी कुण्डलिनी संसारी पुरुषों के लिये नाना प्रकार के शोक-मोहादि प्रपंचों का सम्पादन करती हुई बन्धन का हेतु है। वही शक्ति जागृत एवं ऊर्ध्वमुखी होने पर जब सहस्रदल तक संचरण करने लगती है, तो जन्म-मरणविषयक समस्त दुःखों को दूर करने में समर्थ होती है। इसके उत्थान के लिये प्राणायाम द्वारा अपानवायु के निकुंचन तथा ध्यानादि की यौगिक क्रियायें अपेक्षित हैं। जीवात्मा प्राणवायु के अधीन है, प्राण-अपान अपने चंचल स्वभाव के नाते मूलाधार से लेकर ऊपर मुख-नासिका-छिद्रपर्यन्त संचरित होते रहते हैं, जब तक इन पर नियंत्रण नहीं होता, तब तक हृत्कमल में ध्यान की प्रक्रिया सम्भव नहीं होती—

प्राणापानवशो जीवो ह्यधोर्ध्वं च धावति।
वामदक्षिणमार्गेण चंचलत्वान्न दृश्यते॥
(गोरक्षपद्धति श्लोक–३९)

ऊपर से आज्ञाचक्रगत प्राणवायु नीचे मूलाधारस्थित अपान वायु तथा मूलाधारगत अपानवायु आज्ञाचक्रस्थ प्राणवायु को परस्पर आकर्षित करती रहती हैं। प्राणायाम-क्रम में आसनादि के दृढ़ हो जाने पर योगाभ्यासी पुरुष प्राण और अपान का परस्पर संयोग करता है। मणिपूर की कर्णिका में अष्टधावेष्टित कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरन्ध्र-मार्ग को अवरुद्ध कर सोई पड़ी रहती है। प्राणवायु के उत्तेजित होने से प्रबुद्ध होकर वह मन एवं प्राणवायु के सहित सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी से ऊर्ध्वगामी होती है। इस अवसर पर शक्तिचालनी मुद्रा, महामुद्रा, खेचरीमुद्रा तथा जालन्धर, उड्डीयान, मूलबन्धादि के अभ्यास की

आवश्यकता है। इनके सम्यक् अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहज ही सुषुम्नाद्वार को छोड़ देती है। अतः प्राणवायु स्वतः सुषुम्ना में प्रवेश पाने लगती है। कुण्डलिनी-जागरण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए गोरक्षसंहिता में कहा गया है—चित्त को मणिपूर-चक्र में लगाकर अपान-द्वार को संकुचित-विस्तृत करता हुआ योगी साधक नीचे की गति को रोककर ऊपर की ओर खींचे, जिससे वह मन और प्राण से संयुक्त हो जाय, फिर उस ऐक्य में अग्नि के समान दहकते हुए ज्योतिरूप का ध्यान करे, जिससे वह ज्योति मणिपूर-चक्र का वेधन कर हृदयपद्मस्थित अनाहत चक्र में पहुँचती है और अभ्यास की सिद्धि होने पर अनाहत चक्र को भी पार करती हुई वह शक्ति ब्रह्मरन्ध्र तक जा पहुँचती है और फिर शरीर छोड़ने के समय ब्रह्मरन्ध्र को भी त्याग कर परमशून्यस्वरूप महेश्वर ब्रह्म में जाकर लय को प्राप्त हो जाती है।

नाभौ संयम्य पवनगतिमधो रोधयन्संप्रयत्नादा-
कुंच्यापानमूलं हुतवहसदृशं तन्तुवत्सूक्ष्मरूपम्।
तद्‌वध्वा हृत्सरोजेतदनुदलणके तालुके ब्रह्मरन्ध्रे
भित्वाते यान्ति शून्यं पविशति गगने यत्र देवो महेशः॥
(गोरक्षसंहिता श्लोक ७८)

प्राणापान का संयोगकर जाग्रत कुण्डलिनी को सहस्रदल में पहुँचा देना ऊर्ध्वशक्तिपात कहलाता है। सभी पदार्थों से ऊपर नाम-रूपादि से रहित अद्वैत रूप परमपद ही ऊर्ध्व संकेत से प्रसिद्ध है। उस परब्रह्म के अखण्ड स्वरूप का तथा आत्मस्वरूप का उस अद्‌भुत चैतन्य से साक्षात्कार कराने में तत्पर होने वाली शक्ति ही ऊर्ध्वशक्ति के नाम से सम्बोधित की जाती है। प्राण-अपान की एकता एवं मुद्रा-बन्धादि के सिद्ध हो जाने पर ऊर्ध्वगामी कुण्डलिनी सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मा-विष्णु और रुद्रग्रन्थियों का भेदन करती हुई पिण्डस्थ सभी चक्रों का विकास कर देती है। सहस्रदल में कुण्डलिनी के पहुँचने पर प्राण, इन्द्रिय और मन केसमस्त व्यापार रुक जाते हैं। प्रकाश और अन्धकार, गति और विराम, व्यावहारिक और पारमार्थिक का भेद लुप्त हो जाता है। मोक्ष-स्थान ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर कुण्डलिनी-शक्ति परमात्मा शिव से पूर्णतः तादात्म्य स्थापित कर अपनी उच्चतम और सर्वाधिक गौरवशाली आत्माभिव्यक्ति और आत्मसुख प्रकट करती है। मूलाधार-चक्र से उत्थित कुण्डलिनी शक्ति की उसके प्रियतम 'शिव' से आनन्दमय पुनर्मिलन की पवित्र यात्रा यहाँ पर पहुँचकर अपना ध्येय प्राप्त कर लेती है।

सिद्धसिद्धान्तपद्धति

रामलाल श्रीवास्तव

महायोगी शिवगोरक्ष भगवान् गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' ऐसे असाधारण तथा अपूर्व, परमदिव्य योगशास्त्र की रचना कर आधिदैविक, आधिदैहिक और आधिभौतिक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति प्रकाशित कर आध्यात्मिक मुक्ति का विधान प्रशस्त किया। यह विधान ही सिद्ध-साधना-पद्धति में सिद्धान्त कहा गया है। यह पिण्डगत साधना की ब्रह्माण्ड में अखण्ड परमात्मस्वरूप की अनुभूति का सच्छास्त्र है। गोरखनाथजी की दृष्टि में यह सिद्धान्त का सार है, श्रेयस्कर और प्रासादिक अथवा निर्मल है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' का उपसंहार करते हुए उन्होंने अभिमत व्यक्त किया है।

'पिण्डे सर्वगतं विधानममलं सिद्धान्तसारं वरम्।'
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६। ९३)

नाथ–सम्प्रदाय अथवा सिद्धामृत मार्ग ही नहीं, सम्पूर्ण नाथयोग तथा सामान्य-असामान्य योग-साधना के धरातल पर 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' गोरखनाथजी की अप्रतिम देन है। पतञ्जलि का योगदर्शन तो योग के आदिवक्ता भगवान् हिरण्यगर्भ के योगानुशासन का सूत्रात्मक संकेत मात्र है और महर्षि ने आरम्भ में ही हिरण्यगर्भ की योगकृति का सन्दर्भ व्यक्त किया है :

'अथ योगानुशासनम्'
(योगसूत्र १। १)

इस सन्दर्भ का तात्पर्य यह है कि पतञ्जलि ने योग का जो कुछ भी निदर्शन किया है, उसका आधार-वाङ्मय हिरण्यगर्भ का 'योगानुशासन' है। महाभारत में योग के वक्ता हिरण्यगर्भ का उल्लेख है।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।
(महाभारत शान्ति० ३४७। ६५)

यद्यपि गोरखनाथजी की योगदृष्टि में हिरण्यगर्भ का 'योगानुशासन' था, तथापि उन्होंने पार्वती के प्रति शिव द्वारा सप्तश्रृंग पर उपदिष्ट महाज्ञान का, जिसका महायोगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने श्रवण कर उन्हें गुरु-परम्परा को सजीव रखने के लिए प्रदान किया था, 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में नाथयोग के रूप में स्पष्ट प्रतिपादन है। हिरण्यगर्भ के 'योगानुशासन' से यही 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की विशिष्टता है और यही कारण है कि गोरखनाथजी की यह रचना निरन्तर अपनी मौलिकता में प्रतिष्ठित है और योगसाधना की सिद्धि के स्तर पर भविष्य में भी प्राणवान् अंग के रूप में स्वीकृति होती रहेगी। गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' शास्त्र को महादिव्य पारमेश्वर रहस्य का सिद्धान्त कहा है। सिद्धों का अनुभवस्वरूप 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' योगशास्त्र साक्षात् अनुभव है, आत्मानन्द प्रदान करने वाला है और सर्वसन्देहनाशक है, सत्स्वरूप है।

एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम्।
सिद्धान्तं सर्वसारस्य नानासंकेतनिर्णयम्॥
सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यः प्रत्ययकारकम्।
आत्मानन्दकरं नित्यं सर्वसन्देहनाशनम्॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६। ६७-६८)

गोरखनाथजी द्वारा उपदिष्ट योग महाज्ञान ही नाथयोग-मार्ग का साधन तत्व है। यही कारण है कि नाथयोगमार्ग को सिद्धमत, सिद्धामृत मार्ग अथवा अवधूत-मार्ग कहा गया है। यद्यपि नाथ-सम्प्रदाय में अनेक महत्वपूर्ण योगग्रन्थों की रचना हो सकी है, तथापि 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' ग्रन्थ ऐसा सिद्धान्त-प्रतिपादक दूसरा ग्रन्थ कोई है ही नहीं। वास्तव में यह योगदर्शन का सम्पूर्ण विवेचनात्मक विचार-वाङमय है और इस योगज्ञान में गोरखनाथजी ने बड़ी रहस्यमयी सूक्ष्म-दृष्टि के द्वारा साधन-प्रक्रिया भर दी है, पर उसका अभ्यास सिद्धपुरुष अथवा अवधूत गुरु की ही देख-रेख में सम्भव है। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के गहन परिशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस अप्रतिम नाथयोगशास्त्र में योगदर्शन तथा प्रक्रिया—साधनाभ्यास का सफल समन्वय हो सका है।

योगविषय का प्रतिपादन 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में गोरखनाथजी ने करते हुए जिस प्रत्यक्षानुभूति-अपरोक्षानुभूति के सहारे परमात्मा के अखण्ड—अलख निरञ्जन स्वरूप का निजाशक्ति के समाश्रय में वर्णन किया है, वह अन्यत्र असाध्य भले ही न हो, दुर्लभ तो है ही। इस योगशास्त्र के छः अध्यायों में पिण्डोत्पत्ति, पिण्ड-

विचार, पिण्डसंविति, पिण्डाधार, पिण्डपदसमरसभाव और नित्यावधूत-लक्षण का उपदेश करते हुए गोरखनाथजी ने हठयोग—प्राण-साधना के परिप्रेक्ष्य में परम पद की प्राप्ति को ही नाथयोग का प्रतिपाद्य स्वीकार किया है। उन्होंने समस्त तत्वों की समावस्था के निरुद्यम—सहज स्थिति को समाधि कहते हुए उसकी असम्प्रज्ञात-चरमावस्था में परमपद की प्राप्ति सिद्ध की है। उन्होंने नाथयोग का परम तत्व इस सिद्धान्त में स्थिर किया है कि पिण्ड में अखण्ड ब्रह्माण्ड की सहज अभिव्यक्ति के माध्यम से परमात्म ज्योति का पूर्ण साक्षात्कार होता है। यही सिद्ध-मार्ग कहा गया है। गोरखनाथजी ने अपनी प्रसिद्ध रचना 'योगवीज' में इस कथन की प्रामाणिकता अंकित की है।

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम्।
सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम्॥

उन्होंने इस कथन की पुष्टि के लिये इसे शिवभाषित—शिव-उपदिष्ट कह कर इसके सत्सिद्धान्तस्वरूप की रक्षा की है। उन्होंने परमपद को स्वसंवेद्य कहा है, स्वसंवेद्य कह कर योगमार्ग का सर्वतन्त्रस्वरूप स्पष्ट किया है।

'स्वसंवेद्यमेव परमपदम्।'
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५।४)

यद्यपि परम पद स्वसंवेद्य है, अपरोक्षानुभवैकगम्य है, तथापि जिस साधक पर सद्गुरु की कृपा नहीं होती अथवा जो साधक सद्गुरु के योगोपदेशामृत से वंचित रह जाता है, वह परम पद को प्राप्त नहीं कर सकता है।

प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम्।
\+ \+ \+
अतएव—परमपदप्राप्त्यर्थं स सद्गुरुः सदा वन्दनीयः॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५।६५, ७०)

इस परम पद की प्राप्ति की दिशा में अधः शक्ति के रूप में प्रसुप्त कुण्डलिनी का प्रबोधन आवश्यक है। मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी अपनी सुप्तावस्था से जाग कर मणिपूरक और अनाहत चक्र को पार करने के उपरान्त प्रकाशस्वरूपिणी हो उठती है। यह मध्याशक्ति कहलाती है और आज्ञाचक्र का भेदन कर ऊर्ध्वशक्ति के रूप में सहस्रार में प्रवेश कर शिवस्वरूप हो जाती है।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' रचना निस्सन्देह सिद्धों के सिद्धान्त का अक्षर वाङमय है और सिद्धपुरुषों द्वारा परम्परा से स्वीकृत है। इसकी लोकप्रियता का प्रमाण यह है कि अभी प्रायः दो सौ साल पहले काशी के प्रसिद्ध नाथयोगमर्मज्ञ बलभद्र ने इसके सारतत्व को स्वरचित्त श्लोकों में अनुस्यूत कर 'सिद्धसिद्धान्त संग्रह' का प्रणयन किया, जो इस योग-ग्रन्थ को समझने का एक विशिष्ट माध्यम है। किन्हीं कृष्णराज के निर्देश से बलभद्र ने 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' रूप पुण्यकार्य सम्पादित किया था। उनका कथन है :

यत्पदाब्जरजः स्पर्शादरजस्कं मनो भवेत्।
स एव गुरुनाथो मे कृपासिन्धुः प्रसीदताम्॥
अथो ये सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सुनिरूपिताः।
संग्रहं तनुते तेषां कश्चिच्छ्रीकृष्णतुष्टये॥
(सिद्धसिद्धान्तसंग्रह १।१-२)

बलभद्र ने श्रीनाथ गुरु—साक्षात् श्रीगोरखनाथ के ही पदकमलों में प्रणति के परिणामस्वरूप उनकी प्रसन्नता अथवा अनुग्रह से मन का अरजस्क—निर्मल होना स्वीकार किया है। उन्होंने 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' में 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' का साधारणीकरण किया है। 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' का प्रकाशन महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज ने सन् १९२५ में सरस्वती भवन 'टैक्स्ट सेरीज' के अन्तर्गत काशी से किया था।

मैंने संस्कृत का मूलपाठ अत्यन्त संशोधितरूप में सिद्धपूरवाड़ा कुटी गान्धारा, जालन्धर द्वारा प्रकाशित और सम्राट प्रेस, पहाड़ी धीरज दिल्ली द्वारा मुद्रित 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' से लिया है। यह अत्यन्त प्रामाणिक और शुद्ध है तथा इसके दो संस्करण सन् १९४० ई० और १९७१ ई० में क्रमशः प्रकाशित हो चुके हैं। इसकी संस्कृत टीका महामहोपाध्याय द्रव्येश झा ने लिखी है और इसका हिन्दी रूपान्तर योगी भीष्मनाथ ने किया है। मैंने अपने हिन्दी रूपान्तर में द्रव्येश झा महोदय की टीका से भी थोड़ी-बहुत सहायता ली है, इससे मैं अपने हिन्दी-भाष्य को अधिक सुगम-सहज-सुबोध कर सका।

'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के उपर्युक्त संस्करण का अंग्रेजी में सारतत्व प्रस्तुत करने में डॉ० कल्याणी मल्लिक ने भी उपयोग किया और इस तरह 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' की लोकप्रियता बढ़ाने में उनका योगदान कम नहीं है। गोरखनाथ

एण्ड दि कनफटा योगीज' अंग्रेजी ग्रन्थ के प्रणेता महामति ब्रिग्स ने भी 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की चर्चा की है और गोरखनाथकृत इस रचना के अतिरिक्त उन्होंने नित्यानन्दकृत 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' नामक एक और रचना का उल्लेख किया है। 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' में इन्हीं नित्यानन्द को नित्यनाथ कहा गया है और उसमें नित्यनाथकृत 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' से दो-तीन श्लोक उद्धृत हैं, जो बहुत ही मार्मिक हैं और गोरक्षसिद्धान्त का विशिष्ट प्रतिपादन करते हैं। उनमें से (१ । ३) एक है :

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपति सुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशा नैव कालः।
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधिर्नैव कल्पाः
स्वयं ज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते।

सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर! आप के परमपदतक ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र, इन्द्र और देवगण, पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, आकाश, दिशाएँ, काल, वेद, यज्ञ, सूर्य और चन्द्रमा, विधि-कल्प की भी पहुँच नहीं है, एकमात्र सत्स्वरूप निजा शक्ति—ज्योति ही उस परम पद में अभिव्यक्त है।

महायोगी गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में योगसाधकों के संतोष और आत्मतृप्ति के लिये यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि जो कुछ भी इस शरीर में सुखानुभव है, वही स्वर्ग है और जो दुःख है, वही नरक है। सकाम कर्म ही बन्धन है, निर्विकल्पता ही मुक्ति है, द्वैत-प्रपंच की शान्ति से ही यह मुक्ति सुलभ होती है।

यत्सुखं तत्स्वर्गं यद्दुःखं तन्नरकं, यत्कर्म तद्बन्धनं यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः।

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३ । १३)

यह स्वीकार करना नितान्त युक्तिसंगत और अत्यन्त समीचीन है कि महायोगी गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' मे सनातन, परम्परागत योग का स्वरूप साधना और दर्शन के स्तर पर सुनिश्चित किया। योग सार्वभौम जीवन-दर्शन का प्रयोगात्मक सर्वश्रेष्ठ विज्ञान है, जिसके समाश्रय में सांख्य, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा को क्रमशः प्रकृति-पुरुष के तत्वात्मक

सम्बन्ध, दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति, जड़ से असंगता, असत् से परे सद्ज्ञान की प्रतिष्ठा, कर्म में परमेश्वर की आराधना और आत्मज्ञान अथवा अखण्ड ब्रह्मज्ञान में स्वरूपबोध के उद्गम का मूल प्रवाह दर्शनीय है।

योग के सम्बन्ध में प्राचीन काल से ही तन्त्र और देहात्मवादी दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में अनेकानेक भ्रामक और गलत धारणाओं से सत्य के प्रति जिज्ञासु साधकों को दिग्भ्रमित होना पड़ा। महायोगज्ञानामृत से तृप्त होने वाले उत्सुक प्राणियों को विभिन्न साम्प्रदायिक और दार्शनिक मान्यताओं के कठघरों में बड़ी-बड़ी प्रताड़नायें सहने पर भी सत्स्वरूप का बोध दुर्लभ होता गया। योग के सत्सिद्धान्तों को अपनी-अपनी मान्यताओं के वाग्जाल में उलझा कर योगमार्ग में सही प्रगति की दिशा में बढ़ने वालों को बड़े-बड़े तथाकथित आत्मज्ञानियों और परमात्मतत्व की चर्चा करने वालों ने भ्रमित कर दिया। अतएव 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' ऐसे भ्रमित जिज्ञासुओं के लिये एक ध्रुव अक्षर प्रकाश है, जिसके द्वारा चिरकाल तक लोग योग का सही-सही मूल्यांकन करते हुए साधना में अनायास सहजसिद्ध स्वरूपबोध प्राप्त करते रहेंगे। 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' की रचना की आधारशिला है परमपद की सहज प्राप्ति, जिसमें जीवात्मा और परमात्मा में अभेदता—सम्पूर्ण सामरस्य अथवा ऐक्य की स्थापना हो जाती है।

यह निर्विवाद है कि जहाँ पातञ्जल योग का दर्शन समाप्त होता है, वहाँ नाथयोग-ज्ञान का साधना और दार्शनिकता के स्तर पर आरम्भ होता है। महर्षि पतञ्जलि ने-अपने योगानुशासन के प्रकाश में चित्तवृत्तिनिरोध को योगसिद्ध कर द्रष्टा के स्वरूपावस्थान को उसका अमोघ फल बताया है।

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'
(पातञ्जलयोग० १। ३)

गोरखनाथजी ने 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में अष्टांगयोग का स्वरूप विवेचित करते हुए इस चित्तवृत्तिनिरोधरूप पातञ्जल योग को नियम के अन्तर्गत निश्चित कर मत व्यक्त किया है।

'नियम इति मनोवृत्तिनां नियमनम्'
(सि० सि० प० २। ३३)

इस तरह मनोवृत्ति के नियमन में ही पतञ्जलि द्वारा स्वीकृत योग की प्रतिष्ठा कर 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' को 'आसनमिति स्वस्वरूपे समा

सन्नता' के रूप में प्रतिपादित कर दिया। अतएव यहीं पातञ्जलयोग की समाप्ति है और सिद्धसिद्धान्तपद्धति में प्राणायाम आदि का विवेचन करते हुए महायोगी गोरखनाथजी ने परमपद की प्राप्ति के लिये सर्वतत्वसमावस्था-निरुद्यमत्व की अनायास स्थिति को समाधि कह कर नाथयोग की परिपूर्णता स्थापित की है। उनका कथन है।

सर्वतत्त्वानां समावस्थानिरुद्यमत्वमनायासंस्थितिमत्वमिति समाधिलक्षणम्।

(सिं० सि० प० २। ३९)

महायोगी गोरखनाथजी ने सिद्धसिद्धान्तसम्मत नाथयोग की साधना की सिद्धि भवताप के शमन में प्रतिष्ठित की है। उन्होंने गोरक्षशतक में कहा है।

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः।।
(गोरक्षशतक-६)

नाथयोग के सेवन से त्रय—आधिदैहिक, आधिभौतिक और आधिदैविकताप का शमन—नाश हो जाता है। सांसारिक दुःख से पीड़ित होने का भय नहीं रह जाता और जीवन में गुरु की कृपा से परमपद अभिव्यक्त हो उठता है। परमपद की अभिव्यक्ति का आशय है गुरु के सान्निध्यमात्र से जीव का सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाना, जीवात्मा सम्पूर्ण चैतन्य का वरण कर लेता है।

आज विश्व के प्राणियों में भारतीय योग के प्रति वास्तविक जिज्ञासा का उदय होता जा रहा है, इस दिशा में योग-साधना के दार्शनिक और साधनात्मक, दोनों पक्षों का निर्देशन 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में उपब्लध है। मैंने हिन्दी भाष्य को बहुत ही सरल और सुगम रखने का सत्प्रयास किया है, जिससे लोगों को गोरखनाथजी की सिद्धपद्धति का प्रकाश प्राप्त हो सके। योगज्ञान की महिमा अपरिसीम है। योग अपने-आप में परमात्मानन्द का मधुरतम रस है, इस योगामृत का सेवन सद्गुरु की कृपा से होता है। जिज्ञासु जबतक श्रद्धापूर्वक गुरुज्ञान नहीं पाता तबतक यह योगामृत दुर्लभ है। योगदर्शन के महान् मर्मज्ञ

तथा भारतीय दर्शनों के प्रकाण्ड विद्वान् और योगसाधना के अनुभवी आचार्य, गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथजी महाराज के 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' के प्रकाशन संकल्प में जो कुछ भी भूमिका निभा सका, यह महाराज श्री के आशीर्वाद का ही श्रेयस्कर फल है, अन्यथा 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' ऐसे रहस्यमय योगशास्त्र का मर्म समझना मेरे लिये दुष्कर ही कहा जा सकता है। मेरा विश्वास है कि नाथयोग को समझने में योगसाधकों को इस प्रकाशन से बड़ी सुगमता होगी।

सिद्ध-साहित्य एवं नाथ-सिद्ध-परम्परा

कु० इन्द्रावती त्रिपाठी
(शोधछात्रा, गोरखपुर विश्वविद्यालय)

बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय की परिणति, वज्रयान, मंत्रयान, कालचक्रयान, सहजयान, तंत्रयान आदि रूपों में हुई। इसी महायान सम्प्रदाय की विभिन्न अनुचेतनाओं पर रचित साहित्य को "सिद्ध-साहित्य" की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इस वर्ग के साहित्य के बंगाल के पालवंशीय राजाओं के शासन-काल में आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी के मध्य की भाषा के विकासशील स्वरूप के भी दर्शन हो जाते हैं। इस विशिष्ट साहित्यिक धारा का सर्वप्रथम प्रकाशन महामहोपाध्याय हर प्रसाद शास्त्री ने सन् १९१६ में 'हजार वत्सरेर पुरान बांगला भाषाय बौद्ध गान औ दोहा" (हजार-वर्ष प्राचीन बंगला भाषा का बौद्ध गान औ दोहा) नाम से कराया (प्रस्तुत संग्रह सन् १९१६ में वंगीय हिन्दी-परिषद्, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ)। नेपाल दरबार पुस्तकालय में चार स्वतन्त्र ग्रन्थ—"चर्याचर्यविनिश्चय' सरोजवज्र का 'दोहा कोश', कृष्णाचार्य का 'दोहाकोश' तथा 'डाकार्णव' संकलित है। इन समस्त को एक ग्रन्थ में शास्त्री महोदय ने सम्पादित किया तथा उसका नाम रखा--'चर्यागीतिसंग्रह। द्वितीय प्रयास सन् १९२८ में डा० शहीदुल्ला ने किया। उन्होंने इन कृतियों में व्यक्त भावधारा, भाषा आदि का अध्ययन मूलकृति के अंशों के अनुवादादि को फ्रेंच भाषा में तथा मूलपाठ को रोमन लिपि में प्रकाशित कराया। (प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य और उनका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव–डा० रामसिंह तोमर १९६३, पृ० १७०) तीसरा प्रयास डा० प्रबोधचन्द्र बागची का है, उन्होंने सन् १९३९ में इन रचनाओं के तिब्बती अनुवाद की सहायता से मूलपाठ का उद्धार किया। चतुर्थ प्रयास पुनः डा० शहीदुल्ला ने सन् १९४० में किया, जिसमें उन्होंने डा० बागची के पाठ में कुछ संशोधन करते हुए अंग्रेजी भाषानुवाद के साथ बंगला लिपि में चर्यागीतों को प्रकाशित करवाया। (ढाका यूनिवर्सिटी-स्टडीज १९४०) पचम 'चर्यागीति पदावली' नाम से डा० सुकुमार सेन ने बँगला

लिपि में इसका एक और संस्करण सन् १९५८, वर्धमान), प्रकाशित कराया, जो मात्र प्रयास है। इधर हिन्दी जगत् को इस साहित्य से परिचय कराने का श्रेय पं० राहुलसांकृत्यायन को है। इन्होंने तिब्बती साहित्य के अनुसन्धान के द्वारा सिद्धों की कविता को सर्वप्रथम गंगापुरातत्वांक में प्रकाशित कराया। पुन: प्रयाग से सन् १९३७ में वही अंश 'पुरातत्व-निबन्धावली में हिन्दी के प्राचीनतम कवि' नाम से प्रकाशित हुआ (पुरातत्वनिबन्धावली—पं० राहुलसांकृत्यायन १९३७ ई० प्रयाग से प्रकाशित)

सिद्ध-साहित्य का एक छोटा-सा इतिहास है। ई० पू० पाँचवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध से जैन और बौद्ध धर्म का साथ-साथ विकास हुआ। वैदिक कर्ममाण्ड की जटिलता और हिंसा की प्रतिक्रिया में सहानुभूति और सदाचार द्वारा आत्मवाद के विनाश से तृष्णा और दुःखरहित निर्वाण की प्राप्ति करना ही बौद्धधर्म का आदर्श रहा। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग चार सौ वर्ष बाद बौद्धधर्म दो प्रमुख सम्प्रदायों में वर्गीकृत हो गया—महायान और हीनयान। (महायान बड़ा मार्ग, हीनयान छोटामार्ग)

'महायान' नाम महाकवि अश्वघोष का दिया हुआ है। महायान ने बौद्धधर्म के आचारप्रधान विचारों को लोकपरक सांचे में ढाला, किन्तु हीनयान सम्प्रदाय के सिद्धों ने उसे उसी रूप में स्वीकार किया। बुद्ध की आचार-प्रधान शिक्षा के दो प्रमुख तथ्य हैं—नैराश्यवाद तथा परिणामवाद। बुद्ध की मान्यतानुसार सभी पापों, दुष्प्रवृत्तियोंके मूल में उपनिषदों का आत्मवाद है, जिसके अनुसार शरीर, मन तथा इन्द्रियों से पृथक् सत्ता स्वतंत्र रूप में आत्मा की है। इसलिये बुद्ध भगवान् आत्मा को प्रत्यक्षगोचर मानस प्रवृत्तियों का पुंज संघात मात्र मानते हैं। उन्होंने पाँच-स्कन्धों को ही स्वीकार कियां है—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। व्यक्ति के इन्हीं पंचस्कन्धों का संघात होने से यह सिद्धान्त नैराश्यवाद से प्रचलित हुआ। बुद्धमत में इस विश्व में परिणाम ही सत्य है, किन्तु इस परिणाम के भीतर विद्यमान किसी परिणामी पदार्थ का अस्तित्व सत्य नहीं है। हीनयान सम्प्रदाय इन्हीं सिद्धान्तों का पूर्णपोषक था, इसलिये हीनयान को श्रावकबोधिका आदर्श अभीष्ट था। श्रावक का अर्थ है, बुद्ध के पास धर्म सीखने वाला व्यक्ति। इस सीखे हुए धर्म के अनुसरण द्वारा हीं हीनयानी सिद्ध निर्वाण प्राप्त करता है।

महायान बौद्ध धर्म के साथ-साथ हीनयान की कष्टप्रद और दुःसाध्य जीवन-पद्धति को लोकपरक और सहज बनाने के विचार को लेकर आगे बढ़ा तथा

कालान्तर में अपने विभिन्न स्वरूपों—मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान आदि के माध्यम से विकसित हुआ। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार ये मंत्र एक-दो अक्षरों की भिन्न-भिन्न स्थिति और संयोगों द्वारा बना लिये जाते थे और उनके उच्चारण की विशेष शैली पर ध्यान दिया जाता था; इन्हीं मंत्रों को विशेष महत्ता प्रदान करने वाला महायान का उपसम्प्रदाय मंत्रयान के नाम से प्रसिद्ध हुआ (उत्तरी भारत की संत-परम्परा) (भूमिका आ० परशुराम चतुर्वेदी पृष्ठ ३४)।

वज्रयान का प्रमुख तत्व शून्यवाद है, जिसको वज्रयानी शून्य, विज्ञान और महासुख तीन तत्वों से युक्त मानते हैं। वज्रयान सिद्धों की साधना कष्टप्रद थी। कालान्तर में इसी कष्टप्रद साधना को त्याग कर सिद्धों का एक वर्ग सहज साधन को स्वीकार करने लगा, जिसे सहजयान के नाम से जाना जाता है। सहज वह अद्वय तत्व है, जो प्रज्ञा और उपाय के सहगमन से उद्भूक्त हो। अतः सहज के माध्यम से जो सिद्ध महासुख की प्राप्ति करता है, उसे सहजयानी सिद्ध कहा गया है।

चौरासी सिद्धों में से कई एक का सम्बन्ध कालचक्रयान से था। कालचक्रयान में काल 'शब्द' का 'का' उस कारण का प्रतीक है, जो सर्वकारणरहित तत्व में अन्तर्निहित रहता है। 'ल' अक्षर का अर्थ उस लय से है, जो नित्य संसृति में सदा के लिये सबके अन्तर्भुक्त होने की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार 'चक्र' शब्द का 'च' भी चलचित्त का बोधक है और 'क्र' उसके विकास का। यह योगप्रधान साधना थी। इस प्रकार सिद्ध-साहित्य के विकास का सम्बन्ध महायान, हीनयान और उसके विभागों से क्रमशः हुआ।

सिद्धों की संख्या चौरासी मानी गयी है। वर्णरत्नाकर की सूची में यह सख्या ७६ दी गयी है। हठयोगप्रदीपिका में ३८ और चर्यापदों में इनकी संख्या मात्र २२ है। प्रत्येक सूची के नामों के अन्त में पाद, पा, नाथ शब्द जुड़े हुए हैं। 'पा' शब्द संस्कृत के 'पाद' शब्द का ही संक्षिप्त रूप है, जिसका प्रयोग आदर अथवा गौरव के रूप में किया जाता है। 'नाथ' शब्द का साधारण अर्थ स्वामी होता है, पीछे इसे कुछ विशिष्टता भी मिली और यह क्रमशः, ऐसे महापुरुषों का बोधक बन गया, जिन्हें अतिमानवत्व अथवा देवत्व तक भी प्रदान किया जा सकता था। फलतः सहजयानी बौद्धसिद्धों के समय तक आकर इसके प्रयोग दोनों प्रकार से होने लग गये। एक ओर जहाँ नाथ को काय, वाक्, एवं चित्त के प्रभु का बोधक समझा जाने लगा, वहाँ दूसरी ओर इसे सहजतत्व का

परिचायक तक भी स्वीकार कर लिया गया, जिसकी एक परम्परा चल पड़ी। इस बात का पता नाथसिद्धों के साम्प्रदायिक संग्रह-ग्रंथों से चलता है, जहाँ कहा गया है कि इस मार्ग के मतानुसार अद्वैतपरवर्ती नाथ ही देवता है, निराकार ज्योति का अवलम्बन करके उसका ध्यान किया जाता है, वही आदिगुरु है, आगे चलकर सम्प्रदाय के चार प्रमुख गुरुओं के नाम का उल्लेख करते हैं—मत्स्येन्द्र, ईश्वर (शिवआदिनाथ), चतुरगी और गोरक्ष। 'नाथसिद्ध' शब्द वाले द्वितीय अंश अर्थात् सिद्ध के लिये कहा जा सकता है कि इसका प्रयोग भी सदा एकप्रकार से किया हुआ नहीं मिलता। 'अमरकोश' में इसे किसी देवयोनि का वाचक बतलाया गया है, जिसकी गणना यहाँ किन्नर, गन्धर्व एवं गुह्यक आदि के साथ की जाती है। इसी प्रकार 'सिद्ध' शब्द का एक अन्य प्रयोग ऐसे लोगों के लिये भी किया गया मिलता है, जो तप अथवा योगादि के द्वारा सिद्धि प्राप्त कर मुक्त दशा को पहुँच जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तर्गत महर्षियों के साथ-साथ सिद्धों के विराट् रूप के प्रति स्तुति-गान किया गया है—

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥
(गीता ११।२१)

श्रीकृष्ण ने बतलाया है कि विभूतिमान् सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ—

सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ (गीता १०।२६)

गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार भी सम्भवतः ये ही वे सिद्ध लोग हैं :—

सिद्ध बिरक्त महामुनि जोगी। तेपि काम बस भए वियोगी ॥
(रामचरितमानस बालकाण्ड सोरठा ८५)

जो श्रद्धा एवं विश्वासरूप भवानी और शंकर के बिना अपने भीतर ईश्वर का साक्षात् नहींकर सकते हैं :—

भवानी शङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् ॥
(रामचरितमा० बालकाण्ड)

पातंजल योगदर्शन में ऐसे सिद्धों द्वारा प्राप्त कर ली गयी शक्ति (सिद्धि) का जन्मौषधि, मंत्र, तप, समाधि आदि से उत्पन्न होना बतलाया गया है।

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।
(कैवल्यपाद—४।१)

वस्तुतः ये सिद्ध एक भिन्न प्रकार के चिन्तन करने वाले, नवीन ढंग की साधनाओं में प्रवृत्त रहनेवाले तथा विचित्र जीवन व्यतीत करनेवाले व्यक्ति थे। चमत्कारपूर्ण अलौकिक शक्तियों द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाले साधक को ही सिद्ध कहा जाता था। ये तान्त्रिक थे। इसी कारण कालान्तर में बौद्ध तांत्रिकों को ही 'सिद्ध' कहा जाने लगा तथा शैवयोगियों को "नाथ"।

'नाथसिद्ध' शब्द उन लोगों का बोध कराता है, जिन्होंने न केवल परमात्मतत्व का अपनी साधना द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव कर लिंया हो, बल्कि जो इस प्रकार पूर्ण सफल बनकर तद्रूप तक भी हो चुके हों और जो दूसरे के लिये आदर्श कहे जा सकते हों, जिन्हें सहजयानी सिद्ध, रसेश्वर सिद्ध, कापाली सिद्ध आदि विभिन्न नामों द्वारा अभिहित किया जा चुका है। सम्भव है कि 'नाथसिद्ध' शब्द का प्रयोग पहले-पहल बौद्ध धर्मावलम्वी वज्रयानी सिद्धों से भिन्नता दिखाने के लिये किया गया हो, इसमें सन्देह नहीं कि 'नाथसिद्ध' के स्थान पर केवल 'नाथ' शब्द का प्रयोग कहीं अधिक प्रचलित रहता आया हो और तदनुसार ही नाथों के मत को नाथमत और अनुयायियों को नाथपंथी कहने की परम्परा है तथा इसी कारण उनका साहित्य 'नाथ'-साहित्य कहा जाता है। नाथसिद्ध योगी उनके योगामृत से अनुप्राणित होकर परब्रह्म शिव से अद्वयतत्व प्राप्त करते हैं। नाथयोग में नाथविन्दुओंकार (प्रणव) की उपासना के भी परे निरञ्जनस्वरूप स्वसंवेद्य परमात्मा की परमानुभूति पर विशेष बल दिया गया है। यही नाथयोग-साधना में महायोगामृत ज्ञान का रसास्वादन-क्रम है। श्रीगोरक्षनाथ की विज्ञप्ति है :—

नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पत्तिश्चाण्डपिण्डयोः।
तथापि लोकवृत्त्यर्थं वक्ष्ये सत्सम्प्रदायतः॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति १। २)

सिद्ध-मत

रूष बिरष गिर कंदलि बास। ग्रहनिसि रहिब जोग ग्रभ्यास।
पल्टकाया षंडै रोग। चरपट कहैधनि धनि जोग॥
ग्रवधू मूल दुवारै बंद लगाइ। पवन पलटै गगन समाइ॥
नाद बिंद दोउ ग्रसथिर होइ। ग्रदृष्टि पुरिष दृष्टि तब जोइ॥
निरभै निसंक ततवेता। मन मानि बिवर्जित इन्द्रीजिता॥
ग्यांन सेल फटक मन रता। चरपट कहै ये सिध मता॥
[सिद्ध चर्पटीनाथ—नाथसिद्धों की बानियाँ १८६,८०,८२]

संत कबीर की योग-दृष्टि

डॉ० उदयप्रताप सिंह
(दिग्विजयनाथ डिग्री कालेज, गोरखपुर)

संत कबीर के आविर्भाव के पूर्व उत्तर भारत में अनेक प्रकार की धर्म-साधनाएँ प्रचलित थीं। आलवारों की भक्ति की धारा उत्तरी भारत में उसी गति से प्रवाहित हो चुकी थी। इस्लामधर्म निम्नवर्गीय हिन्दू जनता को राजनीतिक एवं सामाजिक कारणों से प्रभावित कर रहा था। सूफी साधक अपनी कोमल कहानियों के माध्यम से जनता को आकर्षित करते चले जा रहे थे। शैव और शाक्त मतावलम्वी साधकों ने भी अपना प्रभाव जमाने के लिये अनेक प्रकार की गुह्य साधनाओं को धारण कर लिया था। नाथपंथी साधुओं में भी चमत्कारी प्रवृत्ति विकसित हो रही थी, फिर भी तत्कालीन समाज के जनसामान्यवर्ग पर नाथपंथियों का जबर्दस्त प्रभाव दीख पड़ रहा था। कबीर एक अलमस्त संत थे। उन्होंने सभी धर्मसाधनाओं पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए नाथपंथी साधना-पद्धति को अत्यन्त निकट से देख-परख कर सम्मानित किया था।

कबीरदास मूलतः भक्त थे। भक्ति की सिद्धावस्था प्राप्त करने के लिये वे योगमार्ग को अपरिहार्य मानते थे। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में अनेक स्थलों पर यौगिक क्रियाओं का वर्णन उपलब्ध है। कबीर की यह दृढ़ धारणा थी कि बिना योग के परमपद प्राप्त करना असम्भव है, इसलिये कबीर ने सभी साधना-पद्धतियों के बाह्याडम्बर का विरोध करते हुए नाथपंथ की चमत्कारी प्रवृत्तियों की आलोचना भी की थी। सर्वप्रथम कबीर ने इन समस्त पद्धतियों में व्याप्त अनावश्यक क्रियाओं की कटु आलोचना प्रारम्भ की। मुसलमानों में हिंसा तथा कट्टरता, शाक्तों में गुह्यसाधना की ज़टिलता, जैनियों में बाह्यप्रदर्शन की वृत्ति, बौद्धों में अनेकधा अनाचार, शैवों का विविध सम्प्रदायों में विभक्त हो जाना, सूफी साधक का झाड़-फूक में ही लीन रहना—ये सभी विकृतियाँ कबीर के समक्ष थीं। कबीर ने सबका विरोध करते हुए योगमार्ग को भक्ति के लिये प्रथम सोपान के रूप में स्वीकार किया था।

कबीर की प्रारम्भिक रचनाओं का अवलोकन करने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि उनकी योग में गहरी पैठ थी। यौगिक साधनाओं की उन्हें सच्ची अनुभूति थी। उनके कथन इतने पूर्ण सुव्यवस्थित तथा आत्मविश्वास से भरपूर हैं कि कोई सामान्य व्यक्ति उन्हें देखते ही कह सकता है कि उनमें यौगिक अनुभूति की सत्यता है। उन्होंने स्वयं योगसाधना का अभ्यास किया था। उनकी कृतियों में योग से सम्बन्धित शब्दावलियाँ भरी पड़ी हैं। त्रिकुटी, संगम, अजपा-जाप, मुद्रासिंगी, इंगला, पिंगला, चन्द्र-सूर्य, उन्मनी, ओंकार, सहज, शून्य, अलख-निरंजन, सुरति-निरति, मन-पवन, गगन-गुफा, भाठी, कलारिन, अमृत, ब्रह्माण्ड, नाद-बिन्दु, दस द्वार आदि अनेक ऐसे शब्द हैं, जिनका संत कबीर ने धड़ल्ले के साथ प्रयोग किया है।

कबीरदासजी ने अपनी योगसाधना में यम और नियम की बात तो नहीं कही, किन्तु आसन और पवन को समेटने की चर्चा अवश्य की है।

आसण पवन किये दृढ़ रहु रे, मन का मैल छाँडि रे बौरे।
(क० ग्र० ३५५)

कबीर की योग के प्रति इतनी दृढ़ आस्था थी कि एक स्थल पर वे संतों से प्रश्न करते हुए कहते हैं कि प्रलय (मृत्यु) होने पर क्या साधना के सभी अंग विनष्ट हो जायेंगे ? उनकी दृष्टि में योगद्वारा उपार्जित साधना ही शाश्वत है। वही अनश्वर है। प्रश्नोत्तर उनकी इन पंक्तियों में ढूंढ़ा जा सकता है।

संतो धागा टूटा गगन विनसि गया सबद जू कहाँ समाई।
एहि संसामोहिं निसिदिन ब्यापै, कोई न कहै समझाई॥
नहि ब्रह्मण्ड पिण्ड पुनि नाहीं, पंच तत्त भी नाहीं।
इला पिंगला सुखमनि नाहीं, ये गुण कहाँ समाहीं॥
नहि ग्रिह द्वार कछू नहिं तहियाँ रचनहार पुनि नाहीं।
कहै कबीर यह गगन न बिनसै, जौ धागा उनमाना॥
सीखें सुनै पढ़े का होई जो नहिं पदहि समाना।

कबीर का विश्वास है कि तीन गुण, पाँच तत्व, इडा, पिंगला, सुषम्ना, सभी प्राकृतिक हैं। उनका स्पष्ट मत है कि ब्रह्माण्ड नष्ट हो सकता है, लेकिन योगसाधना द्वारा उच्च पदस्थ मन कभी विनष्ट नहीं हो सकता। योग द्वारा

अर्जित इस अवस्था में पहुँच कर कबीर स्थिर होना चाहते हैं। उन्हें आनन्दानुभूति होने लगती है। ऐसे दुर्गम स्थान पर विरले साधक ही पहुँच पाते हैं, तभी तो कबीर कहते हैं—

हद छाँड़ि बेहद गया, सुन्नि किया ग्रस्थान।
मुनि जन महल न पावहीं, जहाँ किया विसराम।।

इस परमस्थिति को योगी शून्य, ब्रह्मरन्ध्र कुछ भी कहे, उसकी साधना-स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। कबीर तो अत्यन्त ही आत्मविश्वास के साथ कहते हैं कि इन्द्रिय-नियमन तथा आसन-प्राणायाम द्वारा मैंने उस परम स्थान को अपना मठ बना लिया है।

गंग जमुन के ग्रंतरै सहज सुन्नि लौ घाट।
तहाँ कबीर मठ रच्या मुनिजन जोवें बाट।।

तभी तो उनका तीर्थ-स्थान योगियों की भाँति मथुरा, काशी, हरिद्वार न होकर पिण्ड में ही स्थित है।

मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जानि।
दसवाँ द्वारा देहरा, तामे ज्योति पिछानि।।

कबीर क्या, समस्त निर्गुणमार्गीय संतों ने प्राणायाम को बहुत ही महत्त्व दिया है। कबीर की योग-साधना का मेरुदण्ड प्राणायाम ही है; अतः उन्होंने उसे अनेक प्रकार के प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया है।

चोपड़ माड़ी चौहटै ग्ररध-उरध बाजारि।
सतगुरु खेती खेलता कबहुँ न ग्रावै हारि।।

कबीर एक अत्यन्त ही अनुभवी योगनिष्ठ संत थे। उन्हें योग के सूक्ष्माति-सूक्ष्म रहस्यों की पूर्ण जानकारी थी, इसलिये यौगिक शब्दावली में स्पष्ट उल्लेख करते हैं।

पाँखि उड़ानी गगन का पिंड रहा परदेस।
पानी पीया चंचु बिन भूलि गया यहु देस।।

यह रहस्य से पूर्ण अमृतपान निश्चय ही साधना की उच्चावस्था (परमपद) से परिपूर्ण है। यहीं साधक अमृतपान करता है। उसकी समस्त क्रियाएँ उस समय लोकदृष्टि में विरोधाभासरूप में कूटस्थ होती हैं।

> आकासे मुँखि औंधा कुँआ, पाताले पनिहारि।
> ताका जल कोई हंसा पीवै, विरला आदि विचारि॥

योगाचार्य अवधूत को एक अन्य स्थल पर सम्बोधित करते हुए कबीरदास कहते हैं कि हे अवधू ! योगजन्य साधना की यही उच्चतम स्थिति हमें मान्य है। इसी की हम कामना भी करते हैं। यही हमें अभीष्ट भी है। उन्मनी अवस्था लग गयी। मन का परमतत्व में लय हो गया। चतुर्दिक् प्रकाश छिटक गया है। योग की समस्त क्रियाएँ परिपूर्ण हो गयीं। अब शेष है ही क्या !

> अवधू मेरा मन मतिवारा।
> गुड़ करि ग्यान ग्यान करि महुआ, भौ भाठी मन धारा॥
> सुखमनि नारी सहजि समानी, पीवै पीवनहारा।
> दोई पुर जोरि रसाई भाठी चुका महारस भारी।
> काम क्रोध दुइ किए बलीता, छूटि गई संसारी।
> सहज सुन्न में जिन रस चारवा, सतगुर ते सुधि पाई।
> दास कबीर तासु मद माता उछकि न कबहूँ जाई।
>
> (क० ग्र० ५६)

इस प्रकार उपर्युक्त पदों को देखते हुए कहा जा सकता है कि हठयोग-साधना से कबीर की अच्छी पहचान थी। उनकी उसमें गहरी पैठ थी। उक्त साधना के अंगोपांगों का उन्हें विस्तृत एवं सूक्ष्म ज्ञान था। उन्होंने आसनों को जमाया था। मुद्राओं को बाँधा था तथा नाड़ी एवं प्राणायाम-साधना का पूर्ण अभ्यास किया था। उनकी योगजनित उक्तियों में अनुभूति की सत्यता प्रतिभासित होती हैं, जिसके आधार पर कबीर को एक उच्च कोटि का संत योगी कहा जा सकता है। यह स्वीकार करना युक्तिसंगत लगता है कि निर्गुण मार्गीय संत-विचार धारा को नाथयोग की संजीवनी से उन्होंने प्राणित किया।

卐

तिब्बती योग की कतिपय साधनायें

डॉ० श्यामाकान्त द्विवेदी, "आनन्द"
(वैष्णवाश्रम, खजुरीताल, सतना)

तिब्बत (त्रिविष्टप) अनादि काल से योग-साधना का स्थल रहा है। आज भी वहाँ सूक्ष्म स्तर में प्रतिष्ठित 'ज्ञानगंज' नामक मठ योगपीठ के रूप में ही स्थित है, जहाँ आज भी सैकड़ों एवं हजारों वर्षों की आयु वाले योगी साधनावस्था या सिद्धावस्था में आरूढ़ होकर योगाभ्यास कर रहे हैं या करा रहे हैं। तिब्बती योग की साधना-विधि की अपनी कतिपय मौलिक विशिष्टतायें भी हैं और उसके साधन-क्रम में भारतीय योग-पद्धति से भेद भी हैं।

लुंग गोम की साधना :

लुंगगोम की साधना असामान्य गति-प्राप्ति की सिद्धि की साधना है। इसका प्राणायाम की विशिष्ट पद्धति द्वारा अभ्यास किया जाता है। इसमें प्राणयाम के अभ्यास के साथ-ही-साथ मनको भी एकाग्र करने का अभ्यास किया जाता है। इसमें साधक सैकड़ों मील का मार्ग स्वल्प काल में तय कर लेता है। ग्यारहवीं शताब्दी के तिब्बती संत कवि मिलारैस्पा' की जीवनी में एक ऐसे 'त्रपा' का आख्यान मिलता है, जो उक्त कवि के लामा गुरु के यहाँ रहता था तथा अश्व से तीव्रतर चला करता था। मिलारैस्पा को भी यह सिद्धि प्राप्त थी। अलेक्जेन्ड्रा डेविड नील ने स्वयमेव ऐसे तीन लुंगगोम या साधकों को यात्रावस्था में देखा था।

साधना-पद्धति एवं उसके नियम :

इस साधना-क्रम में असाधारणगति मात्र का अभ्यास ही नहीं किया जाता, अपितु शरीर की सहनशक्तिका भी विकास किया जाता है। साधक निरन्तर कई दिनों तक रातदिन (एक क्षण के लिये भी विना कहीं रुके हुए) अपने गन्तव्य की ओर बढ़ते रहते हैं, जब तक वे वहाँ न पहुँच जायँ। त्शांगप्रान्त

के शालू गौम्या के मठों में आज भी इस साधना का अभ्यास कराया जाता है। इसी प्रकार अन्य मठों में भी इसकी शिक्षा दी जाती है। शरीर में से पार्थिव एवं जलीय अंश को कम करके वायु एवं तैजस तत्व का यथोचित विवर्धन एवं यथोपयोगी नियंत्रण करने से शरीरमें इतना हल्कापन आ जाता है कि साधक सैकड़ों मील प्रति घण्टे की गति से चल सकता है तथा वायु में उड़ सकता है। प्रथमत: सिद्ध गुरु त्रपा को कई वर्षों तक नाना प्रकार के प्राणायामों की शिक्षा देता है। तदनन्तर अभ्यासवश शरीर में वायु पर नियंत्रण हो जाने पर साधक से दौड़ने का अभ्यास कराया जाता है। इस साधनाभ्यास के समय ही गुरु शिष्य को एक रहस्यात्मक एवं गोपनीय मंत्र भी प्रदान करता है। इस मंत्र का सस्वर मानसिक पाठ करते हुए उसमें अपने विचारों को केन्द्रीभूत करने का अभ्यास कराया जाता है। यात्रा के समय श्वास-प्रश्वास के साथ इस गोपनीय मंत्र का मानसिक रूप में पाठ करते रहने का भी अभ्यास कराया जाता है। मन्त्र के साथ श्वास-प्रश्वास एवं पद-विन्यास का भी सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है। प्रत्येक पग मंत्र एवं प्राणायाम के सम पर पड़ना चाहिये। यात्री साधक को न तो इस समय किसी से बोलना चाहिये और न तो इतस्तत: देखना ही चाहिये, प्रत्युत उसे अपनी दृष्टि किसी दूरस्थ वस्तु पर केन्द्रित रखनी चाहिये। साधकों में से अधिकांश लोगों को अपनी दृष्टि किसी एक तारे पर केन्द्रित करने का निर्देश दिया जाता है। अत: प्रारम्भिक साधक उस तारे के डूबने के साथ-ही-साथ अपनी यात्रा स्थगित कर देते हैं। गम्भीर सुषुप्ति या योगनिद्रा की प्राप्ति हो जाने पर तारे के डूब जाने पर भी ध्यान की प्रगाढ़ता के कारण साधक की दृष्टि उस तारे में ही केन्द्रित रहती है तथा उसका ध्यान भंग नहीं हो पाता है।

प्रारम्भिक अवस्था में साधक को जंगल, घाटी के मार्ग तथा दोपहर एवं तृतीय प्रहर के समय का त्याग करते हुए सुदीर्घ रेगिस्तानी मैदान, समतल-भूमि, तारों से सुप्रकाशित रात्रि एवं संध्या समय को ही अपनी यात्रा के लिये उपयुक्त समझना चाहिये, क्योंकि जंगल, पहाड़ एवं घाटी के मार्ग तथा दोपहर एवं तृतीय प्रहर के समय की यात्रा में केवल सिद्ध आचार्य ही सफलता पा सकते हैं, साधारण साधक नहीं। चिराभ्यास के अनन्तर साधक के पाँव पृथ्वी का स्पर्श भी नहीं करते, मानो वायु में तैरते हुए चले आ रहे हों। इस स्थिति में योगनिद्रा के कारण साधक को अपने शरीर की गुरुता (बोझ) का आभास तक नहीं होता और साधक में वायुस्तर पर स्थित रहकर असामान्य गति से मार्ग पार करने

की क्षमता का विकास हो जाता है। लुंग गोमपा अपने शरीर पर साँकलें बाँधते हैं, क्योंकि उनका शरीर इतना हल्का हो जाता है कि हवा में उनके शरीर के उड़ जाने का सदैव भय बना रहता है।

माहेकेतांग की साधना :

लुंग गोम की भाँति माहेकेतांग की साधना भी तिब्बती योगियों की अपनी विशिष्ट साधना है। यह लघिमा-सिद्धि का प्रकारान्तर है।

साधन-प्रक्रिया :

साधक साधनारम्भ के समय एक गद्दे पर आसन मार कर बैठ जाता है, फिर धीरे-धीरे नाक से वायु को भीतर की ओर इस प्रकार खींचता है, मानो वह शरीर को वायु से भर देना चाहता हो। तदुपरान्त साधक वायु को भीतर रोक कर आसनस्थ स्थिति में ही ऊपर उछलने का अभ्यास करता है, किन्तु उछलने में हाथों का अवलम्ब नहीं लेता। वर्षों के अभ्यास के अनन्तर शरीर इतना हल्का हो जाता है कि साधक पौधे पर भी बैठ सकता है और पौधे की कोमल शाखा हिलती तक नहीं।

सिद्धि की कसौटो :

उक्त साधना में सिद्धि की परीक्षा लेने का विधान निम्न प्रकार है। पृथ्वी में एक गर्त बना दिया जाता है। इस गर्त की गहराई साधक के शरीर की लम्बाई के बराबर होती है। इस गर्त के ऊपर साधक के शरीर की ऊँचाई के बराबर एक गुम्बद बना दिया जाता है, जिसमें एक छोटा-सा छिद्र बना रहता है। उक्त गर्त में आसन में बैठे साधक एवं गुम्वद के कलश में निर्मित छिद्र का अन्तर उक्त साधक के शरीर की लम्बाई का द्विगुणित होता है। साधक को अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये गर्त में आसन मारकर बैठे-बैठे ही उछल कर उस छिद्र से बाहर निकलना पड़ता है, अन्य मांहेकेतांग के साधक उछलते तो नहीं, तथापि उन्हें उक्त छिद्र से बाहर निकलना ही पड़ता है।

इस अभ्यास की अवधि में साधक एक अन्धकारपूर्ण एकान्त स्थान में तीन वर्षों तक अनवरत अभ्यास करने के अनन्तर साफल्य की परीक्षा देने हेतु शालू गोम्या जाते हैं। वहाँ पर मजार की भाँति निर्मित उटजों में उन्हें प्रविष्ट

कराया जाता है। इन्हें गुम्बदवाली परीक्षा से पृथक् दीवारवाली परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ती है। इसमें दीवार के बगल में एक छिद्र बना रहता है। साधक इसमें से बाहर निकलने के लिये उछलता नहीं है, प्रत्युत सात दिनों तक गड्ढे में रहने के अनन्तर (गर्त के पास स्थित) स्टूल का सहारा लेकर गड्ढे के ऊपर आ जाता है और दीवार में निर्मित छिद्र द्वारा बाहर निकलता है। इस छिद्र की परिधि तर्जनी और अगुष्ठ से निर्मित गोलक के सदृश होती है। इसका अभ्यास स्त्रियाँ भी करती हैं।

"अैसा अद्भुत ग्यानं"

सुंनि मंडल मैं मन का बासा।
तहाँ परम जोति प्रकासा॥
आपैं पूछै आपैं कहै।
सतगुरु मिलै तौ परम पद लहै॥
एक अचंभा ऐसा हुआ।
गागरि मांहि उसारबा कूवा॥
वोछी लेज (रज्जु) पहूँचै नांहीं।
लोक पियासा मरि मरि जाहीं॥
आसा पास दूरि करि। पसरंती नि (र) वारि॥
सिध साधिक स्यूं संग करि।
सति गुरु ग्यांन बिचारि॥
पहलै कीया सो अब भुगतावै।
जो अब करै सो आगै पावै॥
जैसा दीजै तैसा लीजै। ताठैं तन धर नीका कीजै॥
अजपा जपना तप बिन तपना।
धुनि गहै धरिबा ध्यानं॥ जोग संहारं पाप प्रहारं॥
अैसा अद्भुत ग्यांन॥

(नाथसिद्धों की बानियाँ ३५२-५४, ३६३-६४)

गढ़वाल में नाथ-परम्परा

विष्णुदत्त कुकरेती (शोधछात्र)
(गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर)

गढ़वाल में शिव-संस्कृति बहुत प्राचीन है। शिवभक्तियोग प्रधान मत, जिसका ही एक स्वरूप नाथमत है, इतिहास में भी बहुत प्राचीन ठहरता है। कालगति के कारण हो सकता है, बीच में उसकी प्रगति मन्द पड़ गयी हो और इसलिये उसे गोरखनाथ-जैसे पुनर्जागरण के महानादकर्ता योगी पुरुष की आवश्यकता पड़ी हो। पूर्वमध्यकाल के नाथसिद्धों का कार्य केवल पुनरुत्थान का कार्य था। मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि पूर्वमध्यकालीन नाथ इन्हीं की कोटि में आते हैं। (नाथपंथ—डा० चन्दोला पृ० ३२) इस प्रकार गढ़वाल में पूर्वमध्यकालीन नाथपरम्परा देखने से पूर्व गढ़वाल के प्रथम वह्निवंशीय पँवार राजा के सम्बन्ध की जानकारी कर लेना उपयुक्त होगा, जिससे नाथपरम्परा पर भी कुछ प्रकाश पड़ेगा।

पँवारों के प्राचीन शिलालेख तथा टॉड 'एनल्स आफ राजस्थान' के अनुसार अग्नि से अग्नि वंश की उत्पत्ति हुई, जिसकी चार प्रमुख शाखाओं में से ही पँवार (प्रमर) जाति एक थी। इसी जाति का एक राजा वाक्पति था, जो सन् ८७५ ई० में धारा की गद्दी पर बैठा था। कनकपाल उस राजा के सौतेले छोटे भाई थे। (गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ—भक्तदर्शन पृ० ६) यद्यपि इन्होंने सभी राजकीय विषयों में विशेष निपुणता प्राप्त कर ली थी तथापि स्वभावतः आध्यात्मिक भावना के व्यक्ति होने के कारण इन्हें राजकार्य से कुछ अरुचि-सी हो गयी। परिणामतः एक ब्रह्मचारी साधु से दीक्षा लेकर ये उसके शिष्य हो गये। इसके फलस्वरूप उस युवावस्था में ही इनमें वैराग्य की-सी भावना जाग्रत् हो गयी। इसी बीच इनके गुरु का देहान्त हो गया और ये अपने कुछ मित्रों के साथ सन् ८८७ ई० में तीर्थाटनहेतु हरिद्वार पहुँचे। वहाँ से बदरीनारायण धाम

की यात्रा करने का विचार कर ही रहे थे कि एक महत्वपूर्ण घटना घटित हुई। (गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ पृ० ७)।

गढ़वाल के चाँदपुरगढ़ में उन दिनों भानुप्रताप राजा राज्य करते थे, उनके कोई पुत्र नहीं था, केवल दो कन्यायें थीं। बड़ी कन्या का विवाह तो उन्होंने कुमाऊँ के राजकुमार राजपाल से कर दिया था, लेकिन छोटी कन्या के विषय में उन्हें चिन्ता थी और वे कुछ निश्चित नहीं कर पा रहे थे। राजा श्रीभानुप्रताप बदरी-नारायण की भूमि के अधिपति थे और स्वभावतया उनके अनन्य उपासक थे। कहते हैं कि एक रात स्वयं बदरीनारायण ने स्वप्न में आकर उनसे कहा कि—'धारा-नरेश मेरी यात्रा के लिये आया हुआ है। हरिद्वार जाकर लिवा ला और मेरे दर्शन कराने के पश्चात् अपनी कन्या उसे ब्याह दे। उसी से आगे यह राज-वंश चलेगा। (गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ-भक्तदर्शन पृ० ७)। इसकी पुष्टि 'कनकवंश' गढ़वाल के ऐतिहासिक महाकाव्य में भी हुई है।

तत्रैकदा सप्तशताब्दके सः ददर्श स्वप्ने बदरीविशालम्।
आयाति राजन्! मम दर्शनाय दिगन्तकीर्तिर्रमणीयमूर्तिः॥
तद्भक्त! हे चन्द्रपुराधिप त्वं, धारागतायाग्निकुलात्मजाय।
तस्मै प्रयच्छ प्रभराय नेजां, कन्यां कनिष्ठाकनकाभिधांय॥
(कनकवंश-गढ़वाल का ऐतिहासिक महाकाव्य—
बालकृष्णभट्ट, पृ० २०। २। ११३। ११४)

उनके गढ़वाल-आगमन के बारे में विभिन्न लेखकों ने विभिन्न तिथियाँ दी हैं। एटकिनसन ने उनका उल्लेख मात्र कर दिया है कि वे गुजरात से यहाँ आये थे और भिलंग के राजा सोनपाल की एकमात्र पुत्री से विवाह करके चाँदपुरगढ़ के अधिकारी हुए।। डा० पातीराम ने भी इसी बात को दुहराया है। (गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ पृ० ५) श्रीहरिकृष्ण रतूड़ी ने इस विषय पर विस्तार के साथ लिखा है और सिद्ध किया है कि कनकपाल धारा नगरी से यहाँ आये थे, वह उन दिनों गुजरात में सम्मिलित थी और बाद को मालवा में शामिल हुई, लेकिन तिथि के बारे में अभी तक निश्चित निर्णय नहीं हुआ।

टिहरी-राज्य-वंशावली के अनुसार वे ५ गते वैशाख सम्वत् ७४५ वि० तदनुसार अप्रैल सन् ६८८ ई० के दिन चाँदपुर की गद्दी पर बैठे थे। जनरल

कनिंघम के अनुसार चाँदपुर गढ़ की स्थापना सन् ११५६ ई० में हुई थी, लेकिन इन दोनों तिथियों के लिये कोई निर्णयात्मक प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया गया। (गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ पृ० ५) हरिकृष्ण रतूड़ी ने सम्वत् ६४५ वि० तदनुसार सन् ८८८ ई० को ही सिद्ध किया है। उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि संवत् ७४५ वि० में तो धारा नगरी में प्रमर वंश का राज्य नहीं था। इस प्रकार राजा कनकपाल के चाँदपुर गढ़ की गद्दी पर बैठने की तिथि सम्वत् ६४५ वि० तदनुसार सन् ८८८ ई० निश्चित होती है।

गढ़नरेश मानशाह (१५४७ ई०—१६०८ ई०) के सभा-कवि, भारत कवि (ऐतिहासिक काव्य 'मानोदय'–१ । १ उल्लेख-विराट्-हृदय-शम्भू प्रसाद बहुगुणा पृ० २०२) प्रदीपशाह (१७१७ ई० से १७७२ ई०) के सभा-कवि मेधाकर शास्त्री (मोलाराम ग्रन्थावली भाग–१ पृ० १८६) (रामायणप्रदीप १ । १२) सं० डा० डबराल और सुदर्शनशाह के सभाकवि हरिदत्त शर्मा ने (उत्तराखण्ड का इतिहास भाग–६ पृ० २०८, डा० डबराल) गढ़नरेशों का सम्बन्ध चन्द्रवंश से जोड़ा हैं और उन्हें कहीं पँवार नहीं बताया गया है। (मोलाराम ग्रन्थावली भाग–१ पृ० १८६, सं० डा० डबराल)। इधर १८ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध चित्रकार एवं कवि मोलाराम ने अपने 'गढ़राजवंश की उत्पत्ति' में गढ़नरेशों का मूल पुरुष भौनापाल-भवनपाल माना है। इस अनुश्रुति के खण्डन या पुष्टि के लिये अभी तक कोई प्रामाणिक सामग्री नहीं मिली है। इस भौनापाल-भवनपाल को आलंकारिक मानकर कनकपाल कहा गया है। भौनापाल की गाथा इस प्रकार है (मोलाराम ग्रन्थावली भाग–१ पृ० ३४-३५)।

धारा नगरी सौं चल्यो, आयो एक पंवार।
हरिद्वार वो न्हाय कै, बस्यो आन गढ़वार॥
केते दिवस भये गढमांही, खेती करै चाकरी नांही।
भौना ताको बालक भयो, एक दिना वह वन महि गयो।
सत्तनाथ जोगी तहँ आयो, उन आलोकहि तहाँ जगायो।
भौना देखि चरन सिर धर्‌यो, सत्तनाथ लखि आनंद भर्‌यो।
कह्यो ताहि हौं भूखो आयो, फिर्‌यो बहोत कहुँ अन्न न पायो।
इह अकाल दुरभिक्ष महाई, बिन बरखे नहि होइ समाई।
अन्न बिना हौ व्याकुल भयो, पायो कहुँ नहि जित हों गयो।
बावन सहर, ग्राम फिरि आयो, तब हौं तोको हाल सुनायो।

सत्तनाथ जू ने कहीं, सुन बच्चा ! इह बात ।
रोटी तेरे पास हैं, सा दे तूं हमारे हाथ ।
सुनि लरिका करुना महिं आयो, द्रग भरि नीर दो रोटी लायो ।
रोटी सत्तनाथ कर दीनी, दुहुँ कर जोरि दण्डोतहिं कीनी ।
रोटी वहै जोगेस्वर खाई, पाछे मुकती छाँछ पिलाई ।
जोगेस्वर अत राजी भयो, भौना ले घर अपनो गयो ।
आये दुहूँ घर बैठे जाई, देखैं सब ही लोग लुगाई ।
सत्तनाथ आलोकतहूँ, कीन्यो नाद बजाय ।
माता आई दौरि के, परी जोगेस्वर पाय ।
माता कहे सुनो गुरु देवा, जो तुम कहो सो करिहों सेवा ।
क्षुधा होय तो भोजन लाऊँ, आतम तुमरो त्रिपत कराऊँ ।
सत्तनाथ बोले तब बानी, हौं भूखों अति ही महरानी ।
हमको त्रिपत करो तुम कैसे । तुम चींटी हम कुंजर-जैसे ।
चींटी कन भर खाय अघाई । कुंजर मन भर रहा न जाई ।
माता कहै त्रिपत ही करिहौं, पेट तुम्हारो सम ही भरिहौं ।।
तब जोगेस्वर क्षुधा बधाई, माता रोटी करन बैठाई ।
भौना ले ले आगे धरै, सत्तनाथ सोई भक्षण करै ।
फिर-फिर चून गुंथावै थाली, तुरत खाय होवै फिर खाली ।
रोटी ये तो कर-कर हारी, थकित भई अति ही महतारी ।
कहे मात हे जोगना, त्रिपति भई तोहि नाहिं ।
आटा-पीठा न रह्यो, हम भोजन क्या खाहिं ।
यह दुर्भिक्ष परयो जग माही अन्न कहूँ पैदा जो नाहीं ।
जो घर रह्यो सो तुम्हें खुलाया, चोरी करके जात न लाया ।
जोगेस्वर तब बोले बानी, नाहक तू मैया ! अकुलानी ।
हम सों कौल किया क्यों हारी । हमको लागे यह न पियारी ।
अन्दर अन्न घना धरा, भर राखे कोठार ।
ये बावन रोटी काम को, पाछे भ्रष्टाचार ।
भौना जोगी पास बुलायो, भौवनपाल तेहि नाम धरायो ।
बावन पुस्त राजवर दीन्यो, निरउपाध सम ही लैं कीन्यो ।
भीर परेगी तुमको जेहसो, याद कीजियो हमको तेहसो ।
सत्तनाथ यह वर दे गये । देखत सबके लोपहिं भये ।

सिद्ध सत्यनाथ ने भौनापाल को कालभैरव का एक यंत्र भी दिया था, जिसका उल्लेख कठैत–उपद्रव के समय नवजात राजकुमार प्रदीपशाह (सन् १७१६) के साथ होता है। जब राजमाता ने शिशु प्रदीपशाह को छलछलाये नेत्रों और धड़कते हृदय से श्रीपुरिया नैथाणी के सुपुर्द किया था, क्योंकि उस समय उस राजकुमार को मारने का षड़यंत्र हो रहा था, राजमाता ने यह यंत्र राजकुमार की भुजापर बाँध दिया था। पुरियानैथाणी ने उस यंत्र के उपलक्ष्य में कालभैरव का एक मन्दिर नैथाणा गाँव में स्थापित किया तथा गुरु सत्यनाथ की गद्दी के एक चेले को नित्यपूजा के लिये देवलगढ़ से लाये। वह पुराना मन्दिर अभी मौजूद है। (गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ–भक्त दर्शन पृष्ठ–७४)।

जब कनकपाल श्रीबदरिकाश्रम की यात्रा के लिये हरिद्वार से चले थे तो मनोहर प्राचीन असंख्य योगाश्रम (कनकवंश महाकाव्य-बालकृष्ण भट्ट) अलकनन्दा के संगम पर देवप्रयाग तीर्थ (कनकवंश महाकाव्य-बालकृष्ण भट्ट) श्रीनगर में दोनों तरफ से उन्होंने किल्किलेश्वर, कमलेश्वर तथा क्यूकालेश्वर महादेव के दर्शन किये थे। (कनकवंश महाकाव्य-बालकृष्ण भट्ट) वहाँ से चलकर पार से ही उन्होंने देवलगढ़ में सत्यनाथ और गौरज़ादेवी को भी देखा था। (कनकवंश महाकाव्य-बालकृष्ण भट्ट)।

इस प्रकार इस विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कनकपाल अथवा भौनापाल एकही व्यक्ति था, जो पँवारवंशीय था। आध्यात्मिक भावना का व्यक्ति होने के कारण ही उसने एक ब्रह्मचारी साधु से दीक्षा ली। इधर तीर्थाटन के लिये आने पर सत्यनाथ ने उसे प्रसन्न होकर बावन पुस्त राज्य करने का वरदान दिया था। साथ ही उसे गढ़वाल का राजा बनाने में योगदान दिया।

इससे मालूम पड़ता है कि वे हिन्दूराज्यों के प्रचारक एक साधु थे और बदरीनारायण की भूमि पर एक शक्तिशाली हिन्दूराज्य की स्थापना कराना चाहते थे। श्रीशंकराचार्य के समय के बाद तो विशेषरूप से गोरखपंथी नाथों का अत्यधिक प्रभाव था। गढ़वाल के ही समानान्तर नेपाल में शीशोदियों की शाखा को गोरखपंथी ही ले गये थे; इसीलिये अभी तक वहाँ की गद्दी श्रीगोरखनाथ की ही गद्दी मानी जाती है और राजा केवल उसका दीवान मात्र समझा जाता है।

महाराज कनकपाल से महाराज अजयपाल तक का कोई निश्चित विवरण नहीं मिलता। श्रीहरिकृष्ण रतूड़ी के अनुसार सन् १५०० से सन् १५१६ तक

राजा अजयपाल ने शासन किया । श्री तारादत्त गैरोला ने "हिमालयन फोकलोर" नामक पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है कि देवलगढ़ के एक मन्दिर के शिलालेख के अनुसार महाराज अजयपाल के जन्मोत्सव के अवसर पर सन् १२५४ ई० में उस मन्दिर को तत्कालीन महाराज की ओर से कुछ भूमि दान की गई थी । टिहरी-राज-वंशावली के अनुसार महाराज अजयपाल का जन्म सन् १३३० में हुआ, और सन् १३५० में वह गद्दी पर बैठे । इसकी पुष्टि एटकिनसन के मत से भी होती है । (गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ पृष्ठ १३१४) ।

राज्याभिषेक के पश्चात् एक बार महाराज अजयपाल को चम्पावतगढ़ राज्य के तत्कालीन चन्दवंशीय नरेश से युद्धस्थल से प्राण-रक्षा करके भागना पड़ा था । रणक्षेत्र के समीप ही लोहवा इलाके में स्थित पनुवाखाल के नीचे एक 'ओड्यार' में इन्होंने भगवान् भोलानाथ की आराधना की थी । उनकी अचल भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् भोलानाथ ने सत्यनाथ भैरव के रूप में राजा को दर्शन दिया । उन्होंने राजा से कहा—'मेरे कन्धों पर बैठ जा ।' जब अजयपाल उनके कन्धों पर बैठ गये, तब उहोंने अपना शरीर बढ़ाया । धीरे-धीरे वे इतने ऊँचे हो गए कि इनकी दृष्टि उत्तर की ओर श्वेत हिमालय तक और दक्षिण की ओर नगीना (जिला बिजनौर) तथा पूर्व की ओर काली नदी तक और पश्चिम की ओर सपादलक्ष (शिवालिक) तक पहुँच गई । राजा ने डर कर नीचे उतार देने का अनुरोध किया, इस पर शिवजी ने अपना पहला शरीर धारण कर लिया और कहा—"हे राजा ! जहाँ तक तेरी दृष्टि गई है, वहाँ तक निस्सन्देह तेरा राज्य हो जायेगा, इसलिये जा और अपनी सेना लेकर शत्रु से लड़" इस वरदान से महाराज अजयपाल को विजयश्री मिली ।

सत्यनाथ का एक प्राचीन मन्दिर देवलगढ़ (श्रीनगर के नजदीक) में है । इस मन्दिर की स्थापना महाराज अजयपाल ने अपने शासनकाल में की । सत्यनाथ का मन्दिर पहले अनुमानतः एक गुफा के रूप में रहा हो, आज भी यहाँ पर कई गुफायें विद्यमान हैं ही । यहाँ विक्रमाब्द १६८३ का एक शिलालेख विद्यमान है, जिसमें मन्दिर के जीर्णोद्धार और विस्तृत भण्डारे का उल्लेख हुआ है । यह भंडारा किसी योगी प्रभातनाथ ने किया था । इस प्रकार सिद्ध सत्यनाथ का गढ़वाल के इतिहास में बहुत महत्व है । गढ़राजवंश के प्रारम्भिक नरेशों को अपने राज्य की स्थापना में देवलगढ़ के नाथ-जोगियों से सहायता मिली थी । इन्हीं दिनों कुमाऊँ में नागनाथ नामक एक नाथ जोगी कुमाऊँ-नरेश कीर्तिचन्द की सहायता कर रहा था ।

नाथ-योगियों के केन्द्र भारत के अन्तर्गत कई स्थानों पर हैं। कुछ वर्तमान प्रमुख नाथ गद्दियों और उनके पीर महन्तों की विस्तृत सूची डा० शान्ति प्रसाद चन्दोला ने अपने ग्रंथ 'नाथपंथ' में दी है। उत्तराखण्ड में लैन्सडौन, श्रीनगर चटवा-पीपल, पीपलकोटी, जोशीमठ, केदारनाथ, काँडा, जयपुर थान, कमेड़ा, सेम, रवाँई, कठूड़, बाराहाट आदि स्थानों के आस-पास उनके केन्द्र रहे और अब भी हैं। इनके अतिरिक्त अब तक के भ्रमण की जानकारी के अनुसार नाथ लोग निम्न-लिखित गाँवों में निवास करते हैं। अमोला, ताछला, अमगाँव, अमाड़ी, रणेथ, डाँर (अदाली), ज्योग्याणा, चौण्ड, ओडल, अमोठा (पाटीसैंण), कमेड़ा, बींघा-धारा, गजेली, चोपड़ा, देवलगढ़, गैरू, नवासू, कोटना महादेव, ल्वाली, बंगोली, काण्डा (जोग्याणा), सुरमाड़ी पडियार गाँव, सिसल्डी, थमणेटी, उनेरी, वगोड़ा, भुलाएियो गाँव, कलवाड़ी जोगीडांग, मेलधार, सिसई, जिबल्या, भतीण्डा, ल्वीठ, गथौड़ा, घुड़कन्द, पजाईमोक्षणा, वियांसी, अन्दरगाँव, वज्यादेवी, नौदानूकर्त्ता, नौनियाखेत, पटोटिया, रैणिहाट एवं नलनाई (वर्तमान पौड़ी गढ़वाल जिले में) एवं सेम बड़मा, सिला (टिहरीगढ़वाल) तथा भीरी, चन्द्रापुरी (चमोली गढ़वाल)। इन गाँवों में अभी भी कुछ 'दर्शनी' नाथ हैं। श्रीफतेहनाथ (नवासू) बुद्धीनाथ (देवलगढ़) गौरीनाथ (गैरू) पशुपतिनाथ (बींघाधारा) गोविन्दनाथ (कोटेश्वर महादेव) कैलाशनाथ (अमोठा-पाटीसैंण) शंकरनाथ, फजीलूनाथ, बच्चूनाथ, चेतूनाथ, शेपडूनाथ, फतूनाथ, बालकनाथ, बग्वालूनाथ (सेम बड़मा टिहरी)

अपनी गुरु-परम्परा से गढ़वाल के नाथों ने आज तक जिस साहित्य को प्राप्त कर सुरक्षित रखा है, वे अप्रकाशित हैं। सर्वप्रथम सत्यनाथ, अजयपाल, दरिया-नाथ आदि की सबदियाँ सर्वांगी में मिलती हैं। अधिकतर प्राचीन कृतियों में समैण विधान, आपरक्षा (रखवाली); महाविद्या, सैद्धाली; सुनेजर की वेदाई, बाग चलावणों, ढुकौंड़, उखेल, श्रींनाथजी की सुकलेस, छिद्रवालो, नरसिंगवाली, घट-थापना, नादबुद, दरियाऊ, ढोलसागर, वैद्यक की पुस्तकें मिलती हैं। इनसे गढ़-वाली गद्य के विकास पर भी प्रकाश पड़ता है तथा साथ ही यह भी प्रदर्शित करते हैं कि ये सब चीजें समाज को नाथों की देन हैं। तंत्र-मंत्र-जागर तो नाथों की देन हैं ही।

शिव और दक्ष के विरोध का जो रूप हरिद्वार के पास कनखल में यज्ञ विध्वंस के समय दिखाई देता है, उसको चित्रित करने वाला साहित्य उत्तरा-खण्ड के हिमालय को शिवलोक बतलाता है। हिमालय के इस भूमि-भाग में शैवधर्म की प्रधानता रही। नाथों और संतों का साहित्य यहाँ खूब फूला फला।

ॐ नमो भगवते गोरक्षनाथाय

सिद्धसिद्धान्तपद्धति

पहला उपदेश

आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
वक्ष्ये गोरक्षनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ॥ १ ॥

(अलख निरञ्जन) आदिनाथ (परमेश्वर) शक्तियुक्त (शिव), जगद्गुरु (जगत् के प्रकाशक) को नमस्कार कर मैं गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) सिद्धसिद्धान्तपद्धति (सिद्धों द्वारा उपदिष्ट तथा आचार में प्रयुक्त योगमहाज्ञान-पद्धति) का विवेचन (प्रक्रियात्मक वर्णन अथवा प्रवचन) करता हूँ ॥ १ ॥

विशेष—इस मांगलिक श्लोक के द्वारा श्रीगोरक्षनाथजी ने आदिनाथ द्वारा शिवस्वरूप में अभिव्यक्त होकर अपनी अभिन्न आत्मविहारिणी परमेश्वरी पार्वती के प्रति सप्तशृङ्ग पर उपदिष्ट योगमहाज्ञान का संदर्भ प्रस्तुत कर महामति मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा उसका श्रवण निरूपित किया है तथा मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा अपने (गोरखनाथ के) प्रति उपदिष्ट का स्मरण दिलाया है। मत्स्येन्द्रनाथ ने इस शैव योग का प्रकाशन कर जगत् के प्राणियों का अज्ञान-अन्धकार नाश कर स्वसंवेद्य सिद्धामृत का सिद्धसिद्धान्त के रूप में अवतरण किया, इस सिद्धसिद्धान्त की पद्धति (साधन-प्रक्रिया) के रूप में गोरखनाथजी ने रचना की। शिव को शक्तियुक्त और जगद्गुरु के रूप में नमस्कार करने का यही स्वारस्य है।

नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पत्तिश्चाण्डपिण्डयोः ।
तथापि लोकवृत्त्यर्थं वक्ष्ये सत्सम्प्रदायतः ॥ २ ॥

यद्यपि इस (स्वसंवेद्य) सत्यविचार (अलखनिरञ्जनपरमेश्वरपरमात्म-परक सिद्धान्त) में ब्रह्माण्ड (अण्ड) और व्यष्टि शरीर (पिण्ड) की उत्पत्ति का निरूपण नहीं हो सकता, तथापि लोकव्यवहार को ध्यान में रख कर असत्वाद के रूप में अण्डपिण्ड की उत्पत्ति का विवेचन करता हूँ ॥ २ ॥

विशेष—नाथयोग—सिद्धामृत मार्ग अथवा सिद्धमत में ही नहीं, वेदान्त आदि दर्शनों से भी समस्त जगत्. परमात्मस्वरूप स्वीकृत है, अतएव अण्ड (ब्रह्माण्ड) और पिण्ड (शरीर आदि) की उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं होती, क्यों कि कूटस्थ, असंग, अलख निरञ्जन आदिनाथ की सत्ता से अलग जगत् की सत्ता ही नहीं है, यह अजातवाद है तथापि लोक में व्यवहार के लिये सत्कार्यवाद—परिणामवाद का विवेचन किया गया है । प्रकृति का परिणाम ही संसार है, इसी मायिक—मिथ्याभासित संसार का सृजन और संहार (विनाश) होता रहता है, आत्मा अपरिणामी है, सम्पूर्ण परमात्म स्वरूप, सच्चिदानन्दस्वरूप है, एकरस, अखण्ड, नित्य और अमृतस्वरूप है । उसमें परिणामवाद अथवा रूपान्तर या सत्कार्यवाद सिद्ध नहीं होता है । अलख निरञ्जन के साक्षात्कार के प्रकाश में अजातवाद की ही महती प्रतिष्ठा है ।

सा पिण्डोत्पत्त्यादिः सिद्धमते सम्यक् प्रसिद्धा पिण्डोत्पत्तिः पिण्डविचारः पिण्डसंवित्तिः पिण्डाधारः पिण्डपदसमरसभावः श्रीनित्यावधूतः ॥ ३ ॥

सिद्धमत में अत्यन्त प्रसिद्ध— सिद्धों के अनुभव में प्रकाशित पिण्डोत्पत्त्यादि पद्धति में पिण्ड की उत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार (शरीरस्थ चक्र, आधार आदि) पिण्डपदसमरसभाव और श्रीनित्यावधूत (के स्वरूप) का छः उपदेशों में (इस सिद्धसिद्धान्तपद्धति में) वर्णन किया गया है ॥ ३ ॥

अव्यक्त-अनाम परब्रह्म

यदा नास्ति स्वयं कर्ता कारणं न कुलाकुलम् ।
अव्यक्तश्च परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा ॥ ४ ॥

जब (सृष्टि की उत्पत्ति होने के पहले) कोई कर्ता नहीं है, न (कार्य के अभाव में) कारण है और न कुल (शक्ति-क्रम—उपास्य-उपासक-भाव) तथा अकुल (योगक्रम---योज्य-योजक-भाव का व्यवहार है, तब ब्रह्म अव्यक्त (द्वैताद्वैत-विवर्जित – स्वसंवेद्य) नाम से परे होता है । (उस महाप्रलय-काल में कार्य-कारणरहित, शक्तियुक्त निष्काम सृष्टि-संचालनकर्मरत और शक्ति से अतीत अपने स्वरूप में लय को प्राप्त ब्रह्म अव्यक्त और नामरहित होता है, वह नाम-रूप से अतीत अभिव्यक्त रहता है) ॥ ४ ॥

विशेष अतएव कर्तृत्व - कार्य-कारण से रहित, कुल-अकुल के व्यवहार से परे महाप्रलयकाल में ब्रह्म सम्पूर्ण अव्यक्त—स्वरूप में स्वस्थ होकर नाम से अतीत रहित होता है। द्वैताद्वैतविवर्जित ब्रह्म (शून्यातीत) अव्यक्त स्वरूप में कार्यकारण से परे होकर विद्यमान रहता है।

परब्रह्म को निजा आदि पाँच शक्ति और उनके गुण

अनामेति स्वयमनादिसिद्ध एकमेवानादिनिधनं सिद्ध-सिद्धान्तप्रसिद्धं तस्येच्छामात्रधर्माधर्मिणी निजा शक्तिः प्रसिद्धा ॥ ५ ॥

परब्रह्म परमेश्वर नाम से रहित है, वह स्वयं (स्वाभिव्यक्त) है, अनादिसिद्ध (सजातीय-विजातीय भेद से रहित) है, वह एक मात्र सत्स्वरूप है, वह जन्म-मरण से रहित है, सिद्धों का यह सिद्धान्त (निश्चयात्मक मत) है कि ब्रह्म स्वसंवेद्य (अलख निरञ्जन) है, उस ब्रह्म की निजा शक्ति (सकल-लोककल्याण की) इच्छामात्र धर्मवाली तथा जीवमात्र के सुख-दुःख आदि भोगों के निमित्त सृष्टि और प्रलय में संकोच-विकास-धर्म वाली (निग्रहानुग्रहमयी) प्रसिद्ध है॥ ५ ॥

तस्योन्मुखत्वमात्रेण पराशक्तिरुत्थिता ॥ ६ ॥

(निजाशक्ति-सहित) परब्रह्म (शिव) के मानसोल्लास —सृष्टि की इच्छा के उत्साह मात्र से (शिव में ही शयन करने वाली अथवा लय को प्राप्त होने वाली) पराशक्ति (जगदीश्वरी गौरी पार्वती) जाग्रत होती है —अभिव्यक्त होती है॥ ६ ॥

तस्य स्पन्दनमात्रेण अपराशक्तिरुत्थिता ॥ ७ ।

(आदिनाथ परमशिव में पराशक्ति अधिष्ठित है ।) इस पराशक्ति के स्वाभिव्यक्त परब्रह्म परमेश्वर (शिव) में स्पन्दन मात्र से अपरा शक्ति (क्रिया

प्रधान शक्ति) समुत्थित (जाग्रत) होती है। (इस अपरा शक्ति से समलंकृत हिरण्यगर्भ, ब्रह्म आदि नामों की प्रतिष्ठा है। यह शक्ति सृष्टिकर्म में परमेश्वर की सहायता करती है) इससे परमेश्वर जगत् की रचना करने में समर्थ होते हैं ।। ७ ।।

ततोऽहंतार्थमात्रेण सूक्ष्मशक्तिरुत्पन्ना ।। ८ ।।

उस अपरा (सिसृक्षामयी) शक्ति से परम शिव में अहंकार मात्र से (कि मैं सृष्टि की रचना में समर्थ हूँ) सूक्ष्म शक्ति (विमर्शशक्ति) उत्पन्न होती है। (यही भगवती उमास्वरूपिणी औपनिषद ब्रह्मविद्या है।) सृष्टि के आरम्भ में अन्य की अभिव्यक्ति न रहने से एकमात्र परमेश्वर का ही अहंकार (जिसमें समस्त जगत् सूक्ष्म रूप से विलीन रहता है) अभिव्यक्त हो उठता है ।। ८ ।।

ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता ।। ९ ।।

उसके बाद वेदनशील (तत्वज्ञानस्वपिरूणी जगदीश्वरी) कुण्डलिनी (आत्म-विमूढ़ के लिये बन्धनकारिणी और योगाभ्यास द्वारा प्रबुद्ध होने पर मोक्षदायिनी) उदित होती है। यह शक्ति चिद्रूपिणी, चैतन्यस्वरूपिणी तथा अनिर्वचनीय महिमामयी परमेश्वरी माया है।

इस महाकुण्डलिनी शक्ति के उदय से परमशिव का साक्षात्कार सहज सम्भव हो जाता है ।। ९ ।।

नित्यता निरञ्जनता निष्पन्दतानिराभासता निरुत्थानता इति पञ्चगुणा निजाशक्तिः ।। १० ।।

(आदिनाथ की) निजाशक्ति के पाँच गुण (धर्म-अवस्था, हैं, पहली नित्यता है, भूत, भविष्य, वर्तमान, तीनों काल में भी इसका नाश कभी नहीं होता है। दूसरी अवस्था निरञ्जनता है, इसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, रागद्वेषादि (अञ्जन) का सर्वथा अभाव है, यह निर्दोष है। तीसरी अवस्था निष्पन्दता है, यह स्थिर अथवा सर्वत्र व्याप्त है, इसका किसी भी समय, किसी भी स्थिति में अभाव अथवा लोप नहीं है, यह नित्य होने से स्थिर है, स्पन्दनशून्य है। चौथी अवस्था निराभासता है, यह भेदरहित—प्रतिबिम्बरहित है। आभास प्रतिबिम्ब है। यह एकमात्र आदिनाथ का स्वरूप है, द्वैत–अद्वैत के भेदभाव से

अतीत अथवा विवर्जित अथवा विलक्षण है; यह शिव में उपाधिगत नहीं, स्वगत है। पाँचवीं अवस्था निरुत्थानता है, परिणामरहित है, इसमें सृष्टि का भान नहीं रहता है। शिव में यह उसी तरह अभिन्न अथवा स्वरूपस्थ है, जिस तरह चन्द्रमा में चाँदनी अभिव्यक्त है। ये पाँचों गुण अथवा धर्म आदिनाथ परमेश्वर में सदा नित्य विद्यमान हैं ।। १० ।।

अस्तिता, अप्रमेयता, अभिन्नता, अनन्तता, अव्यक्तता इति पञ्चगुणा पराशक्तिः ।। ११ ।।

परमेश्वर शिव की पराशक्ति सृष्टि के पहले उनमें अन्तर्लीन रहती है। इसके पाँचगुण (धर्म अथवा अवस्था) हैं। पहली अवस्था अस्तिता है, यह शक्ति सनातनी अथवा अव्यय है। दूसरी अवस्था अप्रमेयता है। यह परिच्छेद-रहित होने से स्वरूपसिद्ध है। इसकी तीसरी अवस्था अभिन्नता है। यह परम शिव से नितान्त अभेद है। इसमें जगत् का भेद नहीं है, जगत् की सृष्टि के पहले से ही यह परमेश्वर मे अभिन्न रहती है। चौथी अवस्था अनन्तता है। यह ध्वंस और प्रागभाव से सर्वथा अतीत होने से अविनाशी और नित्य है। यह शक्ति नित्य और व्यापक है। पाँचवीं अवस्था अव्यक्तता है। यह सूक्ष्मता की प्रतिपादिका है, जिस तरह दूध में घी सूक्ष्म रूप से है ही, इसी तरह जगत्-कार्य के लिये पराशक्ति इस अवस्था में परम शिव में अव्यक्त रहती है—सूक्ष्म रूप से अन्तर्लीन रहती है, अतएव अव्यक्तता गुण या धर्म से विद्यमान है ।। ११ ।।

स्फुरता, स्फुटता, स्फारता, स्फोटता स्फूर्तितेति पञ्च-गुणाऽपरा शक्तिः ।। १२ ।।

आदिनाथ परमेश्वर की अपरा शक्ति के पाँच गुण हैं। पहलागुण स्फुरता है—क्रियारूपमयी होने से इसमें संचलन है। दूसरा गुण स्फुटता है, शिव के अभिव्यक्त अथवा प्रकाशित—ज्योतित होने की यह माध्यम-शक्ति है। तीसरा गुण स्फारता है, शिव की क्रिया-शक्ति—संचालन अथवा सयमन-प्रक्रिया में वह सहायता करती है। चौथा गुण स्फोटता है, यह रूपाभिव्यक्ति, शिव के कर्तृत्व-धर्म को प्रकाशित अथवा प्रकट करती है। पाँचवां गुण स्फूर्तिता है, यह सृष्टि-कार्य में परमेश्वर को उत्साहित करती है ।। १२ ।।

निरंशता, निरन्तरता, निश्चलता, निश्चयता, निर्विकल्प-तेति पञ्चगुणा सूक्ष्माशक्तिः ॥ १३ ॥

परमेश्वर शिव की सूक्ष्मा शक्ति के पाँच गुण—अवस्था अथवा धर्म हैं। (यह सूक्ष्म शक्ति विद्यारूप विमर्शशक्ति है।) इसका पहला गुण निरंशता है। इसमें अयं (यह) और त्वम् (तुम) के व्यवहार का अभाव है, सृष्टि के पहले निरंशता शक्ति सूक्ष्म रूप से 'अहम्' के रूप में अन्तर्लीन रहती है, सृष्टि के बाद 'एकोऽहं बहुस्याम' के रूप में यह व्यवहार में अभिव्यक्त होती है। दूसरा गुण निरन्तरता है। यह देश-कालकृत व्यवधान से शून्य होने के कारण परमेश्वर में निरन्तर नित्य अभिव्यक्त है। तीसरा गुण निश्चलता है, यह अच्युत है, आदिनाथ शिव में सम्पूर्ण अभिव्यक्त होकर व्याप्त है। चौथा गुण निश्चयता है, सत्स्वरूप की अभिव्यक्ति है, संशय, भ्रम, द्वन्द्व आदि दोष से रहित सच्चिदानन्दस्वरूप बोध की योगज्ञानमयी शक्ति है, निरञ्जनता है। पाँचवां गुण निर्विकल्पता है, सृष्टि के पहले सिसृक्षा की संकल्प-शक्ति के रूप में परमेश्वर शिव में विशेष्य-विशेषण (उपाधि) रहित स्वाभिव्यक्त है ॥ १३ ॥

पूर्णता, प्रतिबिम्बता, प्रबलता, प्रोच्चलता प्रत्यङ्मुखतेति कुण्डलिनी शक्तिः ॥ १४ ॥

(कुण्डलिनी महाशक्ति सहस्रार से भी परे आकाश चक्र में स्वस्थ आदिनाथ, अलख निरंजन, परमेश्वर की ज्योतिस्वरूपिणी, नित्य विहारिणी, शाश्वत लीलाधारिणी परमेश्वरी है।) यह परमेश्वर में नित्य सच्चिदानन्द स्वरूपिणी होने से पूर्ण है, अखण्ड, अनन्त, शाश्वत एकरस है। इसका पहला गुण पूर्णता है। यह सर्वव्यापक, अपरिच्छिन्न और नित्य है। शब्द-अर्थरूपगत इसका परिणाम होना ही इसकी प्रतिबिम्बता है। प्रतिबिम्बता इसका दूसरा गुण है। योगी द्वारा नवचक्रादिभेदनपूर्वक इसका प्रबोधन—जागरण होने पर ज्योतिरूप में उसके शरीर में यह महाशक्ति प्रतिबिम्बित हो उठती है। योगी के शरीर का तेजोमय रूप में ज्योतित होना ही कुण्डलिनी की प्रतिबिम्बता है। कुण्डलिनी शक्ति का तीसरा गुण प्रबलता है। यह गुण उसके महाशक्तिसम्पन्न होने का प्रतिपादक है। चौथा गुण प्रोच्चलता है। यह नित्य वर्धमान है, सुप्ताकार से जागृति—प्रबोधनरूप में नित्य-निरन्तर ज्योतित अथवा अभिव्यक्त होती रहती है। यह सदाशिव में सायुज्यलाभमयी होकर ऊर्ध्वमुखी रहती है।

पाँचवां गुण प्रत्यङ्मुखता (सृष्टिकर्मसम्पादन में नित्य तत्परता) है। सृष्टिकर्म के सम्पादन की सम्पूर्ण सामग्री की परिपूर्णता प्रत्यङ्मुखता है ॥१४॥

परपिण्डोत्पत्ति

एवं शक्तितत्त्वे पञ्च पञ्च गुणयोगात् परपिण्डोत्पत्तिः ॥ १५ ॥

इस तरह शक्तितत्व में प्रत्येक (निजा शक्ति, पराशक्ति, अपराशक्ति, सूक्ष्माशक्ति और कुण्डलिनो शक्ति) के पाँच-पाँच गुण, धर्म अथवा अवस्था (पचीस गुणों) में परपिण्ड (सगुण-साकार परमेश्वर के पिण्ड) की उत्पत्ति (प्राकट्य अथवा आविर्भाव) होती है। (जिस तरह हमारा पाञ्चभौतिक शरीर पञ्च भूतों का पिण्ड है और उसका अधिष्ठाता जीवात्मा है, इसी तरह शक्ति के पचीस गुणों वाले परपिण्ड—व्यापक पिण्ड का अधिष्ठाता सगुण साकार परमेश्वर है।) परपिण्ड में व्याप्त यह परमेश्वर सर्वज्ञ, चैतन्यस्वरूप, कूटस्थ, असंग, सत्स्वरूप में जगत् की सृष्टि, पालन और संहार के लिए अभिव्यक्त अथवा प्रकट है। उत्पत्ति का तात्पर्य आविर्भाव है, उत्पत्तिधर्मी का विनाश होता है, परपिण्ड की उत्पत्ति विनाशधर्मी नहीं है यह लय को प्राप्त होता है। साकार-सगुण परमेश्वर का पिण्ड द्वैताद्वैतविवर्जित अलख निरञ्जन, परमेश्वर में लय को प्राप्त हो जाता है, उसका विनाश नहीं होता है ॥ १५ ॥

उक्तञ्च—

निजापराऽपरासूक्ष्माकुण्डलिन्यासु पञ्चधा ।
शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः पिण्डपरः शिवः ॥ १६ ॥

निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी, इन पाँच शक्तियों में शक्तिचक्र क्रम द्वारा सदाशिव पाँच प्रकार से प्रकट होते हैं। एक-एक शक्ति के विकास से एक-एक पिण्ड आविर्भूत होता है, इन पाँच पिण्डों के अधिष्ठातारूप पाँच देव होते हैं, यही शक्तिचक्र-क्रम है, शक्तिचक्रत्रिकोण में विन्दु रहता है, बिन्दु से आशय है अविकृत कारण, आदिनाथ परमेश्वर, परब्रह्म शिव, सदाशिव की शक्ति के विकास के समय यह शक्ति इच्छा, ज्ञान, क्रिया का रूप धारण करती है। इन तीनों (गौरी, लक्ष्मी, सरस्वतीरूपिणी) शक्तियों से परमेश्वर व्यापक शिव का आविर्भाव होता है ॥१६॥

अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति ॥ १७ ॥

इन पाँच शक्तियों के (शक्तिचक्र-क्रम से) प्रकट पाँच अधिष्ठाता देव अपरम्पर सदाशिव—निजा शक्ति के अधिष्ठाता), परमपद (परमेश्वर—परा शक्ति के अधिष्ठाता), शून्य (रुद्र—अपरा शक्ति के अधिष्ठाता), निरंजन (विष्णु, रागद्वेषादिरहित, ज्ञानशक्तिविशिष्ट सूक्ष्माशक्ति के अधिष्ठाता) और परमात्मा (ब्रह्मा—कुण्डलिनी शक्ति के साक्षी जगत् के स्रष्टा) हैं ॥ १७ ॥

अपरम्परात् स्फुरतामात्रमुत्पन्नं परमपदाद् भावनामात्रमुत्पन्नं शून्यात्स्वसत्तामात्रमुत्पन्नं निरञ्जनात् स्वसाक्षात्कारमात्रमुत्पन्नं परमात्मनः परमात्मोत्पन्नः ॥ १८ ॥

अपरम्पर (सदाशिव) से स्फुरता (उत्साह), परमपद (परमेश्वर) से भावना (समालोचनात्मक—क्रियासामान्य ज्ञान), शून्य (रुद्र) से स्वसत्तामात्र, निरञ्जन (विष्णु) से स्वसाक्षात्कारमात्र (अहंकार) और परमात्मा (ब्रह्मा) से सृष्टि के उत्पादन के लिये उपयोगी (बीजरूप) समष्टिपिण्ड उत्पन्न हैं। यह समष्टिपिण्ड अस्मदादि व्यष्टिपिण्डों की अपेक्षा उत्कृष्ट है, इसलिये यह परमात्मा कहा गया है ॥ १८ ॥

अकलंकत्वमनुपमत्वमपारत्वममूर्तत्वमनुदयत्वमिति पञ्चगुणमपरम्परम् ॥ १९ ॥

अपरम्पर (सदाशिव) के पाँच गुण हैं। पहला गुण अकलंकत्व (दोषशून्यता—रागद्वेषादि का अभाव) है। दूसरा गुण अनुपमत्व (सजातीयतारहित—अद्वितीय सत्तामात्र) है। तीसरा गुण अपारत्व असीमत्व (अनन्तता) है। चौथा गुण अमूर्तत्व (परिच्छेदरहितता—अमापकत्व) है—'न तस्य प्रतिमा अस्ति'। (श्वेताश्वतर ४। १९) पाँचवां गुण अनुदयत्व (प्रागभावशून्यता) है, क्योंकि वह उत्पत्ति से परे है, सर्वव्यापक, अकाल और सनातन—शाश्वत है ॥ १९ ॥

निष्कलत्वमणुतरत्वमचलत्वमसंख्यत्वमनाधारत्वमिति पञ्चगुणं परमपदम् ॥ २० ॥

परमपद (परमेश्वर) निष्कल (अवयवशून्य निराकार), अणु-से-भी अणु (सूक्ष्म), अचल (व्यापक), असंख्य (अद्वय) और निराधार (आधार-रहित, स्वाश्रित अथवा स्वाभिव्यक्त) है । ये ही परमेश्वर परमपद के पाँचगुण हैं ॥ २० ॥

लीनता, पूर्णतोन्मनी, लोलता, मूर्च्छेतेति पञ्चगुणं शून्यम् ॥ २१ ॥

शून्य (रुद्र) के पाँच गुण—धर्म हैं । पहला गुण लीनता (अव्यक्तावस्था) है —, कारण में कार्य का लय ही लीनता है । दूसरा गुण पूर्णता (सर्वव्यापकता, अखण्डता) है । तीसरागुण उन्मनी (सहज स्वरूप में प्रतिष्ठा) है, चौथागुण लोलता (संहार आदि कार्यसम्पादन में तरलता) है और पाँचवां गुण मूर्च्छा (महाप्रलय में एकरसात्मक भावापन्नता, विलीनता) है ॥ २१ ॥

सत्यत्व सहजत्वं समरसत्वं सावधानत्वं सर्वंगतत्वमिति पञ्च-गुणंनिरञ्जनम् ॥ २२ ॥

निरञ्जन (रागद्वेषादि से रहित—द्वन्द्वातीत विष्णु) पाँचगुणों से युक्त है । पहला गुण सत्यत्व (तीनों काल में अकाल रूप से उत्पत्ति-विनाश से परे सच्चिदानन्दस्वरूपत्व) है । दूसरा गुण सहजत्व (स्वरूपस्थता) है, तीसरा गुण समरसता (निर्विकारता) है, चौथा गुण सावधानता (प्रमादादिदोष-रहितता) है और पाँचवां गुण सर्वंगतत्व (सर्वव्यापकत्व) है ॥ २२ ॥

अक्षयत्वमभेद्यत्वमच्छेद्यत्वमविनाशित्वमदाह्यत्वमिति पञ्च-गुणः परमात्मा । इत्यनादिपिण्डस्य पञ्चतत्वं पञ्चविंशति गुणाः ॥ २३ ॥

परमात्मा (ब्रह्मा:सृष्टिकर्ता) के पाँच गुण हैं । पहला गुण अक्षयत्व (संसाररूप उपाधि के क्षय होने पर भी स्वरूप की अक्षयता-सत्ता) है । दूसरा गुण अभेद्यता (अनेक उपाधिगत भेद रहने पर भी स्वरूप में अभेद रहना) है, तीसरा गुण अच्छेद्यता (शाश्वत-सनातन सत्ता में अधिष्ठता) है, चौथा गुण अविनाशित्व (उत्पत्ति-विनाश के अभाव में स्वाभिव्यक्तता) है और पाँचवां गुण

अदाह्यत्व (आन्तरिक आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविधि ताप अतीतता) है। यही अनादि पिण्ड पञ्चतत्वात्मक सदाशिवादि (अपरम्पदादि) के पचीस गुण अथवा धर्म का निरूपण है ॥ २३ ॥

उक्तञ्च । अपरम्परं, परमपदं, शून्यं, निरञ्जनपरमात्मानौ, पञ्चभिरेतैः सगुणैरनाद्यपिण्डः समुत्पन्नः ॥ २४ ॥

महाप्रलय में समस्त जगत् महाशक्ति में लय को प्राप्त होकर विलीन रहता है। चिद्रूपा महाशक्ति भी चिद्रूप परमेश्वर से अभिन्न रहती है। सृष्टि की रचना के समय पाँच-पाँच गुणों से युक्त पाँच महाशक्तियों का प्राकट्य होता है, (वे (पाँच- पाँच देवों से) पृथक्-पृथक् (कार्य-भेद से) युक्त होती हैं।) ये ही पाँच देव—शक्तियों के अनुरूप अपरम्पर, परमपद, शून्य, निरञ्जन और परमात्मा हैं—, इन सभी पाँच प्रधान महाशक्तियों के सहित चेतन का नाम ही अनाद्य पिण्ड है। यही सच्चिदानन्दघनस्वरूप परमेश्वर ही उपर्युक्त गुण और नाम से पाँच रूपों में स्वाकारित—अभिव्यक्त होता है। यह स्वरूपाभिव्यक्त समष्टिदेव ही परमेश्वर शिव हैं, आदिनाथ हैं ॥ २४ ॥

महासाकार आद्यपिण्ड पुरुष की उत्पत्ति, उसके पाँच तत्व और पचीस गुण

अनाद्यात् परमानन्दः परमानन्दात् प्रबोधः प्रबोधाच्चिदुदयश्चिदुदयात्चित्प्रकाशः चित्प्रकाशात् सोऽहं भावः ॥ २५ ॥

(अनाद्यपिण्ड परमेश्वर से आद्यपिण्ड पुरुष की अभिव्यक्ति का वर्णन है।) अनाद्य पिण्ड से परमानन्द, परमानन्द से प्रबोध, प्रबोधसेचिदुदय, चिदुदय से चित्प्रकाश और चित्प्रकाश से अहं भाव उत्पन्न—रूपाभिव्यक्त हैं ॥ २५ ॥

विशेष—इस आद्य पुरुष परमेश्वर के भी पाँच-पाँच गुणों से विशिष्ट युक्त पाँच देवों के निरूपण-क्रम में महातत्वगत पंचभूतबीजोत्पत्ति का प्रतिपादन है।

स्पन्दो हर्ष उत्साहो निष्पन्दो नित्यसुखत्वमिति पंचगुणः परमानन्दः ॥ २६ ॥

परमानन्द के पाँच गुण हैं। पहला गुण स्पन्द (चलन-शक्ति) है, दूसरा गुण हर्ष (आनन्द) है, तीसरा गुण उत्साह (कृतिशक्ति) है, चौथा गुण निष्पन्द

(परिणामशक्ति) है और पाँचवां गुण नित्यसुखत्व (स्वरूप में सुखानुभव की शक्ति) है ॥ २६ ॥

उदय उल्लासोऽवभासो विकासः प्रभा इति पंचगुणः प्रबोधः ॥ २७ ॥

प्रबोध के पाँच गुण हैं। पहला गुण उदय (उत्पत्ति) है, दूसरा गुण उल्लास (चित्त की प्रफुल्लता) है, तीसरा गुण अवभास (ज्ञान) है, चौथा गुण विकास (विकसित-अभिव्यक्त होना) है और पाँचवां गुण प्रभा (तेज अथवा स्वरूप-प्रकाश) है ॥ २७ ॥

सद्भावो विचारः कर्तृत्वं ज्ञातृत्वं स्वतन्त्रत्वमिति पंचगुणश्चिदुदयः ॥ २८ ॥

चिदुदय के पाँच गुण हैं। पहला गुण सद्भाव (सनातनता, नित्यता) है। दूसरा गुण विचार (नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक) है। तीसरा गुण कर्तृत्व (कर्तापन का स्वभाव) है। चौथा गुण ज्ञातृत्व (जानने का स्वभाव) है। पाँचवां गुण स्वतन्त्रत्व (अद्वय, अनुपम, स्वाश्रयी अथवा स्वाभिव्यक्त रहना) है ॥ २८ ॥

निर्विकारत्वं निष्कलत्वं निर्विकल्पत्वं समता विश्रान्तिरिति पञ्चगुणः चित्प्रकाशः ॥ २९ ॥

चित्प्रकाश (देव) के पाँच गुण हैं। पहला गुण निर्विकारत्व (उत्पत्ति, वृद्धि आदि विकारों का अभाव) है। दूसरा गुण निष्कलत्व (अवयय आदि न होना) है। तीसरा गुण निर्विकल्पत्व (संशयरहितता) है। चौथा गुण समता (सर्वत्र एकरूपता अथवा एकरस व्याप्त रहना) है। पाँचवां गुण विश्रान्ति (निर्विषयता अथवा विषयों से उपरामता) है ॥ २९ ॥

अहन्ताऽखण्डैश्वर्यं स्वात्मता विश्वानुभवसामर्थ्यं सर्वज्ञत्वमिति पञ्चगुणः सोऽहंभावः । इत्याद्यपिण्डस्य पञ्चतत्त्वं पञ्चविंशति गुणाः । परमानन्दः प्रबोधश्चिदुदयश्चित्प्रकाशः सोऽहंभाव इत्यन्त आद्यपिण्डो महातत्त्वयुक्तः समुत्थितः ॥ ३० ॥

सोऽहं भाव के पाँच गुण हैं। पहला गुण अहंता है—मैं ही सर्वत्र व्यापक हूँ। दूसरा गुण अखण्ड ऐश्वर्य है। तीसरा गुण स्वात्मता (सर्वत्र आत्मबुद्धि— सब में अपने आपको व्याप्त देखना) है। चौथा गुण विश्वानुभवसामर्थ्य—स्थूल और सूक्ष्म समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष करने की शक्ति है और पाँचवां गुण सर्वज्ञत्व अतीत और अनागत विषयक ज्ञान की शक्ति है। इस तरह आद्यपिण्ड के परमानन्दादि पाँच देवता ही पाँच अंग हैं तथा प्रत्येक के अंग में पाँच-पाँच गुण ही पचीस गुण हैं। इन्हीं परमानन्द आदि पाँच देवों का समवाय महत्तत्व रूप आद्यपिण्ड है। यही आद्यपिण्ड पुरुष हिरण्यगर्भ के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ३० ॥

आद्यान्महाकाशो महाकाशान्महावायुर्महावायोर्महातेजो महातेजसो महासलिलं महासलिलान्महापृथ्वी ॥ ३१ ॥

पाँच भूतों का कारण आद्यपिण्ड सूत्रात्मा है। उससे महाकाश उत्पन्न है; महाकाश से महावायु उत्पन्न है, महावायु से महातेज उत्पन्न है, महातेज से महासलिल उत्पन्न है, महासलिल से महापृथ्वी उत्पन्न है ॥ ३१ ॥

अवकाशोऽच्छिद्रमस्पृशत्वं नीलवर्णत्वं शब्दत्वमिति पञ्च-गुण अवकाशः ॥ ३२ ॥

आकाश के पाँच गुण हैं। पहला गुण अवकाश है, पोल होने से यह समस्त पदार्थों का आश्रय है। दूसरा गुण अच्छिद्रत्व—छेद न होना है। आकाश में छिद्र नहीं है। तीसरा गुण अस्पृशत्व है, इसका स्पर्श नहीं किया जा सकता है, यह असंग है। चौथा गुण नीलवर्णत्व है, यह आकाश नीले वर्ण (रंग) का है। पाँचवां गुण शब्दत्व है, यह आकाश शब्द (ध्वनि) से परिपूर्ण है ॥ ३२ ॥

सञ्चारः सञ्चालनं स्पर्शनं शोषणं धूम्रवर्णत्वमिति पञ्च-गुणो महावायुः ॥ ३३ ॥

महावायु के पाँच गुण हैं। पहला गुण सञ्चार है, वायु चलने की क्रिया युक्त रहती है। दूसरा गुण सञ्चालन है। स्वयं चलती रहने से यह अन्य पदार्थों को भी चलाती रहती है। तीसरा गुण स्पर्श है। यह समस्त पदार्थों का स्पर्श करती रहती है। चौथा गुण शोषण है, यह जलादि से युक्त पदार्थों को सुखाती है। पाँचवां गुण धूम्रवर्णत्व है, वायु धूम के रंग की होती है ॥ ३३ ॥

दाहकत्वं पाचकत्वमुष्णत्वं प्रकाशत्वं रक्तवर्णत्वमिति पञ्चगुणं महातेजः ॥ ३४ ॥

महातेज के पाँच गुण हैं। पहला गुण दाहकत्व है, यह पृथ्वी और जल में दाहकत्व पहुँचा कर उन्हें जलाता है। इसका दूसरा गुण पाचकत्व है, यह जठरादि में भोजन आदि सामग्री को पचाता है। तीसरा गुण उष्णत्व है। यह पदार्थों में उष्णता पैदा करता है। चौथा गुण प्रकाश है। यह सभी पदार्थों को प्रकाशित प्रत्यक्ष करता है। पाँचवां गुण रक्तवर्णत्व है। यह लाल रंग का होता है ॥ ३४ ॥

महाप्रवाह आप्यायनं द्रवो रसः श्वेतवर्णत्वमिति पञ्चगुणं सलिलम् ॥ ३५ ॥

सलिल (जल) के पाँच गुण होते हैं। पहला गुण प्रवाह है, यह बहता रहता है। दूसरा गुण आप्यायन है, यह उमड़ता रहता है। तीसरा गुण द्रव है, यह द्रवित (पिघलता) रहता है। चौथा गुण रस है, यह स्वाभाविक मधुर और आस्वाद्य होता है। इसका पाँचवां गुण श्वेतवर्णत्व है, यह श्वेत रंग का होता है, निर्मल रहना इसका स्वभाव है ॥ ३५ ॥

स्थूलता नानाकारता काठिन्यं गन्धः पीतवर्णत्वमिति पञ्चगुणामहापृथ्वी। इति महासाकारपिण्डस्य पञ्चतत्त्वं पञ्चविंशति गुणाः ॥ ३६ ॥

महापृथ्वी के पाँच गुण हैं। पहला गुण स्थूलता है, यह स्थूल है। दूसरा गुण नानाकरता है, पर्वत, तरु, लता, सम, विषम रूप धारण करना इसका स्वभाव है। तीसरा गुण काठिन्य है, यह कड़ी होती है। चौथा गुण गन्ध है। पाँचवां गुण पीतवर्णत्व है, इसका रंग पीला होता है। चित्-अचित् विशिष्ट महासाकार पिण्ड, पञ्चभूतात्मक समष्टिरूप पिण्ड के आकाशादि पाँच रूप अथवा अंग हैं। एक-एक अंग के पाँच-पाँच गुण हैं। इस तरह महासाकार पिण्ड के पाँच तत्त्वात्मक पचीस गुण हैं। यह महासाकार पिण्ड पञ्चतत्त्वात्मक और पचीस गुणों से विशिष्ट (शिवात्मक) है ॥ ३६ ॥

महासाकार पिण्ड की आठ मूर्ति

स एव शिवः शिवाद् भैरवो भैरवात् श्रीकण्ठः श्रीकण्ठात् सदाशिवः सदाशिवादीश्वर ईश्वराद्रुद्रो रुद्राद्विष्णु विष्णो-र्ब्रह्मेति महासाकारपिण्डस्य मूर्त्यष्टकम् ॥ ३७ ॥

महासाकार पिण्ड पञ्चानन शिव की आठ मूर्ति—आकृति (रूप) है। वह शिव है। शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मा अभिव्यक्त हैं।) इन्हीं आठों के द्वारा सृजन, नियमन (रक्षण) और संहार के कार्य सम्पादित होते हैं। ये ही संसारग्रस्त जीवों को बन्धनमुक्त कर भवसागर से तार देते हैं, अतएव सभी मुमुक्षुओं के लिये अभीष्ट पूर्तिहेतु ये ही उपास्य अथवा पूज्य हैं।) इस तरह एक महासाकार पिण्ड शिव से आठ रूपों की अभिव्यक्ति है ॥ ३७ ॥

नरनारीरूप प्रकृतिपिण्ड की उत्पत्ति और पंचभूतों के पचीस गुण

तद् ब्रह्मणः सकाशादवलोकनेन नरनारीरूपप्रकृतिपिण्डः समुत्पन्नस्तच्च पञ्चपञ्चात्मकं शरीरम् ॥ ३८ ॥

(नरनारीरूप प्रकृतिपिण्ड की सृष्टि का वर्णन किया जाता है। (सबसे पहले ब्रह्मा के अवलोकन—ईक्षणरूप संकल्प से स्त्रीसम्पुटित पुरुषप्रकृतिपिण्ड (शतरूपासहित मनुप्रजापति) की समुत्पत्ति होती है। (इसके उपरान्त जरायुजादि भौतिक (पञ्चभूतात्मक) शरीरों की उत्पत्ति है।) यही प्रकृतिपिण्ड भूमि आदि पंचभूतों के पाँच गुणों से युक्त होने से पाञ्चभौतिक शरीर कहा जाता है ॥ ३८ ॥

अस्थिमांसत्वङ् नाड़ीरोमाणीति पञ्चगुणा भूमिः ॥ ३९ ॥

(इस पाञ्चभौतिक शरीर में पृथ्वी का अंश अधिक है, इसलिये यह शरीर पार्थिव कहा जाता है।) इस भौतिक शरीर में पृथ्वीतत्व के पाँच गुण हैं, इसका पहला गुण अस्थि है, दूसरा गुण मांस है, तीसरा गुण त्वचा है, चौथा गुण नाड़ी है

और पाँचवां गुणं रोम (बाल) है। शरीर के रंचनांक्रम में पृथ्वीतत्व के गुणं के रूप में अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ी और रोम ही मुख्य हेतु हैं ॥ ३६ ॥

लाला मूत्रं शुक्रं शोणितं स्वेद इतिपञ्चगुणा आपः ॥ ४० ॥

भौतिक शरीर में स्थित जल तत्व के पाँच गुण लार, मूत्र, शुक्र, (वीर्य) शोणित (रक्त) और स्वेद पसीना हैं। जलीय द्रव्य के रूप में भौतिक शरीर की संरचना में ये पाँचों अंश मुख्य हेतु हैं ॥ ४० ॥

क्षुधा तृषा निद्रा कान्तिरालस्यमिति पञ्चगुणं तेजः ॥ ४१ ॥

भौतिक शरीर में तेज (पावक—अग्नि) तत्व के पाँच गुण क्षुधा, तृषा (प्यास) निद्रा, कान्ति और आलस्य हैं। तेज तत्व के रूप में भौतिक शरीर की संरचना में ये पाँचों अंश मुख्य हेतु हैं ॥ ४१ ।

विशेष—निद्रा को अग्नि तत्व का गुण इसलिये कहा गया है कि पेट भर भोजन करने के बाद पेट में गर्मी की अधिकता से पित्त नाड़ियों में व्याप्त होता है, मन का नाड़ियों में सञ्चार (भ्रमण) वन्द हो जाने से निद्रा आती है। इसी तरह नाड़ियों में पित्त के व्याप्त हो ज ने पर आलस्य आता है।

धावनं भ्रमणं प्रसारणमाकुञ्चनं निरोधनमिति पञ्च-गुणो वायुः ॥ ४२ ॥

भौतिक शरीर में वायु की स्थिति ही उसकी सजीवता अथवा प्राणमयता हैं। शरीर में स्थित वायु के पाँच गुण धावन (वेगपूर्वक संचरण), भ्रमण (प्रत्येक नाड़ी में प्रवहन), प्रसारण (फैलना), आकुञ्चन (समेटना—स्वाभिमुख-संयोगानुकूल व्यापार) और निरोध (नियतदेशसंयोगानुकूल व्यापार) हैं। शरीरस्थ वायु के ये पाँच गुण शरीर के जीवित रहने में मुख्य हेतु हैं ॥ ४२ ॥

रागो द्वेषो भयं लज्जा मोह इति पञ्चगुण आकाशः इति पञ्चविंशति गुणानां भूतानां पिण्डः ॥ ४३ ॥

भौतिक शरीर में व्याप्त आकाश तत्व के पाँच गुण राग, द्वेष, भय, लज्जा और मोह शरीरगत व्यवहार में मुख्य हेतु हैं। इन्हीं के आश्रय में शरीर में द्वन्द्व भावों की उत्पत्ति होती है।। यद्यपि ये रागद्वेषादि अन्तःकरण के धर्म हैं तथापि इनके निवास-स्थान हृदयाकाश का भूताकाश से भेद नहीं है।) इस तरह प्रत्येक भूत के पाँच-पाँच गुण अथवा धर्म से (पचीस गुणों से) पिण्ड--शरीर उत्पन्न होता है ॥ ४३ ॥

अन्तःकरणपंचक

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं चैतन्यमित्यन्तःकरण-पञ्चकम् ॥ ४४ ॥

(स्थूल पिण्ड-शरीर के संचालक सूक्ष्मशरीरादिपर्यन्त लिङ्गात्मा का वर्णन किया जाता है।) यद्यपि अवयवी अन्तःकरण है तथापि उसके अवयव के रूप में मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त और चैतन्य के रूप में अन्तःकरण की पाँच वृत्तियाँ हैं। यही अन्तःकरणपञ्चक कहा गया है ॥ ४४ ॥

संकल्पो, विकल्पो, मूर्च्छा, जड़ता, मननमिति पञ्चगुणं मनः ॥ ४५ ॥

मन के पाँच गुण अथवा धर्म हैं। पहला गुण संकल्प है। यह पदार्थ मुझे मिल जाय अथवा मेरे द्वारा यह कार्य सम्पन्न हो जाय, इस आशा को संकल्प कहा जाता है। संशयात्मक विचार— यह पदार्थ ऐसा है या नहीं है, इसको विकल्प कहा जाता है। मन की यह दूसरी अवस्था है। मन का तीसरा गुण मूर्च्छा है, मन की मुग्धता, विमूढ़ता अथवा अचेत वृत्ति को मूर्च्छा कहा जाता है। मन का चौथा गुड़ जड़ता है। विवेक का अभाव ही जड़ता है। मन का पाँचवां गुण मनन है। मनन का आशय है तर्कसंगत विचार ॥ ४५ ॥

विवेको, वैराग्यं, शान्तिः, सन्तोषः, क्षमेति पंचगुणा बुद्धिः ॥ ४६ ॥

बुद्धि के पाँच गुण हैं। पहला गुण विवेक है। वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निश्चय ही विवेक है। (विवेक हो जाने पर वैराग्य का उदय होता है।)

सद्‌वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर लोक-परलोक के विषयभोग और पुण्यफलभोग में मन की आसक्ति का समाप्त हो जाना ही वैराग्य है। यह बुद्धि का दूसरा गुण है। बुद्धि का तीसरा गुण शान्ति है। (विवेक और वैराग्य हो जाने पर मन में शान्ति-वृत्ति का उदय होता है।) चित्त में चञ्चलता अथवा विषयभोग की कामना में उपरामता की वृत्ति ही शान्ति है। मन शान्त हो जाता है। बुद्धि का चौथा गुण संतोष है। जब विवेक, वैराग्य और भोग में अनासक्ति का बुद्धि में उदय होता है, तब मन सहज संतुष्ट होकर आत्मस्वरूप में ही तृप्त रहने का स्वभाव ग्रहण करता है।। बुद्धि की यही वृत्ति संतोष है। पाँचवां गुण क्षमा है। विवेक, वैराग्य, शान्ति और संतोष से मन राग-द्वेष से प्रभावित नहीं होता है। वह सहनशील होकर दूसरे जीव में दोष-दर्शन नहीं करता और दोष बन जाने पर भी उसे दण्डित करने की भावना का त्याग कर देता है। यह आत्मोदय की वृत्ति है। यह आत्मोदय की वृत्ति ही स्थितप्रज्ञता की भूमिका है।

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २। ५५-५७)

जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को अच्छी तरह त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो निःस्पृह है तथा जिसमें राग, भय, क्रोध नहीं रह जाते, वह स्थिरबुद्धि है। जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित होकर शुभाशुभ की प्राप्ति में प्रसन्न और द्वेषयुक्त नहीं होता, उसी की बुद्धि स्थिर है।

अभिमानं, मदीयं, मम सुखं, मम दुःखं, ममेदमिति पञ्चगुणोऽहंकारः॥ ४७॥

अहंकार की पाँच वृत्तियाँ हैं। पहली अवस्था अभिमान है। मैं ही इस तरह का कार्य करने में समर्थ हूँ, ऐसा विचार ही अभिमान है। दूसरी अवस्था

मदीय (यह वस्तु मेरी) है, शरीर, इन्द्रियादि मेरे हैं। तीसरी वृत्ति मम सुख— इस सुख से मेरा ही एकमात्र सम्बन्ध है—इस भावना की प्रतिपादिका है। चौथी वृत्ति मम दुख—मैं इससे दुःखी हूँ, इस दुःखपरक अवस्था से सम्बन्ध स्थापित करती है। पाँचवीं वृत्ति ममेदम् —यह पदार्थ मेरा है, ये मेरे सम्बन्धी हैं, आदि की परिचायिका है ॥ ४७ ॥

मतिधृ तिस्मृतिस्त्यागः स्वीकार इति पञ्चगुणं चित्तम् ॥ ४८ ॥

चित्त की पाँच वृत्तियाँ हैं। पहली वृत्ति मति है, मति का आशय है इच्छा। दूसरी वृत्ति धैर्य—उत्साह है। तीसरी वृत्ति स्मृति है, संस्कार-मात्र से उत्पन्न होनें वाले ज्ञान को-स्मृति कहा गया है। चौथी वृत्ति त्याग है। उत्तम पात्र को अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु का उसकी सुखेच्छा की तृप्ति के लिये दान कर देना ही त्याग है। पाँचवीं वृत्ति स्वीकार है, इसका आशय है दाना-नुकूल और ग्रहणानुकूल के व्यापार-अनुक्रम से किसी पदार्थ या भाव को स्वीकार करना ॥ ४८ ॥

विमर्शः शीलनं धैर्यं चिन्तनं निःस्पृहत्वमिति पञ्चगुणं चैतन्यमेवमन्तःकरणगुणाः ॥ ४९ ॥

चैतन्य के पाँच गुण अथवा धर्म हैं। पहला गुण विमर्श है। प्रमाण के माध्यम से वस्तु का विचार ही विमर्श है। शीलन दूसरा धर्म है, इसका आशय है तत्परतापूर्वक बार-बार पदार्थ अथवा भाव के गुण-दोष की यथार्थज्ञानप्राप्ति में लगे रहना। तीसरा धर्म धैर्य है। बड़ी-से-बड़ी विपत्ति के आ जाने पर भी कार्य से विमुख न होना तथा शरीर-मन और इन्द्रियों को निरन्तर उत्साहित करते रहना ही धैर्य है। चौथा गुण चिन्तन है। इसका आशय है बार-बार अपने द्वारा सम्पादित होने वाले कार्य के प्रति सावधान रहना। पाँचवां गुण निःस्पृहत्व है। संसार के विषय-भोगों में मन को आसक्त न होने देना तथा उसको विवेक-वैराग्यपूर्वक आत्माभिमुख रखना ही निःस्पृहता है। ये ही अन्तःकरण के पचीस गुण हैं। इस तरह सूक्ष्म-शरीर का वर्णन किया गया ॥ ४९ ॥

कुलपंचक

सत्त्वं रजस्तमः कालो जीव, इति कुलपञ्चकम् ॥ ५० ॥

सत्व, रज और तम (तीनों गुण) काल और जीव (इन पाँचों) की भाव, मन और बुद्धि और इन्द्रिय आदि के संचालन में प्रधानता रहती है। इस कारण ये पाँच कुल अर्थात् प्रधान कहे गये हैं (योगतन्त्र में इन्हें कुलपंचक कहा गया है।) ॥ ५० ॥

दया, धर्मः, क्रियाभक्तिः श्रद्धेति पञ्चगुणं सत्त्वम् ॥ ५१ ॥

सत्व गुण के पाँच कार्यरूप गुणों का वर्णन किया जाता है। पहला गुण दया—प्राणियों पर अनुग्रह करना है। दूसरा गुण धर्म है, जिससे सुख की प्राप्ति और श्रेय का अभ्युदय हो, वह धर्म है। तीसरा गुण क्रिया है, पूजा आदि सत्कर्म और पुण्याचरण तथा भगवत्प्रीत्यर्थ व्रतोपवास-अनुष्ठान आदि क्रिया है। चौथा गुण भक्ति है। परमेश्वर में भक्ति—प्रीति ही भक्ति है। भक्ति से परमेश्वर की शरणागति प्राप्त होती है। इससे योगी को समाधिसिद्धि होती है। महर्षि पतञ्जलि का अभिमत है :

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥
(योगदर्शन २।४५)

पाँचवां गुण श्रद्धा है। श्रद्धा से इस लोक के अतिरिक्त परलोक के अस्तित्व तथा स्वरूपावस्थानपरक आत्मज्ञान (परमात्मा के प्रति विश्वास) में निष्ठा होती है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥
(गीता १४। ५–६)

सत्वगुण निर्मलता के कारण प्रकाश करने वाला और विकार रहित होता है। यह जीवात्मा को सुख और ज्ञान के सम्बन्ध से प्रभावित करता है। गीता

(१४।९) में कहा गया है---'सत्वं सुखे संजयति।' (सत्व सुख में लगाता है।) इन्द्रियों में चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है। 'सत्वात् संजायते ज्ञानम्' (गीता १४।१७) -- सत्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है ॥ ५१ ॥

दानं भोगः शृङ्गारो वस्तुग्रहणं स्वार्थसंग्रहणमिति पञ्चगुणं रजः ।। ६२ ॥

रजोगुण से दान, भोग, शृङ्गार, वस्तुग्रहण और संग्रह में प्रवृत्ति होती है। यह जीव को कर्म से बन्धनयुक्त करता है। रजोगुण रागरूप है । यह कामना और आसक्ति (तृष्णा) से उत्पन्न होता है। जीवात्मा इसके द्वारा कर्मफल की प्राप्ति की स्पृहा करता है। रजोगुण के बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धि से कर्मों का सकाम भाव से आरम्भ, अशान्ति, विषयभोग की लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं। राजस कर्म का फल दुःख है। 'रजसस्तु फलं दुःखम्।' (गीता १४।१६) रजोगुण से लोभ बढ़ता है। रजोगुण का पहला गुण दान है, भविष्य में अथवा जन्मान्तर में फल-प्राप्ति की कामना से देश-काल के अनुसार सत्पात्र का विचार कर यथाशक्ति धन अथवा पदार्थ प्रदान करना दान है । दूसरा गुण भोग है। सुन्दर रूप, रस, गन्ध शब्द, स्पर्शादि की कामना में प्रवृत्त होना भोग है। तीसरा गुण शृङ्गार है, मोक्ष-प्राप्ति के लिये नहीं, विषयभोग की इच्छा की पूर्ति के लिये शरीरादि को समलंकृत करना शृङ्गार है। चौथा गुण वस्तुग्रहण है। अपने भोग-सुख के लिये वस्तु के ग्रहण और संचय में आसक्त रहना वस्तुग्रहण है। पाँचवां गुण स्वार्थ-संग्रहण है । दूसरे की हानि होगी, दुःख होगा—इन बातों का विचार किये बिना अपने स्वार्थ की तृप्ति के लिये वस्तु और विषय-भोग में सहायक उपकरणों के संग्रह में अभिरुचिपूर्वक उन्हें सुरक्षित रखना ही स्वार्थ-संग्रहण है ॥ ५२ ॥

विवादः कलहः शोको वधो वञ्चनमिति पञ्चगुणं तमः । ५३ ।।

तमोगुण की पाँच वृत्तियाँ हैं। तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। देहाभिमानियों को मोहग्रस्त कर प्रमाद, आलस्य और निद्रा से बन्धनमुक्त करता है। तमोगुण के बढ़ने पर अन्तः करण और इन्द्रियों में अप्रकाश (अन्धकार) कर्तव्य में अप्रवृत्ति, मोहिनी प्रमादमयी वृत्तियों का जन्म होता है । तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं।

प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।
(गीता ५ । १७)

तम का पहला गुण विवाद है। इससे व्यर्थ प्रलाप में समय निष्प्रयोजन बीत जाता है। तम का दूसरा गुण कलह है। तमोगुणी व्यक्ति अविवेकी होने से दूसरों से कलह करने में सुख मानता है। तम का तीसरा गुण शोक है। तम का चौथा गुण वध है। तमोगुणी व्यक्ति अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये दूसरे प्राणी को मार डालने में संकोच नहीं करता है। तम का पाँचवां गुण वञ्चन है। तमोगुणी व्यक्ति दूसरों को ठगने में प्रवृत्त रहता है ॥ ५३ ॥

कलना, कल्पना, भ्रान्तिः प्रमादः अनर्थं इति पञ्चगुणः कालः ॥ ५४ ॥

काल की पाँच अवस्थायें अथवा गुण हैं। पहली अवस्था कलना--एक, दो, तीन आदि की संख्या गिनना, आयु आदि की गणना करना है। दूसरी अवस्था कल्पना---अनेक वस्तु-रचना की सामर्थ्य है -वसन्त है, हेमन्त है—इत्यादि। तीसरी अवस्था भ्रान्ति है। बुढ़ापा, यौवन, बचपन आदि में परिवर्तन-निमित्तता भ्रान्ति है। चौथी अवस्था प्रमाद है। असावधानी में उत्पन्न कार्य में प्रवृत्ति— व्यर्थ आलस्य आदि में समय बिताना प्रमाद है। पाँचवीं अवस्था अनर्थ है। अनिष्ट कार्य में लगना अनर्थ का द्योतक है ॥ ५४ ॥

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तिस्तुरीयातुर्यातीतमिति पञ्चगुणो जीवः ॥ ५५ ॥

जीव की पाँच अवस्थायें हैं। पहली जाग्रत् अवस्था है। स्थूल-शरीर में इन्द्रियों द्वारा कर्म होते रहने का भान अथवा ज्ञान जाग्रत् अवस्था है। दूसरी स्वप्न-अवस्था है। बाह्य इन्द्रियों के कार्यकलाप शान्त होने पर मन में (अचेतावस्था में) अनेक वस्तु आदि का व्यवहार होते रहना स्वप्नावस्था है। तीसरी सुषुप्ति-अवस्था है। इसमें बाह्य इन्द्रियों और मन के व्यापार-कार्य के निरोध से निद्रा की स्थिति ही सुषुप्ति है। चौथी तुर्यावस्था है। इसमें आत्मस्वरूपविषयक एकाग्रचित्तता बनी रहती है। आत्मस्वरूपविषयक मनोवृत्ति और द्वैतप्रपंच की अप्रतीति ही तुर्यावस्था का लक्षण है। पाँचवीं तुर्यातीत अवस्था में निर्विकल्प समाधि में जीव प्रतिष्ठित हो जाता है ॥ ५५ ॥

व्यक्तिपंचक और उसके पचीस गुण

इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृतिर्वागिति व्यक्तिपञ्चकम् ॥५६॥

सूक्ष्म-शरीर में जिन-जिन गुणों से व्यवहार का सम्पादन होता है, वे इच्छा क्रिया, माया, प्रकृति और वाक्–पाँच गुण हैं। जीव के उपभोगसाधन में ये व्यवहार में तत्पर रहते हैं, इन्हें व्यक्तिपंचक कहा जाता है ॥ ५६ ॥

उन्मादो, वासना, वाञ्छा, चिन्ता चेष्टेति पञ्च-गुणेच्छा ॥ ५७ ॥

इच्छा के कार्यभूत पाँच व्यापार-गुण हैं। पहला उन्माद है, इच्छा भंग होने पर उन्माद होता है। स्वकर्तव्य-निर्वाह में पहले किये गये कर्मों के संस्कार के अनुरूप शरीर, इन्द्रिय मन आदि को प्रवृत्त करना वासना है धन आदि पदार्थों की प्राप्ति की कामना वाञ्छा है। वासना और वाञ्छा यथाक्रम दूसरे और तीसरे गुण हैं। चौथा गुण चिन्ता है। इष्ट विषय के अन्वेषण की इच्छा चिन्ता है। पाँचवां गुण चेष्टा है, शरीर का व्यापार ही चेष्टा है, कार्य की पूर्ति में शरीर का प्रयासरत होना ही चेष्टा है ॥ ५७ ॥

स्मरणं उद्योगः कार्यं निश्चयः स्वकुलाचार इति पञ्चगुणा क्रिया ॥ ५८ ॥

क्रिया के पाँच गुण अथवा अवस्थायें हैं। संसार के व्यवहार में स्मृति-ज्ञान के उत्पादक व्यापार को स्मरण कहा जाता है। साधनजनक व्यापार को उद्योग कहा जाता है। घट-पटादि उत्पन्न करने वाला व्यापार (मन की वृत्ति को क्रियात्मक रूप देना) ही कार्य है। निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न करने वाली इन्द्रियादि तथा मन की क्रिया ही निश्चय है और अपनी कुलपरम्परागत मर्यादा के पालन में मन की प्रवृत्ति ही स्वकुलाचार है। ये ही पाँचों क्रिया के गुण हैं ॥ ५८ ॥

मदो, मात्सर्यं, दम्भः कृत्रिमत्त्वमसत्यमिति पञ्चगुणा माया ॥ ५९ ॥

माया के पाँच रूप हैं। पहला मद है। मद से युक्त प्राणी कहता है कि मैं ही बलवान हूँ, धनी हूँ, मेरे समान कोई दूसरा नहीं है। अपने सत्स्वरूप को इस तरह अज्ञान से आच्छादित करना मद है। दूसरा रूप मात्सर्य है, दूसरों की उन्नति देख कर उनके प्रति मन में द्वेष-भाव रख कर उनकी उन्नति से जलते रहना और उन्हें गिराने की चेष्टा में लगे रहना मत्सर है। सत् को छिपाकर असत् अथवा मिथ्या भाव दिखाकर दूसरों से अपनी प्रशंसा करवाने का भाव दम्भ है। यह माया का तीसरा गुण है। चौथा रूप कृत्रिमता—बनावट है और पाँचवां गुण माया का है असद् व्यवहार और मिथ्या भाषण, वचन आदि के द्वारा दूसरे को विमुग्ध कर असत्य-से अपना काम बनाना; असत्य ही मिथ्या आचरण है ॥ ५६ ॥

आशा तृष्णा स्पृहा काङ्क्षामिथ्येति पञ्चगुणा प्रकृतिः ॥ ६० ॥

(अन्तःकरण के स्वभाव को प्रकृति कहा जाता है।) प्रकृति के पाँच गुण हैं। पहला गुण आशा है। आगे प्राप्त होने वाली वस्तु के विषय में प्राप्ति की भावना आशा है। दूसरा गुण तृष्णा है। अपने पास भोग के समस्त साधन रहते हुए भी अधिक-से-अधिक साधनपदार्थ की प्राप्ति की कामना में प्रवृत्त रहना तृष्णा है। यह कभी जीर्ण नहीं होती। 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः' वचन पर भर्तृहरि ने वैराग्यशतक में पक्की छाप (मुहर) लगा दी है। तीसरा गुण स्पृहा है, अमुक वस्तु की प्राप्ति हो जाय, इस तरह की मनोवृत्ति स्पृहा है। चौथा गुण काङ्क्षा है, यह वस्तु सदा बनी रहे, कोई छीन न ले, ऐसी वृत्ति काङ्क्षा है। पाँचवां गुण मिथ्या है, न मिलने वाली वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करना मिथ्या है ॥ ६० ॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, मातृकेति पञ्चगुणा वाक् इति व्यक्तिपञ्चकः पञ्चविंशति गुणा ॥ ६१ ॥

अन्तः करण के व्यापारसञ्चालन में वाक्—वाणी का बड़ा महत्व है। वाक् के पाँच रूप हैं। पहला रूप परा है। यह वाणी मूलाधार-चक्र में रहती है और निर्विकल्प समाधि के द्वारा जानी जाती है। इस वाणी में मन की गति नहीं है। वाक् का दूसरा रूप पश्यन्ती है। जब परावाक्—परावाणी नाभि-देश में

आकर स्थूल रूप धारण करती है, तब यह पश्यन्ती वाणी हो जाती हैं। इसके साथ मनका सम्बन्ध भी रहता है। योगी सविकल्प समाधि में इसे जानते हैं। वाक् का तीसरा रूप मध्यमा है। पश्यन्ती वाणी ऊपर गति करती हुई जब हृदय में प्रवेश करती है और अकारादि वर्ण-समुदाय पदरूप धारण करती है, तब इसी का नाम मध्यमा हो जाता है। यही वाणी जब मस्तक से लौट कर कण्ठ और तालु आदि स्थानों में टकराती है, तब उससे प्रकट होने वाले शब्द की वाणी वैखरी कहलाती है। यह वाक् का चौथा रूप है। वाक् का पाँचवां रूप मातृका है। अकारादि वर्णों में शिवरूप मकारके अनुस्वार होने से 'अ आ इ ई' इत्यादि बीज-मन्त्ररूप वर्णमाला ही मातृका वाक् है। इस तरह व्यक्तिपञ्चक के पचीस गुणों—प्रकार आदि का वर्णन किया गया ॥ ६१ ॥

प्रत्यक्षकरणपंचक

कर्म कामश्चन्द्रः सूर्योऽग्निरिति प्रत्यक्षकरणपञ्च-कम् ॥६२ ॥

कर्म, काम, चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि सुख-दुःख भोगने वाले शरीर की प्राप्ति के पाँच प्रधान कारण हैं। शुभ-अशुभ कर्म की अनुकूल वासना के द्वारा शरीर प्राप्त होता है। विन्दुरूप शरीर का निमित्तकारण, कर्म और वासना है। यह संसार में अग्नि और चन्द्रमा के मेल से ही स्थित रहता है। सोमरस भोग्य है और अग्नि शोषक और भोक्ता है। एक के न रहने पर केवल मात्र दूसरे की प्रबलता या अधिकता से संसार और शरीर की स्थिति नहीं रह सकती, इसलिये दोनों का सामरस्य ही शरीर-प्राप्ति और उसकी स्थिति की दृष्टि से आवश्यक है। सोम से कुछ अग्नि-अंश अधिक रहने से अग्नि की विशिष्टता स्वीकृत है। यद्यपि सूर्य और अग्नि अन्यत्र एक ही तत्व के रूप में वर्णित हैं, पर सूर्य बारह कलात्मक, अग्नि दस कलात्मक है और सोम अथवा चन्द्रमा को सोलह कलात्मक परिलक्षित किया गया है। यह शरीर माता के रज और पिता के वीर्य से उत्पन्न होता है। रज सोमात्मक है, चन्द्रमारूप है और वीर्य सूर्य और अग्नि-तत्व रूप है। इस शरीर का उपादान कारण सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा है तथा कर्म और काम निमित्त कारण हैं। कला का अर्थ है चित् से मिली हुई सत्त्वरूप शक्ति। यही प्रत्यक्षकरणपंचक है ॥ ६२ ॥

शुभमशुभं यशोऽपिकीर्तिरदृष्टफलसाधनमिति पञ्चगुणं कर्म ।। ६३ ।।

शरीर की उत्पत्ति के निमित्तकारणरूप कर्म पाँच प्रकार के होते हैं । पहला शुभ कर्म है । यज्ञादि कर्म तथा स्वर्गादि प्राप्त कराने वाले सत्कर्म ही शुभ कर्म हैं । अशुभ कर्म वे हैं, जो निन्दित और असत्य तथा पापप्रेरित हैं । इनसे नरक आदि की प्राप्ति होती है । पुण्यादि कर्म से यश बढ़ता है और अपकर्म अपकीर्ति प्रदान करने वाले कर्म हैं । जिन कर्मों के फल चर्मचक्षु--इन्द्रियजन्य ज्ञान के अप्रत्यक्ष हैं, वे अदृष्टफलसाधन कहे जाते हैं ।। ६३ ।।

रतिः, प्रीतिः, क्रीड़ा, कामनाऽऽतुरतेति पञ्चगुणः कामः ।। ६४ ।।

विषय-भोग-सेवन-जन्य कर्म ही काम कहा जाता है । काम पाँच प्रकार का होता है । काम का पहला रूप रति है, स्त्री के प्रति रमणीयता की वृत्ति ही रति है । सुख-साधनों में अनुरक्ति ही प्रीति है । इन्द्रियों और मन को आनन्दित करने वाली रमणीय वस्तुओं को साधन बनाकर सुख-सम्पादन की क्रिया ही क्रीड़ा है, इस सम्बन्ध में नौका-विहार, कन्दुक उछालना आदि खेलों को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है । काम-सुख की प्राप्ति में निरन्तर स्पृहा रखना ही कामना है तथा भोग-सुख अथवा रमणीयता का आस्वादन शीघ्रातिशीघ्र हो, इस तरह की मनोवृत्ति ही आतुरता है ।। ६४ ।।

उल्लोला, कल्लोलिनी,, उच्चलन्ती, उन्मादिनी, तरङ्गिणी शोषिणी, लम्पटा, प्रवृत्तिः, लहरी, लोला, लेलिहाना, प्रसरन्ती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्नता, प्लवन्ती एवं चन्द्रस्य षोडशकला। सप्तदशीकला निवृत्ति, साऽमृतकला ।। ६५ ।।

चन्द्रमा की सोलह कलायें हैं । भोगप्रवृत्ति को बढ़ानेवाली, द्रवित करने वाली कला उल्लोला है । बड़े आकार की तरंगमयी कला कल्लोलिनी है, ऊपर को चलनेवाली, प्रवृत्त होनेवाली उच्चलन्ती है । विषयसुख के प्रति मन को उन्मादित करने वाली कला उन्मादिनी है, तरंगायित होने वाली कला तरंगिणी है, जल और रस को सुखाने वाली कला शोषिणी है, लम्पटा चारों ओर फैलती

अथवा प्रसरित होती है, हर्षोत्पादिका कला का नाम प्रवृत्ति है, टेढ़ी-टेढ़ी गति वाली कला लहरी है। चञ्चल होने वाली कला का नाम लोला है, रसादि को चाटनेवाली कला लेलिहाना है। फैलनेवाली कला का नाम प्रसरन्ती है, चन्द्रकान्त आदि मणियों को द्रवित करने वाली कला का नाम प्रवाहा है, समस्त पदार्थों, औषधियों, लता-वृक्षादि को सोमरस से सिक्त करने वाली कला का नाम सौम्या है, सभी पदार्थों में निर्मलता स्थापित करने वाली कला का नाम प्रसन्नता है, उछल कर प्रवाहित होनेवाली कला का नाम प्लवन्ती है। चन्द्रमा में स्थायी रहने वाली, प्रलयकाल में भी अक्षुण्ण रहने वाली सोमरसमयी कला (निजकला) का नाम निवृत्ता है, यही अमृत कला है, जो सत्रहवीं कला कहलाती है ॥ ६५ ॥

विशेष—चन्द्रमा की इन समस्त कलाओं का सेवन लोकोत्तरानन्द की प्राप्ति में भी सार्थक है, केवल विषयेन्द्रिय-भोगजन्य तृप्ति में ही इनकी उपादेयता सीमित नहीं है, ये परमात्मप्रेम अथवा आत्मरस की तृप्तिस्वरूपिणी हैं।

तापिनी, ग्रासिका, उग्रा, आकुञ्चनी, शोषिणी, प्रबोधिनी, स्मरा, आकर्षिणी, तुष्टिवर्धनी, ऊर्मीरेखा, किरणवती, प्रभावतीति द्वादशकला सूर्यस्य त्रयोदशी स्वप्रकाशता निजकला ॥ ६६ ॥

सूर्य की बारह कलायें हैं। तापिनी ताप पैदा करती है, ग्रासिका तम—अन्धकार का नाश करती है, उग्रा कला प्रखर होती है, आकुञ्चनी समेटने वाली, संकुचित करनेवाली कला है, कुमुदिनी आदि को संकुचित और आकुंचित करने वाली कलायें उग्रा और आकुंचिनी हैं। शोषिणी कला जल आदि को सुखाती है। प्रबोधिनी कला कमल आदि को खिलाती (विकसित करती) है। स्मरा कला स्मृति उत्पन्न करती है। आकर्षिणी कला भूमि आदि के जल को अपनी ओर खींचती है। प्राणिमात्र को संतुष्टि प्रदान करनेवाली कला तुष्टिवर्धिनी है। ऊर्मी रेखा कला प्राणियों की आयु का माप करती है। किरणों का विस्तार करनेवाली कला किरणवती है और प्रकाश करनेवाली कला का नाम प्रभावती है। सूर्य की तेरहवीं कला—निजाकला स्वप्रकाशता है ॥ ६६ ॥

दीपका, राजिका, ज्वालिनी, विस्फुलिङ्गिनी, प्रचण्डा, पाचिका, रौद्री, दाहिका, रागिणी, शिखावती इत्यग्नेर्दशकला

एकादशी कला ज्योतिरिति प्रत्यक्षकरणगुणकला-समूहः ।। ६७ ।।

अग्नि की दस कलायें हैं। दीपका कला दीप्त (प्रकाशित) करनेवाली कला है। राजिका कला शोभामयी करती है, ज्वाला कला ही ज्वालिनी है, विस्फुलिंग—चिनगारी प्रकट करनेवाली कला विस्फुलिंगिनी है। प्रचण्डकिरणों से युक्त कला ही प्रचण्डा है और जठरादि में भोज्य पदार्थों को पचानेवाली, वृक्षादि में फलों को रसमय करनेवाली कला ही पाचिका है। रौद्र स्वभाव की प्रतिपादिका कला रौद्री है, जलाने वाली कला का नाम दाहिका है, रागिणी अग्नि की लाल ज्योति की प्रकाशिका है, ऊपर की ओर लौ धारण करनेवाली कला शिखावती है। अग्नि की निजकला ज्योति है। (सूर्य, चन्द्र और अग्नि—शिव के त्रिनेत्र के वाचक हैं।) इस तरह प्रत्यक्षकरणपंचक के गुण-समूह और कलाओं का वर्णन किया गया है ।। ६७ ।।

दस प्रधान नाड़ी और उनके स्थान

अथ नाड़ीनां दश द्वाराणि। इडापिङ्गला नासाद्वारयोर्वहतः सुषुम्णा नाडी तु ब्रह्मदण्डमार्गेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वहति सरस्वती मुखद्वारे वहति पूषाऽलम्बुषा चक्षुर्द्वारयोर्वहतो गान्धारी हस्तिजिह्विका च कर्णद्वारयोर्वहतः कुहूर्गुदाद्वारे वहति शंखिनी लिङ्गद्वारे वहति एवं दशद्वारेषु वहन्ति ।। ६८ ।।

शरीर में (प्राणवाहिनी) दस (प्रमुख) नाड़ियों के दस द्वारों का वर्णन किया जाता है। नासिका के दोनों रन्ध्र (द्वार) से—बायें से इडा और दायें से पिंगला बहती है। सुषुम्णा नाड़ी ब्रह्मदण्डमार्ग (मेरुदण्ड) से ब्रह्मरन्ध्र तक बहती है और सरस्वती मुख-द्वार में बहती है। चक्षुद्वार—बायें नेत्र में गान्धारी और दक्षिण नेत्र में हस्तिजिह्विका नाड़ी बहती हैं, कानों के द्वार में—यथाक्रम पूषा और अलम्बुषा बहती हैं। शंखिनी नाड़ी लिंग द्वार में बहती है और गुदा द्वार में मूल नाड़ी बहती है। दसों द्वारों में दसों नाड़ियाँ बहती हैं ।। ६८ ।।

विशेष—लिङ्ग से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के समान समस्त नाड़ियों का उत्पत्तिस्थान मूलकन्द है। इसी मूलकन्द से बहत्तर हजार नाड़ियों की उत्पत्ति है। इनमें सर्वश्रेष्ठ सुषुम्णा है, सुषुम्णा से प्राण निकलने पर ब्रह्मलोक तक गति होती है और जीवात्मा मोक्षस्वरूप—परमेश्वर अलख निरञ्जन शिव में प्रतिष्ठित हो जाता है। दूसरी नाड़ियों से प्राण निकलने पर स्वकर्म के अनुसार जीवात्मा को स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है। योगशिखोपनिषद् में वर्णित नाड़ी-स्थिति-क्रम के अनुसार ही (सिद्धसिद्धान्तपद्धति १। ६८ में वर्णित) नाड़ी-स्थिति का अर्थ किया गया है।

गान्धारी हस्तिजिह्वा च तस्मान्नेत्रद्वयं गते ॥ २१ ॥
पूषा चालम्बुषा चैव श्रोत्रद्वयमुपागते ॥ २२ ॥
सरस्वती तु या नाड़ी साजिह्वान्तं प्रसर्पति ॥ २३ ॥
(योगशिखोपनिषद् ५। २१-२३)

दस वायु (प्राण) और उनके स्थान

अथ दशवायवः। हृदये प्राणवायुरुच्छ्वासनिःश्वासकारो हकारसकारात्मकश्चास्यैवावस्थाभेदे हठयोग इति संज्ञा, 'हकारः कीर्त्तितः सूर्यश्ठकारश्चन्द्र उच्यते। सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते ॥' गुदेत्वपानवायू रेचकंकुम्भकपूरकश्च नाभौ समानवायुर्दीपकः पाचकश्च सर्वाङ्गे व्यानवायुग्र सनवमनजल्पकारश्च उदानः नागवायु सर्वाङ्ग व्यापकश्चाल-कश्च कूर्मवायुः कम्पकश्चक्षुरुन्मेषकारकश्च कृकल उद्गारकः क्षुत्कारकश्चदेवदत्तो मुखविजृम्भकः धनञ्जया नादघोषक इति दशवाय्ववलोकनेन पिण्डोत्पत्तिर्नरनारीरूपः। ६९ ॥

शरीर में दस (प्रधान) वायु हैं। हृदय में प्राणवायु उच्छ्वास और निःश्वास का संचालन करती है। यही प्राणवायु हकार और सकारात्मक है। यह हकार की ध्वनि से वाहर जाती है, सकार की ध्वनि से भीतर आती है, यह हठयोग की स्थिति है। हकार सूर्य और ठकार चन्द्र कहा जाता है, हकार और ठकार का योग ही हठ (प्राण)-साधना है। गुदादेश में अपान वायु रहती है, यह अपान

वायु रेचक, पूरक, कुम्भक की सामर्थ्य से युक्त होती है। (प्राणवायु को शरीर में रोकती है और प्राणायाम के अभ्यास में सिद्धि प्रदान करती है।) नाभि में समान वायु रहती है, यह जठरानल को दीप्त करती है और भोजन के रूप में ग्रहण किये गये पदार्थों को रसयुक्त करती तथा पचाती है। व्यानवायु शरीर में व्याप्त रहती है, यह समस्त नाड़ियों में विद्यमान मलादि दोषों का शोषण कर शरीर की कान्ति और तेज को बढ़ाती है। कंठ में उदान वायु रहती है। इसका कार्य वमन, भाषण और शरीर से प्राण का उत्क्रमण है। नागवायु शरीर में व्याप्त रह कर उसके अंग-प्रत्यंग के संचालन में सहायता करती है। आँखों की पलकों को खोलना और बन्द करना (नेत्रोन्मीलन) कूर्मवायु का कार्य है। कृकल (कृकर) वायु का कार्य है डकार उत्पन्न करना तथा भूख बढ़ाना। देवदत्त वायु जँभाई लेने में सहायता रती है तथा धनञ्जय समस्त शरीर में व्याप्त रहकर अव्यक्त नाद उत्पन्न करती है। (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, पाँच मुख्य वायु हैं और नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनञ्जय उपवायु हैं।) इस तरह इन दस वायुओं के सम्बन्ध से नरनारीरूप पिण्ड (शरीर) की उत्पत्ति होती है॥ ६६॥

विशेष --प्राण-वायु के हकार की ध्वनि से बाहर जाने पर और सकार की ध्वनि से भीतर आने पर हंस-हंस मन्त्र की उत्पत्ति शरीर में इक्कीस हजार छः सौ बार होती रहती है। इस हंस मन्त्र मे सोऽहं शब्द की उत्पत्ति होती है। हंस-मन्त्र का जप ही अजपा गायत्री है। यह योगियों को मोक्ष प्रदान करती है, इसके संकल्पमात्र से उसके समस्त पाप नष्ट होते हैं। कुण्डलिनी से उत्पन्न यह गायत्री, प्राण-विद्या महाविद्या है।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते।
कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
(गोरक्षशतक ४२, ४४, ४६)

हकार से सूर्यस्वर और ठकार से चन्द्रस्वर का सुषुम्ना नाड़ी में संयोग ही हठयोग में प्राणसिद्धि है।

जीवात्मा के स्थूल शरीर का उत्पत्ति-क्रम

अथ गर्भोली पिण्डोत्पत्तिर्भवति नरनारीसंयोगे ऋतुकाले रजोविन्दुसंयोगे जीवः ॥ ७० ॥

ऋतु-काल में नर और नारी के संभोग—संयोग (संगम) से निकले हुए रज-विन्दु का स्त्री की योनि में ऐक्य होने से जीव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है ॥ ७० ॥

विशेष—शिवरूप विन्दु है और बीज शक्ति रूप है। इन दोनों का परस्पर सम्वन्ध ही नाद कहा गया है। व्यष्टि जीव सहित शुक्र भी विन्दु है, पुरुष के वीर्य में अन्य जीवात्मा निवास करता है, पर उसके शरीर में उसे सुख-दुःखादि प्रभावित नहीं करते, पर संभोग-काल में भोगार्थ कर्मवश वह अन्य जीवात्मा पुरुष के विन्दु से स्त्री के गर्भाशय में रज में सिंचित होकर स्थूल शरीर (रज-वीर्य से उत्पन्न शरीर) में जन्म लेने में समर्थ होता है। अतएव रज और विन्दु का ऐक्य ही भोगकर्म के परिणामस्वरूप स्थूल शरीर की उत्पत्ति का कारण है।

प्रथमदिने कललं भवति सप्तरात्रे बुद्बुदाकारं भवति। अर्धमासे गोलाकारं भवति। मासमात्रेण कठिनं मासद्वयेन शिरो भवति। तृतीयमासि हस्तपादादिकं भवति। चतुर्थे मासि चक्षुःकर्णादिनासिकामुखमेढ्गुदं भवति। पञ्चमे मासि पृष्ठोदरौ भवतः। षष्ठे मासि नखकेशादिकं भवति। सप्तमे मासे सर्वचेतनयुक्तो भवति। अष्टमे मासि सर्वलक्षणयुक्तो भवति। नवमे मासि सत्यज्ञानयुक्तो भवति। दशमे मासि योनिसंस्पर्शादज्ञानी बालको भवति ॥ ७१ ॥

(माता के गर्भ में प्रविष्ट जीवात्मा के स्थूल शरीर के निर्माण (सृष्टि) क्रम पर प्रकाश डालते हुए महायोगी गोरखनाथजी का कथन है—) नर-नारी के परस्पर सम्भोग के परिणामस्वरूप वीर्य और रज का मिश्रित द्रव पहले दिन कुछ गाढ़ा-सा रहता है। सात दिन की अवधि में यह बुलबुले का आकार धारण कर लेता है। पन्द्रह दिनों में यह गोल आकार का (पिण्ड) हो जाता है। एक

माह में यह स्थूल ठोस—कठिन-सा हो जाता है और दो माह में (उस गोलाकार पिण्ड में) सिर बनता है, तीन माह में उसमें हाथ-पैर आदि अंग बनते हैं, चार माह की अवधि में उसमें नेत्र, कान, नाक, मुख, लिंग, गुदा के आकार बन जाते हैं, पाँचवें मास में पीठ और पेट आकारित होते हैं, छठें माह में नख, बाल आदि उत्पन्न होते हैं; सातवें माह में उसमें चेतनता का समस्त अंगों में संचार होता है। आठवें मास में उसमें सभी लक्षण पूरे हो जाते हैं। नौवें मास में उसे (चेतन जीवात्मा को) अपने सत्स्वरूप का ज्ञान होता है। (उसे पिछले जन्म के कर्मों और तज्जन्य दुःखों का स्मरण हो आता है और वह परमात्मा से प्रार्थना करता है कि मुझे कृपा करके इस गर्भवास नरक-यातना से मुक्त कीजिये। दसवें मास में गर्भ से बाहर होते समय योनि-द्वार का स्पर्श होते ही वह अज्ञानी बालक-रूप में जन्म लेता है ।। ७१ ।।

शुक्राधिकेषु पुरुषो रक्ताधिका कन्यका समशुक्ररक्ताभ्यां नपुंसकः परस्परं चिन्ताव्याकुलत्वादन्धः कुब्जो वामनः पङ्गुरङ्गहीनश्च भवति । परस्परं रतिकालेऽङ्गनिःपीडनकरगुणैः शुक्रो द्विस्त्रिवारं पतति, येन द्वितीयो बालको भवति ।। ७२ ।।

यदि पिता का वीर्य गर्भाशय में अधिक सिंचित होता है और माता का रक्त (रज) कम है तो संभोग के परिणामरूप पुरुष- (बालक) शरीर उत्पन्न होता है, माता का रज अधिक होने से कन्या-शरीर की उत्पत्ति होती है। पिता-माता के वीर्य और रज के समान (मिश्रित) द्रव से नपुंसक सन्तान की प्राप्ति होती है। यदि संभोग के समय स्त्री-पुरुष, दोनों चिन्ताग्रस्त हों तो जन्म लेने वाली सन्तान अन्धी, कुबड़ी, वामन (बौनी), लँगड़ी, अंगहीन होती है। रति-प्रसंग के समय आपस में अङ्गमर्दन से वीर्य-स्खलन में अवरोध होने पर गर्भाशय में रुक-रुक कर दुबारा वीर्यपात होते रहने पर एक से अधिक सन्तान उत्पन्न होती हैं ।। ७२ ।।

सार्धपलत्रयं शुक्रं विंशतिपलं रक्तं द्वादशपलं मेदः, दशपलं मज्जा, शतपलं मांसं, दशपल पित्तं, विंशतिपलं श्लेष्मा, तद्वद्वातः स्यात् षष्ट्यधिकशतत्रयमस्थीन्यस्थिमात्रं सन्धयः

सार्धत्रयकोटिरोमकूपाणि पितृमातृवीर्यं भवति वातपित्तश्लेष्म-धातुत्रयं दशधातुमयं शरीरमिति गर्भोत्थपिण्डोत्पत्तिः ॥ ७३ ॥

(जीवात्मा के स्थूल शरीर में कितनी मात्रा में कौन-कौन धातु हैं, इसका वर्णन किया गया है ।) इस शरीर में वीर्य साढे तीन पल (२२५ ग्राम), रक्त बीस पल (१२८० ग्राम), मेद बारह पल (७६८ ग्राम), मज्जा, दस पल (६४० ग्राम), मांस सौ पल (६४०० ग्राम), पित्त दस पल (६४० ग्राम), कफ २० पल (१२८० ग्राम), वात बीस पल (१२८० ग्राम), अस्थि तीन सौ साठ, सन्धि (जोड़) तीन सौ साठ, रोम और रोमकूप साढ़े तीन करोड़ हैं । यह शरीर पिता-माता के वीर्य और रज से उत्पन्न है । वात, पित्त, कफ आदि से युक्त दस धातुओं से निर्मित शरीर की गर्भ से उत्पत्ति होती है । यह गर्भ में उत्थित पिण्ड की उत्पत्ति है ॥ ७३ ॥

विशेष--१ पल ४ कर्ष के बराबर होता है, और १ कर्ष का तौल १६ मासा है, १ मासा १ ग्राम के तौल के बराबर होता है, इस तरह १ पल का तौल ६४ ग्राम है ।

इति शिवगोरक्षविरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ प्रथमोपदेशः ॥

दूसरा उपदेश

[पिण्डविचार]

नौ चक्र-वर्णन

पिण्डे नवचक्राणि । आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्त भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्दस्तत्र शक्तिं पावकाकारां ध्यायेत् तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति ॥ १ ॥

शरीर में नौ चक्र हैं। (गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिङ्ग से दो अंगुल नीचे—चार अंगुल परिमाण का मूलाधार है।) मूलाधार में तीन वार गोल आकार में चारों ओर लिपटा त्रिकोण भगमण्डल के सदृश ब्रह्मचक्र है, वहीं (उसी के समीप) मूलकन्द है, वहाँ अग्नि के आकारवाली शक्ति का (योगी को) ध्यान करना चाहिये, वहीं कामरूप पीठ है, जिसके ध्यान मात्र से समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है ॥ १ ॥

विशेष—हमारे पिण्ड में पीठ में संलग्न मेरुदण्ड है। मेरुदण्ड के भीतर ही दाहिनी ओर पिंगला तथा बायीं ओर इडा नाड़ी स्थित हैं, मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है। यह तेजःस्वरूपिणी नाड़ी मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त सहस्रार तक जाती है। इसी नाड़ी में स्थित अनेक आकार-विशेष ही षट्चक्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। गोरखनाथजी ने यद्यपि इसमें नवचक्र निरूपित किये हैं तथापि उन्होंने गोरक्षशतक आदि में षट्चक्र ही स्वीकार किये हैं।

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥
आधाराख्यं गुदास्थानं पङ्कजं च चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाक्षा सिद्धवन्दिता ॥
योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखस्थितम् ।
मस्तके मणिवद् विम्बं यो जानाति स योगवित् ॥
तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात् प्रतिष्ठितम् ॥
यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातं न विद्यते ॥
(गोरक्षशतक १३, १७-२१)

मूलाधार-चक्र और स्वाधिष्ठान चक्र के मध्य में स्थित योनिस्थान को कामरूप कहा जाता है। मूलाधार नामक चार दल वाले कमल (चक्र) के, जो गुदास्थान में है, मध्य में त्रिकोणाकार योनि है, यही योगसिद्धों द्वारा वन्दित कामाक्षा पीठ है। उस कामाक्षा के मध्य में पश्चिमाभिमुख महालिंग है, उसके मस्तक में मणि के समान प्रदीप्त विम्ब को जो अच्छी तरह जानता है, वही योग-वेत्ता है। लिङ्गस्थान के नीचे मूलाधार पद्म की कर्णिका में तप्त स्वर्ण वर्ण और विद्युल्लेखा के समान ज्योतित त्रिकोणाकार अग्निमय योनिस्थान है। समस्त दिशाओं में व्याप्त इस परम ज्योति का महायोगसमाधि में स्थित योगी दर्शन कर मुक्त हो जाता है।

मूलाधार कमल (चक्र) ही ब्रह्मचक्र है। यह मूलाधार-चक्र कुलचक्र भी कहलाता है। इस में कुण्डलिनी निवास करती है। कुण्डलिनी के स्थान में ही बन्धूक-पुष्प के समान लाल वर्ण के तेज से युक्त कामबीज है। यह तपाये हुए स्वर्ण के समान उज्ज्वल और प्रयुक्त अक्षरस्वरूप है। यह काम-बीज शरद के चन्द्रमा के समान दीप्त और करोड़ों सूर्य के समान तेजस्वी तथा करोड़ों चन्द्रमा के समान शीतल होता है।

तत्र बन्धूकपुष्पाभं कामबीजं प्रकीर्तितम् ॥
(शिवसंहिता ५ । १९)

यह आधार चक्र अपने चार दलों से युक्त है, उन दलों में वं, शं, षं, सं, ये चार अक्षर हैं। इस मूलाधार कमल के ध्यान से शरीर की कान्ति बढ़ जाती है जठराग्नि प्रदीप्त होती है, शरीर नीरोग रहता है। साधक तीनों काल का ज्ञाता हो जाता है। इस चक्र के ध्यान से योगी के सभी पाप क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। योगी मन, बिन्दु और प्राण, तीनों को अपने वश में कर लेता है।

द्वितीयं स्वाधिष्ठानं चक्रं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखलिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्डीयानपीठं जगदाकर्षणं भवति ॥ २ ॥

दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है। उसके बीच में पीछे की ओर मुख वाला प्रवालांकुर मूँगे के अग्रभाग के सदृश (लाल रंग का) शिवलिंग है, इसका ध्यान करना चाहिये, यहीं उड्डियान पीठ भी है, इस लिंग का ध्यान करने से समस्त जगत् साधक की ओर सहज खिंच जाता है, शिवलिंग की उपासना से जगत् के प्राणी को साधक अपनी ओर आकृष्ट करने की सामर्थ्य प्राप्त करता है ॥ २ ॥

विशेष--'स्व' शब्द प्राण का वाचक है, इसलिये स्वाधिष्ठान प्राणचक्र है।

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः।
(गोरक्षशतक २२)

यह स्वाधिष्ठान-चक्र मेढ्र में स्थित है। यह छः दलों का कमल (चक्र) है। यह माणिक्य के समान लाल रंग का है। छः दलों पर क्रमशः वं, भं, मं, यं, रं, लं अक्षर अंकित होते हैं। इस चक्र में आत्मा का ध्यान कर योगी सुखी होता है।

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत् ॥
(गो० संहिता २। ६५)

स्वाधिष्ठान चक्र के ध्यानी को समस्त न सुने शास्त्रों का ज्ञान हो जाता है। उसका शरीर रोगरहित हो जाता है। वह संसार में अभय रहता है।

सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥
(शिवसंहिता ५।१०१)

स्वाधिष्ठान चक्र का ध्यान करने वाले योगी की शारीरिक दिव्य कान्ति से लोग सम्मोहित हो उठते हैं। उसे अनेकानेक सिद्धियाँ प्राप्त होने लगती हैं, पर वह इन्हें साधना में बाधक मानकर आत्मलीन रहता है।

तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्तं सर्पवत् कुण्डलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनीशक्तिं बालार्ककोटिसदृशीं ध्यायेत् सा मध्यमा शक्तिः सर्वसिद्धिदा भवति ॥ ३ ॥

तीसरा नाभिचक्र (मणिपूरक) है। यह सर्प के समान कुण्डलाकार नाड़ी से पाँच वलयों में वेष्टित है, इस चक्र के मध्य में अरुणोदयकालीन करोड़ों सूर्य की प्रभा के समान विभासित कुण्डलिनी शक्ति का (योगी को) ध्यान करना चाहिये। यह मध्यमा शक्ति है, इसके ध्यान मात्र से समस्त सिद्धियों की प्राप्ति होती है। (यह मूलाधार में स्थित सूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति की ही ज्योतिर्मयी विशिष्ट अवस्था है। इसके ध्यान से चित्त में सत्वगुण प्रवाहित होता है। मूलाधारस्थ कुण्डलिनी तीन वलयों में वेष्टित होती है।) मणिपूरक-चक्र में ज्योतित पाँच वलयों में वेष्टित कुण्डलिनी मध्यमा शक्ति है ॥ ३ ॥

विशेष—यह स्वर्ण-वर्ण का कमल है, इसके दस दलों पर क्रमशः ड से फ तक—डं, ढं, णं, तं, थ, दं, धं, नं, पं, फं, वर्णमाला अंकित है। इस चक्र का ध्यान करने से पाताल नाम की सिद्धि प्राप्त होती है, योगी इसका ध्यान कर सदा सुखी रहता है। जगत् में उसकी अभीष्ट कामनायें पूरी होती हैं, दुःख-रोग नष्ट होते हैं, मृत्यु का भय टल जाता है और परकाय-प्रवेश की शक्ति प्राप्त होती है, स्वर्णादि बनाने की सिद्धि प्राप्त होती है, औषधि—जड़ी-बूटी तथा पृथ्वी के भीतर छिपी रत्नादि निधि का ज्ञान होता है।

तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम्।
दशारण्डादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम्॥
तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके।
तस्य पातालसिद्धिः स्यान्निरन्तरसुखावहा॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम्॥

कालस्य वञ्चनं चापि परदेहप्रवेशनम् ॥
जाम्बूनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत् ।
औषधोदर्शनं चापि निधीनां दर्शनं भवेत् ॥
(शिवसंहिता १०४, १०६-१०८)

विवेक-मार्तण्ड में महायोगी गोरखनाथजी का कथन है कि मणिपूरक चक्र तरुण सूर्य के समान है। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर कर इस चक्र में आत्मा का ध्यान करने से योगी जगत् को संक्षुब्ध कर देता है।

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे तु मणिपूरके।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ॥
(विवेकमार्तण्ड १७०)

मणिपूर चक्र का अर्थ है मणि का नगर, यह अग्नि का केन्द्र है, ताप का मध्य बिन्दु है, मणि की भाँति चमकदार है। यह चेतनता की शक्ति से प्रदीप्त है। इस पद्म के भीतर उलटा त्रिभुज है, जिसका रंग लाल है। इसका वाहन भेंड़ा है। यह चक्र आत्मिक तथा भौतिक शरीर का प्राण-केन्द्र है, यहाँ प्राण-अपान का संगम होता है, जिसके परिणामस्वरूप ताप की उत्पत्ति होती है। यह ताप जीवन की रक्षा करता है।

श्रीगोरखनाथ ने इस चक्र को नाभिचक्र कहा है। यह सुषुम्ना नाड़ी के अन्तर्गत एक केन्द्र के रूप में नाभिक्षेत्र में स्थित अनुभव किया जाता है। एक ऊर्ध्वगामिनी शक्ति योगी की चेतना को आधार चक्र और स्वाधिष्ठान चक्र से ऊपर उठा कर इसमें प्रतिष्ठित करती है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान की अपेक्षा शिव-शक्ति के मिलन की आनन्दानुभूति का यह विशिष्ट केन्द्र है। महायोगी गोरखनाथ ने इस चक्र में प्रकट कुण्डलिनी को मध्यमा शक्ति कहा है, जिसका आशय है कि शिव-शक्ति के मूल स्वरूप की आत्माभिव्यक्ति की यह मध्यवर्ती अवस्था है। मणिपूर चक्र में मनरूपी भ्रमर रहता है। यह समय-समय पर विभिन्न दलों—पंखुड़ियों पर विचरण करता है। इस चक्र में चौबीस सौ श्वास लेने के समय (२ घंटे ४० मिनट) तक ध्यान करना चाहिये, इस ध्यान से शान्ति, आनन्द, धृति, समता, निर्मोहता, वैराग्य, एकान्तप्रियता आदि की प्राप्ति होती है।

चतुर्थं हृदयाधारमष्टदलकमलमधोमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां लिङ्गाकारं ज्योतिरूपां ध्यायेत् । सैव हंसकला सर्वेन्द्रियाणि वश्यानि भवन्ति ।। ४ ।

हृदय में (सुषुम्ना नाड़ी में) स्थित चौथा अनाहत चक्र है । यह आठ दल (पंखुड़ियों) वाला कमल है, जो अधोमुख (नीचे की ओर मुख वाला) है । उसके मध्य में कर्णिका में स्थित शिव-लिंग के आकार वाली ज्योति का ध्यान करना चाहिये । यही हंसकला नामवाली श्रीशक्ति है । इसकी उपासना से (साधक की) सभी इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं ।। ४ ।।

विशेष—यद्यपि इस सिद्धसिद्धान्तपद्धति में गोरखनाथजी ने अनाहत चक्र को अष्टदल कमल कहा है तथापि अपनी अन्यान्य रचनाओं में उन्होंने अनाहत चक्र को बारह पंखुड़ियों (दल) का कमल स्वीकार किया है और उनकी इस स्वीकृति की पुष्टि शिवसंहिता आदि में भी उपलब्ध होती है । बारह दलवाला कमल ही अनाहत महाचक्र है, यह पाप-पुण्य से रहित हैं, जीवात्मा तब तक संसार-बन्धन में भ्रमित रहता है, जब तक वह इस चक्र में ध्यानस्थ होकर परमतत्व परमात्मा का ज्ञान नहीं प्राप्त करता है, परमात्म साक्षात्कार नहीं कर लेता है ।

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति ।।
(गोरक्षशतक २४)

गोरखनाथजी का कथन है कि इस अनाहत-चक्र का ध्यान करने वाला साधक अमृतत्व में स्थित हो जाता है, अमर हो जाता है ।

अनाहते महाचक्रे द्वादशारे च पङ्कजे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ध्यातामरो भवेत् ।।
(विवेकमार्तण्ड १७१)

गोरक्षसंहिता में तो स्पष्ट कथन है कि अनाहत चक्र के ध्यान से साधक ब्रह्ममय हो जाता है । यह चक्र प्रचण्ड सूर्य के समान प्रकाशित कहा गया है ।

नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।।
(गोरक्षसंहिता २।६७)

हृदय-चक्र—अनाहत कमल के ध्यान से मन जड़ता का परित्याग कर ऊर्ध्वगामी होकर प्रबोध पाता है, जाग जाता है। महायोगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथजी ने गोरखनाथजी को उपदेश दिया है।

हिरदा चक्र में मन - प्रमोध ।।
(गोरख बा० मछींद्र-गोरखबोध ५४)

अनाहतचक्र आघातरहित होता है। सृष्टि की समस्त ध्वनियों की उत्पत्ति परस्पर दो वस्तुओं के आघात से होती है, भौतिक जगत् के परे दिव्य ध्वनि ही समस्त ध्वनियों का स्रोत है। यह अनहद (अनाहत) नाद है; ये ध्वनियाँ हृदय केन्द्र से उत्पन्न होती हैं। यह चक्र नीले रंग का कमल कहा गया है। इसके मध्य में षट् कोण की आकृति है। इसका बीज मन्त्र यं है। इसका वाहन द्रुतगामी काला हिरण है। यह वायुतत्व का प्रतीक है। इसके देवता पिनाक धारण करने वाले भगवान शिव हैं। इसकी अधिष्ठात्री देवी काकिनी हैं। अनेक सिद्धों और योगियों ने इस चक्र का रंग श्वेत भी बताया है। इस चक्र में ४८०० श्वास आने के समय (५ घंटे २० मिनट) तक ध्यान करना चाहिये। ध्यान से निर्लोभता, सत्यता, प्रेम, सावधानता, समदर्शिता, अहिंसकता, वात्सल्य, विवेकशीलता, जिज्ञासुता, दया, क्षमा और करुणा की शक्ति प्राप्त होती है। शिवसंहिता में इस चक्र को लाल रंग का कहा गया है। यह चक्र आनन्द का स्थान कहा गया है। इस अनाहत (चक्र) कमल में व्याप्त परम तेज को बाणलिंग कहा गया है। इस वर्णलिंग के स्मरण मात्र से साधक को दृष्ट-अदृष्ट फल की प्राप्ति होती है। वह दूरस्थ सूक्ष्म पदार्थों को देखने की शक्ति पाता है। वह आकाश में उड़ने में समर्थ हो जाता है। खेचरी-मुद्रा सिद्ध हो जाती है। आकाश में स्थित जीव साधक के वश में हो जाते हैं।

हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पङ्कजं भवेत्।
कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ।।
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम् ।
पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिङ्गं प्रकीर्तितम् ।

यस्यस्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत् ॥
सिद्धिः पिनाकीयत्रास्ते काकिनी यत्र देवता ।
(शिवसंहिता ५ । १०६-१११)

महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि इस ज्योतिपूर्ण कमल के मध्य में शक्ति स्वयं को असाधारण रूप से भव्य, सुन्दर और स्थिर लिंगाकार प्रकाश के रूप में प्रकट करती है । शिवरूपिणी—शिवालिंगन के आनन्द में मग्न कुण्डलिनी के इस रूप को हंसकला कहा जाता है, इस हंसकला को श्रीशक्ति भी कहा जाता है । योगी इसका ध्यान कर इन्द्रियजयी और शान्त हो जाता है । सिद्धियों की प्राप्ति के प्रलोभन नष्ट हो जाते हैं और योगी अपनी जैविक अथवा मानसिक शक्ति को इसमें केन्द्रित कर लेता है ।

पञ्चमं कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलं तत्र वाम इडा चन्द्रनाड़ी दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाड़ी तन्मध्ये सुषुम्णां ध्यायेत् सैवानाहत-कलाऽनाहतसिद्धिर्भवति ॥ ५ ॥

पाँचवां चार अंगुल विस्तारवाला कण्ठ (विशुद्ध) चक्र है । वहाँ बायीं ओर इडा–चन्द्रनाड़ी है और दाहिनी ओर पिंगला–सूर्यनाड़ी है । (ये दोनों नाड़ियाँ मूलकन्द से प्रकट होकर यहाँ आती हैं · निकलती हैं ।) इन दोनों नाड़ियों के मध्य में (श्वेत वर्ण की) सुषुम्ना नाड़ी—ब्रह्म नाड़ी का ध्यान करना चाहिये । यह ब्रह्मनाड़ी अनाहत कला कहलाती है, इसकी उपासना (ध्यान) से अनाहत सिद्धि—मानसिक संकल्पों की सिद्धि होती है, संकल्पशक्ति सफल होती है ॥ ५ ॥

विशेष—कण्ठस्थान में दीपक की ज्योति के समान प्रभावाले विशुद्ध चक्र में नासा के अग्र भाग पर दृष्टि स्थिर कर आत्मा का ध्यान करने से साधक के समस्त (आधिभौतिक, आधिदैहिक और आधिदैविक) ताप—दुःख नष्ट हो जाते हैं ।

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा दुःखं विमुञ्चति ॥
(विवेकमार्तण्ड १७२)

महायोगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथजी ने कण्ठचक्र को इष्ट के ध्यान का स्थान कहा है ।

'कांठै चक्रै धरिये ध्यान।
(मछीन्द्रगोरषबोध-५४)

यह कण्ठचक्र सुनहले रंग का है। यह बड़ा तेजस्वी और सोलहस्वरों (अक्षरों) से समलंकृत है। इस कमल में सोलह दल हैं और उन पर यथाक्रम—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः —स्वर अंकित हैं। इस चक्र की अधिष्ठात्री शाकिनी है और इष्ट देवता अर्धनारीश्वर शिव हैं।

कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पञ्चमम्।
सुहेमाभं स्वरोपेतं षोडशस्वरसंयुतम्।
(शिवसंहिता ५। ११६)

जो इस कंठचक्र का ध्यान करता है, वह योगीश्वर हो जाता है, चारों वेद का ज्ञानी हो जाता है, इस विशुद्ध चक्र में मन और प्राण का लय होने पर योगी यदि क्रोध करता है तो तीनों लोक भय से कांप उठते हैं। इसका ध्यान कर योगी लम्बी अवधि के लिये बाह्य ज्ञान से शून्य होकर समाधिस्थ हो जाता है। इस चक्र में ८६०० श्वास आने के समय (१० घंटे ४० मिनट) तक ध्यान करने से योगसाधन की शक्तियों की प्राप्ति होती है। इस कण्ठचक्र को विशुद्ध चक्र कहने का कारण यह है कि यह चक्र शुद्धिकरण का केन्द्र है। ऐसा भी कहा जाता है कि यह यमुना-जल के समान नीले रंग का कमल है। इस कमल के मध्य में श्वेत वृत्त है। इसका बीज मंत्र हं है। इसका वाहन सफेद रंग का हाथी है, अर्धनारीश्वर इस चक्र के इष्ट देव हैं। इस केन्द्र से योगी दिव्य रस—अमृत का पान करता है। इस अमृत की उत्पत्ति ललना चक्र से होती है, यह ग्रीवा के पीछे सन्निकट ही स्थित है। इस विशुद्ध चक्र में सुषुम्ना नाड़ी भव्य रूप में ज्योतित है। इस चक्र में सुषुम्ना के इस तेजोमय रूप को कुण्डलिनी शक्ति की अनाहत कला माना गया है। यह शिव के प्रगाढ़ालिंगन में आनन्दित रहती है। योगी की मानसिक-जैविक शक्ति अनाहत चक्र से होती हुई पूर्ण शुद्ध तथा केन्द्रित होकर विशुद्ध चक्र की ओर उठती है, शिव-शक्ति-मिलन का गहनतम आनन्द भोगने के लिये स्वयं को इस अनाहत कला से एकाकार कर लेती है। योगी को अनाहत सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उसे संसार की कोई शक्ति अपने वश में नहीं कर सकती। अनाहत सिद्धि का अर्थ यह भी हो सकता है कि वह सर्वव्यापक अनाहत नाद का अनुभव प्राप्त कर लेता है, जो

शिवशक्ति का नादरूप अथवा ध्वनिरूप है। इस स्तर पर योगी नादों की अनेकता को पार कर शाश्वत शिव-शक्ति के तादात्म्य का अनुभव करता है।

षष्ठं तालुचक्रं तत्रामृतधाराप्रवाहः घण्टिकालिङ्गमूल-रन्ध्रराजदन्तं शंखिनोविवर दशमद्वारं तत्र शून्यं ध्यायेत्, चित्तलयो भवति ॥ ६ ॥

छठाँ तालुचक्र है, वहाँ (सहस्रदलस्थित चन्द्रमण्डल से) अमृत प्रवाहित होता रहता है। (उस अमृत की बूँदें तालु की विशेष नाड़ियों में झरती रहती हैं।) मुख खोलने पर जो मांस खण्ड दीखता है, वही घण्टिका है, जो लिंग के समान है, उसके मूल से लेकर तालुपर्यन्त राजदन्त नाम का विल है, यही शंखिनी विवर कहा जाता है। (यहाँ शंखिनी नाड़ी का सम्बन्ध है।) यह दसवें द्वार का मार्ग है, यहाँ शून्य (निर्गुण-निराकार अलख-निरञ्जन परमेश्वर) का ध्यान करना चाहिये। यहाँ शून्य का ध्यान करने से चित्त लय को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

विशेष—महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि तालुचक्र तालुमूल में स्थित है। इस चक्र में सहस्रार से सतत अमृत की धारा प्रवाहित होती रहती है। योगी अपनी मानसिक जैविक शक्ति को इस चक्र में समुचित प्रणाली से एकाग्र कर इस अमृत का पान कर क्षुधा-पिपासा से मुक्त होकर शरीर दिव्य कर लेता है, भौतिक अमृतत्व प्राप्त कर लेता है, इस चक्र में शून्य पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये, जिससे चित्तलय की स्थिति की प्राप्ति हो सके । पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये और चेतना को परमात्ममय कर देने के लिये चित्तलय एक महान् सोपान है। तालुमूल में एक घंटिका लिंग है, जिसके मूल में एक लघु छिद्र है, एक पूर्ण रिक्त स्थान शंखिनी विवर है, यह दसवाँ द्वार है, यहीं शून्य पर धारणा करने से समाधि के फलस्वरूप चित्त विलीन हो जाता है, इसमें ध्यान करने से व्यावहारिक चेतना समाप्त हो जाती है और पारमार्थिक ज्योति आलोकित हो उठती है।

इसी चक्र से योगी को सहस्रार से द्रवित अमृतपान सुलभ होता है। गोरखनाथ ने इस चक्र के ऊपर भ्रूचक्र (आज्ञा चक्र) और निर्वाण-चक्र तथा

आकाश चक्र में शिव सायुज्य अथवा अलख निरंजन परम ज्योति स्वरूप स्वसंवेद्य परमेश्वर के साक्षात्कार का वर्णन किया है ।

स्रवत् पीयूषसम्पूर्णो लम्बिकाचन्द्रमण्डले ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा मृत्युं विमुञ्चति ॥
(विवेकमार्तण्ड १७३)

लम्बिका-स्थान में स्थित चन्द्रमण्डल से स्रवित पीयूष में आत्मा का ध्यान कर योगी नासा के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करता है और मृत्यु के भय से रहित हो जाता है ।

सप्तमं भ्रूचक्र मध्यममंगुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेद् वाचां सिद्धिर्भवति ॥ ७ ॥

सातवाँ भ्रूचक्र है । (यही आज्ञाचक्र कहा जाता है । यह दोनों भौंहों के मध्य में स्थित है, इसलिये मध्यम चक्र कहा गया है । (यह दो दलों वाला कमल है ।) इस भ्रूचक्र के मध्य में दीपशिखा के आकार वाला एक अंगुल का ज्ञाननेत्र (तृतीय नेत्र) है । इस ज्ञाननेत्र का ध्यान करने से योगी वाक्‌सिद्ध हो जाता है, वह जो कुछ कहता है, वह व्यर्थ नहीं होता ॥ ७ ॥

गोरक्षसंहिता में महायोगी गोरखनाथजी ने आज्ञाचक्र में माणिक्य की शिखा के समान आत्मा में नासाग्रदृष्टि से ध्यान करने का फल आनन्दमय होना बताया है । इस आज्ञाचक्र में नीलवर्ण के शिव का ध्यान कर योगी प्राण को वश में कर जीव-शिव का ऐक्य सम्पादित करता है । नासिका के अग्र भाग में निर्गुण, शान्त, विश्वतोमुख, आकाश के समान व्याप्त शिव का ध्यान कर ब्रह्ममय हो जाता है । आज्ञाचक्र की स्थिति भौहों के मध्य में है । भौंहों के मध्य के स्थान को आकाश कहा जाता है, इस चक्र के देवता शिव हैं; उनका ध्यान कर योगी मुक्ति प्राप्त करता है ।

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं सन्माणिक्यशिखोपमम् ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ।
ध्यायन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमाप्नुयात् ॥

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥
(गोरक्षसंहिता २।७०,७१, ७३)

आज्ञाचक्र के सम्बन्ध में शिवसंहिता में बड़े विस्तार से विचार किया गया है। आज्ञाचक्र कमल के दोनों दलों पर हं, क्षं वीजाक्षर अंकित हैं। ये दोनों दल श्वेत रंग के हैं। यहाँ के महाकाल सिद्ध हैं और हाकिनी देवी अधिष्ठात्री रूप में स्थित रहती हैं। इस आज्ञापद्म के मध्य में शरद् के चन्द्रमा की आभा के सदृश चन्द्रबीज ('ठ' बीज) स्थित रहता है, इसे जान लेने पर परमहंस पुरुष को किसी प्रकार का अवसाद नहीं रहता है।

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम् ।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥
शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरवीजं विजृम्भितम् ।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति ॥
(शिवसंहिता ५। १२२-१२३)

इस आज्ञा-चक्र में तुरीय तृतीय लिंग के रूप में मुक्तिदायक शिव विराजमान हैं। इस लिंग का ध्यान करने से योगी शिवस्वरूप हो जाता है। शरीर की इडा-पिंगला नाड़ियाँ वरणा और असी कही जाती हैं, इन्हीं वरणा-असी (वाराणसी) के मध्य में विश्वनाथ अभिव्यक्त हैं। इस वाराणसी को परमतत्व माना गया है। मेरु दण्ड के सहारे सुषुम्ना नाडी ब्रह्मरन्ध्र तक गयी है। इडा नाड़ी सुषुम्ना के परावृत होती हुई आज्ञाचक्र के दक्षिण भाग से होकर वायें नासापुट को जाती है, इसलिये गंगा कही गयी है। इडा नाड़ी के समान पिंगला नाड़ी आज्ञा-चक्र के वाम भाग से चलकर दाहिने नासापुट को जाती है, इसलिये इसको असी कहा गया है। महेश्वर इस आज्ञाचक्र के देवता हैं, इस चक्र के ऊपर तीन पीठ हैं, जिन्हें नाद, बिन्दु और शक्ति कहा जाता है। इस आज्ञापद्म का ध्यान करने वाले साधक के पहले जन्म में किये गये कर्म के फल नष्ट हो जाते हैं। इस आज्ञाचक्र में जिस साधक का मन क्षणमात्र के लिये भी स्थिर हो जाता है, उसके सभी पाप उसी क्षण में नष्ट हो जाते हैं। वासना का महाबन्धन समाप्त हो जाता है। जो योगी मृत्यु के समय इस आज्ञाचक्र का ध्यान करता है, वह परमात्मस्वरूप हो जाता है। इस कमल का ध्यान करने वाला साधक राजयोग का अधिकारी होता है।

राजयोगाधिकारास्यादेतच्चिन्तनतो ध्रुवम् ।
यागो बन्धाद् विनिर्मुक्तः स्वीयया प्रभयास्वयम् ।।
(शिवसंहिता ५ । १४८)

इस आज्ञाचक्र को तीसरा नेत्र, त्रिकुटी, त्रिवेणी, शिवनेत्र, गुरुचक्र आदि भी कहा जाता है। इस चक्र का रंग हल्का भूरा भी कहा गया है। दलों पर हं, क्षं अक्षर प्राणशक्ति के ऋणात्मक तथा धनात्मक प्रवाह के प्रतिनिधि हैं। पद्म के मध्य में ॐ बीज मन्त्र है। सामान्यतः ध्यान तो भ्रूमध्य में किया जाता है, पर चक्र का स्थान मस्तिष्क में है। शरीर के वाम भाग से इड़ा, दक्षिण भाग से पिंगला तथा मेरुदण्ड के माध्यम से ऊर्ध्व भाग से सुषुम्ना आकर मिलती है, इसी से इसका नाम त्रिवेणी भी है। इस स्थान पर ३००० श्वास के आने के समय (३ घंटे २० मिनट) तक ध्यान केन्द्रित करने पर वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं। मन की चंचलता मिट जाती है। नेत्रों के प्रकाश में बाहर-भीतर के अंग प्रकाशित हो उठते हैं। अन्तः प्रदेश की रचना का ज्ञान सुलभ होता है। आत्मसाक्षात्कार होता है।

ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः ।
तस्मिन्स्नानेस्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये वहत्येषा सरस्वती ।
तासान्तु सङ्गमे स्नात्वा धन्यो याति परां गतिम् ।।
(शिवसंहिता ५ १६३-१६४)

इस त्रिवेणी में ध्यान करनेवाला (स्नान करने वाला) साधक परमगति को प्राप्त करता है। महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि इस आज्ञाचक्र में सुषुम्ना अंगुष्ठमात्र दीपशिखाकार हो जाती है। योगसाधक का इस चक्र में ध्यान करने से सम्पूर्ण अस्तित्व सत्य की अभिव्यक्ति करता है और वह सहज गति से सत्य भाषण ही किया करता है, वाक्सिद्ध हो जाता है।

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रं सूचिकाग्रभेद्यं धूमशिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवति । ८ ।।

आठवाँ निर्वाणचक्र है। (इसमें ध्यान करने से ब्रह्म अभिव्यक्त होता है, जिसका फल है मोक्ष) इसका नाम ब्रह्मरन्ध्र भी है। यह सूई के अग्रभाग के

सदृश धूम की शिखा के आकार वाला है, इसका योगी को ध्यान करना चाहिये। यहीं मुक्ति की प्राप्ति कराने वाला जालन्धर पीठ है। (धूम सदृश तेज का इस चक्र में ध्यान करने से समस्त प्रपञ्चजाल का नाश करने वाला—उन्मूलन करने वाला परमात्मा—जालन्धर अभिव्यक्त होता है। सहस्रार के मूल में सूई की नोंक के समान एक धूमशिखाकार छिद्र है, यहीं ब्रह्मरन्ध्र—निर्वाणचक्र है।) इस चक्र में जालन्धर पीठ मोक्षप्रद होता है ॥ ८ ॥

विशेष ब्रह्मरन्ध्र चक्र—निर्वाण चक्र सहस्रार के मूल में स्थित है, इसका ध्यान कर साधक नासा के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर कर अपने आत्मस्वरूप — शिव स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जा जाता है।

ब्रह्मरन्ध्र महाचक्रे सहस्रारे च पङ्कजे।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा सिद्धो भवत्स्वयम्॥
(विवेकमार्तण्ड १७५)

सिद्ध होने का आशय है परमात्मस्वरूप की प्राप्ति। यदि योगी ब्रह्मरन्ध्र (निर्वाण चक्र) में मन लगाकर आधे क्षण तक भी स्थिर रहता है, तो वह समस्त पापों से मुक्त होकर परम गति को प्राप्त हो जायेगा। इस ब्रह्मरन्ध्र में लीन मन वाला योगी अणिमादि सिद्धियों से प्राप्त सुख-सुविधा का उपभोग करता हुआ शिवस्वरूप हो जाता है। वह परमेश्वर शिव को प्रिय हो जाता है और अनेक मुमुक्षुओं को उपदेश देकर संसार-सागर से पार उतार देता है।

ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्त्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम्॥
अस्मिन् लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः॥
एतद्रन्ध्रध्यानमात्रेण मर्त्यः
संसारेऽस्मिन् वल्लभो मे भवेत्सः।
पापान् जित्वा मुक्तिमार्गाधिकारी
ज्ञानं दत्वा तारयत्यद्भुतं वै॥
(शिवसंहिता ५। १७३-७५)

निर्वाणचक्र व्यष्टि चेतना द्वारा अनन्त शाश्वत ब्रह्म की सिद्धि का श्रेष्ठतम केन्द्र है। व्यष्टि चेतना इस स्तर पर सच्चिदानन्दस्वरूप में तल्लीन हो जाती है।

इस चक्र में कुण्डलिनी महाशक्ति परमात्मा शिव से तादात्म्य प्राप्त कर ज्योतित रहती है। इसके ध्यान से प्रकाश-अन्धकार, असीम-ससीम, गति-विराम आदि द्वन्द्वात्मक प्रपञ्च समाप्त हो जाते हैं। यह चक्र प्रापंचिक ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के भव्य जाल के चरम नियन्ता (जालन्धर) परमात्मा, जिससे यह ब्रह्माण्डजाल उत्पन्न होता है, जिसके द्वारा यह धारण किया जाता है तथा शासित और व्यवस्थित होता है, जिसकी यह लीला है, जो इन सबका अन्तर्यामी प्रकाशक है—की आत्माभिव्यक्ति का स्थान है। व्यक्ति तबतक जालबद्ध रहता है, जबतक वह स्वयं और जगत् में जालन्धर (परम जाल-नियन्ता) को पहचान नहीं लेता है। जब वह जालन्धर (परमात्मा) से पूर्ण तादात्म्य अनुभव करने लगता है, तब समस्त बन्धनों और दुःखों से मुक्त होकर इस संसार में स्वच्छन्दता—स्वाधीनता का अनुभव करता है, जीवन्मुक्त हो जाता है। इस चक्र में जालन्धर पीठ की यही मोक्षप्रदता है।

नवममाकाशचक्रं षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारां तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धिर्भवति । इति नवचक्रस्य विचारः ॥ ९ ॥

नौवाँ आकाश चक्र है। (सहस्रार के ऊपरी भाग में) एक ऊर्ध्वमुख सोलहदलों का कमल है। उसकी कर्णिका में त्रिकूटाकार (त्रिकोण आकार वाली) ऊर्ध्वमुखी शक्ति है। वह सच्चिदानन्दस्वरूपा निराकार शक्ति है। यह परमशून्य है। इस शक्ति का ध्यान करना चाहिये। यहीं पूर्णगिरिपीठ है, यह समस्त पदार्थों से परिपूर्ण है, समस्त संकल्पों की सिद्धि होती है। इस पूर्णगिरिपीठ वाले आकाशचक्र का ध्यान करने से संसार-जन्य भय की निवृत्ति हो जाती है और समस्त प्राणी-पदार्थ योगसाधक के वशीभूत हो जाते हैं। यही नवचक्रों का विचार (निरूपण)—क्रम है ॥ ९ ॥

विशेष—यह आकाश चक्र सहस्रार के ऊपरी भाग में स्थित है और इसके मूल भाग में उपर्युक्त निर्वाण चक्र है, इसलिये सहस्रार के सम्बन्ध में भी विचार करना आवश्यक है। सहस्रार योगसाधना की सिद्धि की दिशा में उच्चतम चेतना का केन्द्र है, सहस्रदल वाले ज्योतिर्मय कमल के रूप में इसका दर्शन होता है। इन दलों पर समस्त वर्ण अङ्कित हैं, इसके केन्द्र में उज्ज्वल शिवलिंग है,

यह पवित्रतम चैतन्य का प्रतीक है, यहाँ शिव-शक्ति का ऐक्य होता है। प्रबुद्ध कुण्डलिनी इस सहस्रार में परम शिव से अभिन्न हो जाती है। शिवसंहिता में भगवान् शिव का कथन है कि सहस्रार में योनिमण्डल है, इसी के नीचे चन्द्रमा का स्थिति है। योगी इस चन्द्रमण्डल का ध्यान कर संसार में पूज्य हो जाता है। वह देवता और सिद्धों के समान ऐश्वर्य शाली हो जाता है। यह सहस्रार पद्म दिव्य रूप वाला है, यह ब्रह्माण्डरूपी देह के बाहर विद्यमान रहता है और मोक्ष देता है।

अत ऊर्ध्वं दिव्यरूप सहस्रारं सरोरुहम्।
(शिवसंहिता ५.१८६)

यद्यपि गोरखनाथजी ने आकाश चक्र को ही कैलास कहा है तथापि सहस्रार ही कैलासरूप में प्रसिद्ध है। इस सहस्रदल पद्म का ज्ञान प्राप्त होने पर चित्तवृत्ति लय को प्राप्त हो जाती है इसके फलस्वरूप अखण्डज्ञानस्वरूप निरंजन का साक्षात्कार होता है।

यज्ज्ञात्वा प्राप्तविषय चित्तवृत्तिर्विलीयते।
तस्मिन् परिश्रमं योगी करोति निरपेक्षक:।
चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन् योगी भवेद्ध्रुवम्।
तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जन:॥
(शिवसंहिता ५ १९४-९५)

यह सहस्रार पद्म शिखरलोक, अमरलोक, भँवरगुफा आदि नामों से भी प्रसिद्ध है। नाभिकमल से उठे श्वास का यह विश्राम-स्थान है। महाकुण्डलिनी आधार पद्म से जागरित होती हुई इसी सहस्रार में प्रवेश कर शिवरूपिणी हो जाती है। यह शरीररूपी वृक्ष का मूल है, यह अमृत का ऊर्ध्वमुख कूप है, इसे औंधा कूप भी कहा जाता है। इस स्थान पर वृत्ति–सुरति का स्थिर हो जाना ही निर्विकल्प या सहज समाधि है।

गगन मंडल में ऊँधा कूबा तहां अमृत का बासा।
(गोरखबानी सबदी २३)

आकाश चक्र ही महायोगी गोरखनाथ की योगदृष्टि में नौवाँ चक्र है। भगवान् शिव का कथन है कि सहस्रार ही कैलास है और परमेश्वर, क्षयवृद्धिविवर्जित अकुल, अविनाशी शिव का ही यहाँ निवास है।

कैलासो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।
अकुलाख्योऽविनाशी च क्षयवृद्धिविवर्जितः॥
(शिवसंहिता ५। १८७)

यह आकाशचक्र सहस्रार के सुमेरु पर स्थित है। इस आकाशचक्र (कमल) को सोलह दलों से युक्त कहा गया है, इसका मुख ऊपर की ओर है। इस कमल के केन्द्र में त्रिकूटाकार सच्चिदानन्दमयी महाशक्ति परमात्मा शिव से परमोच्च आत्माभिव्यक्ति प्रकट करती है। इसे आत्मानुभव का चरम स्थान पूर्णगिरि पीठ भी कहा गया है। यहाँ प्रापंचिक चेतना पूर्णतया रूपान्तरित होकर स्वयं को सर्वसमाहारी, सर्वसमायोजक, सर्वातिक्रामक चरम चेतना के रूप में अनुभव करने लगती है। मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी शक्ति को अपने सर्वाधिक प्रियतम शिव से पुनर्मिलन की पवित्र यात्रा इस चक्र में पहुँच कर अपना ध्येय प्राप्त कर लेती है। योगी आत्मपूर्णता प्राप्त कर लेता है।

गोरक्षशतक में गोरखनाथजी ने षट् चक्र ही निरूपित किये हैं।

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षट्दलम्।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि॥
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे॥
(गोरक्षशतक १५, १६)

भ्रूमध्य में स्थित आज्ञा चक्र के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र के महापथ में सहस्रार कमल स्थित है।

मत्स्येन्द्र नाथ ने भी छः चक्र बताये हैं और कंठचक्र के ऊपर छठां चक्र ज्ञानचक्र कहा है। इस चक्र में योगी विश्राम करता है।

ग्यांनें चक्रै लीजै विश्राम।
(मछीन्द्रगोरषबोध ५४)

'गोरखबानी' में अष्टचक्र ही महायोगी गोरखनाथ द्वारा वर्णित हैं। अष्टचक्र नामक लघु रचना में चक्रसाधना का स्वारस्य निरूपित है। यह पूरी रचना इस तरह है—

ॐ गोरष देव अष्ट चक्र बोलिये घट भीतर । ये कौंण-कौंण बोलिये । अवधू प्रथमें आधार चक्र बोलिये । गुदा अस्थांने, चत्र दल कंवल, षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि द्रिष्ट चक्र, लिंग अस्थांने, षट् दल कंवल षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि मणिपुर चक्र, नाभि अस्थांने, दस दल कंवल, षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि अनहद चक्र, हिरदा सथांने, द्वादश कंवल, षट सै सांस । तिस चक्र ऊपरि बिसुध चक्र, कंठसथांने, षोडश कंवल, एक सहंसर सांस । अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यान । तिस चक्र ऊपरि अगनि चक्र, नेत्र सथांने षोडश दल कंवल एक सहंस्र सांस, अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यान । तिस चक्र ऊपरि गिनांन चक्र, ब्रह्मंड सथांने, एक सहंस्र दल कंवल एक सहंस्र सांस । अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यान । तिस चक्र ऊपरि सुछिम चक्र, बिग्यांन सथांने एक बीस सहंस्र दल कंवल । ए अष्ट कमल का जांणौ भेव । आपै करता आपै देव । (गोरखवानी अष्टचक्र)

स्पष्ट है कि महायोगी गोरखनाथ ने चक्र-साधना का परमफल स्वरूपाव-स्थानपूर्वक परम शून्य में परमात्मा शिव का साक्षात्कार बताया है । चक्र साधना की अन्तर्ज्योति से सम्पूर्ण अखण्ड, अनन्त, निरञ्जन सच्चिदानन्द में आत्मा प्रतिष्ठित होकर परमात्मस्वरूप हो जाता है ।

सोलह आधार

अथ षोडशाधारः कथ्यते तत्र प्रथमं पदाङ्गुष्ठाधारं तत्राग्रतस्तेजोमयं ध्यायेत् । दृष्टिः स्थिरा भवति ।। १० ।।

अब यथाक्रम सोलह आधारों का निरूपण किया जाता है । पहला पादांगुष्ठाधार है । उसके अग्रभाग में तेजोमय स्वरूप का ध्यान करना चाहिये, इस ध्यान से दृष्टि स्थिर होती है ।। १० ।।

विशेष—हमारे शरीर के भीतर अनेक तेजोमय स्थान अथवा केन्द्र हैं, जिन का ध्यान करने से योगसाधक को अपने प्राण, मन और बिन्दु के लय में बड़ी सुविधा होती है । महायोगी गोरखनाथजी ने ऐसे प्रधान केन्द्रों को चक्र कहा है और उपर्युक्त तेजोमय स्थानों को आधार कहा है, जो सोलह हैं । आधार

का शाब्दिक अर्थ है धारण करने वाला। आधार के माध्यम से जैविक तथा मानसिक कार्यों के मुख्य स्थानों का संकेत मिलता है, जिन्हें स्वेच्छा से वश में कर योगी आन्तरिक साधना में आगे बढ़ता है। प्रत्येक पद के अंगूठे में जैविक कार्य का केन्द्र है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने से नेत्र और पैर के अंगूठे तक प्रवाहित तेज पर दृष्टि एकाग्र होती है। पैर के अंगूठे के तन्तुओं में और नेत्र के स्नायुओं में तेजोमय सम्बन्ध है।

द्वितीयं मूलाधारसूत्रं वामपार्ष्णिना निःपीडयितव्यम्। तत्राग्निदीपनं भवति ।। ११ ।।

दूसरा मूलाधार है। इसके सीवन को बायें पैर की एड़ी से दबा कर बैठना चाहिये। इससे शरीर में तेज की वृद्धि होती है। शरीर में स्थित अग्नि प्रदीप्त होती है।। ११ ।।

विशेष—यह कुण्डलिनी शक्ति प्रथम आधार और सुषुम्ना नाड़ी का उद्‌गम स्थान है। इसी स्थान पर सबसे पहले मानसिक और जैविक शक्ति को एकाग्र कर सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ाने—ऊर्ध्वमुखी करने का अभ्यास किया जाता है। अपने बायें पैर की एड़ी से मूलाधार के सीवन को दबा कर बैठने से अग्निदीपन होता है और शक्ति नीचे की ओर प्रवाहित न होकर ऊर्ध्वमुखी हो उठती है। शक्ति का जागरण आरम्भ हो जाता है और वह आध्यात्मिक अथवा आत्ममुखी हो जाती है, उसमें परमेश्वर शिव से मिलने की अभिलाषा तीव्र हो उठती है।

तृतीयं गुदाधारं विकाससंकोचनेन निराकुञ्चयेत्। अपान-वायुः स्थिरो भवति ।। १२ ।।

तीसरा गुदाधार है। इस स्थान पर गुदा का संकोच-विकास—आकुञ्चन और संकोचन करना चाहिये। इस क्रिया से अपानवायु स्थिर हो जाती है ।। १२ ।।

विशेष—गुदाधार की स्थिति गुदास्थान में बतायी जाती है। इस आधार के द्वारा अपान वायु शरीर के मल और दोषपूर्ण गन्दगी को शरीर से बाहर निकाल कर उदर को निर्मल करती है और प्राणवायु से ऐक्य स्थापित कर जैविक और मानसिक शक्ति को विकसित करती है। इस कार्य की पूर्णता के लिये साधक को गुदा का आकुञ्चन और संकोच करना—उसे सिकोड़ना और फैलाना

आवश्यक होता है। इससे अनेक उदरसम्बन्धी रोग दूर होते हैं तथा सहज रूप से मूलबन्ध और उड्डियान बन्ध के अभ्यास का फल प्राप्त होता है, कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वमुखी होती है और प्राणायाम की साधना संयत होती है।

चतुर्थं मेढ्राधारं लिङ्गसंकोचनेन ब्रह्मग्रन्थित्रयं भित्त्वा भ्रमरगुहायां विश्रम्य तत ऊर्ध्वमुखे विन्दुस्तम्भनं भवति। एषा वज्रोली प्रसिद्धा ॥ १३ ॥

चौथा मेढ् (लिंग)—आधार है। यहाँ लिंग का संकोचन कर (योनि मुद्रा की सहायता से) वीर्य को ऊर्ध्वगामी करते हुए योगी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र—तीन ग्रन्थियों का भेदन कर (मेरुदण्ड के सामने ग्रीवा के ऊपरी भाग में विद्यमान) भ्रमर गुफा में वीर्य का स्तम्भन कर विश्राम करता है। (वीर्य अधः पतित नहीं होने पाता है।) यही वज्रोली क्रिया है। (इसके प्रभाव से योगी अखण्ड ब्रह्मचर्य में स्थित होकर प्राण, मन और वीर्य—विन्दु का पारस्परिक लय कर परम पद में स्वस्थ हो जाता है।) यह वज्रोली क्रिया विशेष रूप से प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

विशेष—योनि-मुद्रा के अभ्यास से सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग कर ऊपर उठती है और वीर्य ऊर्ध्वगामी होता है। इस योनि मुद्रा का विवरण महर्षि घेरण्ड ने अपनी घेरण्डसंहिता में दिया है। सिद्धासन में स्थित होकर दोनों हाथ के अंगूठों से कानों को, दोनों तर्जनी से नेत्रों को, मध्यमा से मुख को तथा अनामिका अंगुली से नाक के छिद्र बन्द करना चाहिये। प्राण को काकीमुद्रा (कौए की चोंच के समान मुख को जिह्वा बाहर कर आकारित करना चाहिये और धीरे-धीरे वायु का पान करना चाहिये।) से खींचकर अपान वायु से मिलाना चाहिये। देहस्थ षट्चक्रों का ध्यान कर 'हूं' या 'हंस'—इन दोनों मन्त्रों से सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर सहस्रार में स्थापित करना चाहिये। ऐसी भावना करनी चाहियेकि मैं शिव के साथ शक्तिमय होकर परम सुख का आस्वादन कर रहा हूँ। यही योनिमुद्रा है।

> सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नासोमुखम्।
> अंगुष्ठतर्जनीमध्यानामाभिश्चैव साधयेत् ॥
> काकोभिः प्राणं संकृष्य अपाने योजयेत् ततः।

षट्चक्राणि क्रमाद् ध्यात्वा हूं हंसमनुना सुधीः ॥
चैतन्यमानयेद् देवीं निद्रितां यां भुजङ्गिनीम् ।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य कराम्बुजे ॥
शक्तिमयः स्वयं भूत्वा परशिवेन सङ्गमम् ।
नानासुखं विहारं च चिन्तयेत् परमं सुखम् ॥
(घेरण्डसंहिता ३।३७–४०)

गुदा से उपस्थ—मेढ्रपर्यन्त योनिदेश कहा जाता है। इसी का संकोचन कर योनि-मुद्रा की क्रिया की जाती है। इस योनिमुद्रा तथा लिङ्ग के संकोच से साधक तीन ग्रन्थियों—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि का भेदन कर सहस्रार में बिन्दु को ऊर्ध्वमुख कर शिव-शक्ति के तादात्म्य के आनन्द का उपभोग करता है। तीनों ग्रन्थियों का भेदन कुण्डलिनी-जागरण की प्रक्रिया का एक अंग है।

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति ॥
प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डलींयाति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ॥
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता ।
प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्नावदनान्तरे ॥
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्वा रजोगुणसमुद्भवम् ।
सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेवसंस्फुरेत् ॥
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरंहृदि संस्थिता ।
उर्ध्वंगच्छति यच्चास्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम् ॥
(योगकुण्डल्युपनिषत् १।६३–६८)

अपानवायु का लिङ्गसंकोचन द्वारा सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करना ही ब्रह्मग्रन्थि का भेदन है, अपानका उठकर हृदयस्थ प्राण के आकर्षण से ऊर्ध्वमुख होना विष्णुग्रन्थि का भेदन है और इस प्राणमयी महाशक्ति कुण्डलिनी के रूप में आज्ञाचक्र का भेदन कर सहस्रार में पहुँचना ही रुद्रग्रन्थिका भेदन है। आज्ञाचक्र में ही रुद्रग्रन्थि की स्थिति बतायी गयी है।

बिन्दु को वज्रोली मुद्रा के अभ्यास द्वारा सहस्रार में भ्रमरगुफा में पहुँचाने में मेढ्राधार की महती भूमिका है। वज्रोली मुद्रा की सिद्धि के सम्बन्ध में

हठयोगप्रदीपिका में निरूपण है कि बिन्दु को क्षरित होने से रोकने के लिए उसे लिङ्ग के संकोच द्वारा ऊर्ध्वमुख करना चाहिये।

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ।।
(हठयोगप्रदीपिका ३।८५)

वज्रोली के अभ्यास से योगी मृत्यु को जीत लेता है। वीर्य का स्खलन अथवा क्षरण ही मृत्यु है और उसे शरीर में धारण करना ही जीवन है। योगाभ्यास में निपुण योगी को उपस्थ—लिंग इन्द्रिय के छिद्र से (वज्रोली की विधि से) वीर्य का ऊपर की ओर आकर्षण करना चाहिये अथवा योनिमुद्रा के द्वारा अभ्यास करना चाहिये। वीर्य प्राण से संयुक्त है, इसलिये जैविक शक्ति, मानसिक और बौद्धिक विकास तथा शारीरिक कान्ति की वृद्धि के लिये वज्रोली के द्वारा वीर्य के ऊर्ध्वाकर्षण का अभ्यास सिद्ध होने पर योगी संकल्पसिद्ध हो जाता है। मेढ्राधार में स्वाधिष्ठान चक्र अवस्थित है। स्व का अर्थ ही प्राण होता है। भोगवासना की तृप्ति द्वारा वीर्य को स्खलित होने से बचाने के लिये वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करना अत्यावश्यक है। इससे प्राण-शक्ति ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि का भेदन कर शरीर को सौन्दर्य, बल और तेज प्रदान करती है।

पञ्चममोड्याणाधारयोर्बन्धनान्मलमूत्रसकोचनं भवति ।। १४ ।।

पाँचवां उड्डियाण आधार है। (यह लिङ्ग मूल तथा नाभिमूल के मध्य में स्थित है।) इस आधार के बन्ध—नियन्त्रण से मलमूत्र का संकोचन (अल्पता) होता है ।। १४ ।।

विशेष—उड्डियाण आधार का नियन्त्रण करने से योगी अपनी अँतड़ियों और मूत्रेन्द्रिय पर नियन्त्रण कर सकता है, इनके कष्टों का उपचार कर सकता है। प्राण-शक्ति इस आधार की क्रिया और नियंत्रण से ऊपर की ओर तेजी से उठती है, मानो उड़ती है। इसके अभ्यास से नाभि-शुद्धि होती है, वायु की शुद्धि होती है, जठरानल बढ़ता है, शरीर को पोषण मिलता है, रस का संचार होता है। वृद्ध भी उड्डियान के बन्धाधार से तरुण हो जाता है। इस आधार पर ही उड्डियान बन्ध की क्रिया पूरी होती है। नाभि के ऊपर–नीचे के भाग

में आकर्षण—तान करना चाहिये। छः मास में ही मृत्यु पर साधक विजय प्राप्त कर लेता है।

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः।
(हठयोगप्रदीपिका ३। ५५)

जिस बन्ध से बद्ध प्राण उड़कर (सहज ऊर्ध्वमुख होकर) सुषुम्ना नाड़ी में पहुँच जाता है, वही योगियों द्वारा उड्डियान बन्ध कहा जाता है।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥
(हठयोगप्रदीपिका ३। ५७)

नाभि में ऊपर और नीचे उदर में पीछे की ओर इसतरह आकर्षण करे कि दोनों भाग पीछे पीठ तक पहुँच जायं, यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिये साक्षात् सिंह के समान है।

षष्ठे नाभ्याधार ओङ्कारमेकचित्तेनोच्चारिते नादलयो भवति ॥ १५ ॥

छठाँ नाभि-आधार है। इसमें एकाग्रचित्त से ऊँकार के उच्चारण से नादलय होता है ॥ १५ ॥

विशेष—नाभि के मूल में एकाग्र मन से प्रणव का ध्यान करने से नादलय उत्पन्न होता है। मूलाधार में स्थित बिंदुरूपा पराशक्ति से उद्भूत शब्द ही नाद है। यह वीजांकुर के समान सूक्ष्म है। नाभि-आधार मणिपुर चक्र का स्थान है। जैविक कार्य का यह एक प्रमुख केन्द्र है। यहाँ सूक्ष्म नाद की अभिव्यक्ति ही शब्द ब्रह्म है। यह नाद ही अपरिवर्तनीय (शाश्वत) पारमार्थिक परम चैतन्य है। यही शब्द ब्रह्म है, जो मूलाधार में सूक्ष्म नादरूप में अभिव्यक्त होता है, यह शक्ति से अभिन्न होता है, यह विन्दु या बीज से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। मूलाधार में नादशक्ति से तदाकार रहता है। स्वाधिष्ठान में यह बिन्दु या बीज से तद्रूप होता है और मणिपूर चक्र या नाभि-आधार में सूक्ष्म-क्रमिक

नाद के रूप में प्रकट होता है। योगी इसे योगदृष्टि से देख सकता है। यह प्रणव, ऊँ की शाश्वत और मधुर एकरस ध्वनि है।

> अक्षरः परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।
> मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा विन्दुरूपिणी
> तस्यां उत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवाङ्कुरः।
> तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः।
> (योगशिखोपनिषद् ३।२-३)

महायोगी गोरखनाथजी ने नाभि आधार में शुद्ध नाद पर ध्यान केन्द्रित करने पर विशेष वल दिया है। इसका अभ्यास कान के छिद्र अंगुलियों से वन्द कर ऊँ के उच्चारण द्वारा किया जा सकता है।

सप्तमे हृदयाधारे प्राणं निरोधयेत् कमलविकासो भवति ॥ १६ ॥

सातवाँ हृदयाधार है। इसमें प्राणवायु के निरोध (संयमन) से अष्टदल कमल (अनाहत चक्र) का विकास होता है ॥ १६ ॥

विशेष—प्राणवायु का स्थान हृदय है। हृदय-आधार में प्राणशक्ति को संयमित करने से अनाहत चक्र, जो अधोमुख अष्टदल कमल है, ऊर्ध्वमुख होकर खिल जाता है। अधोमुख कमल का तात्पर्य है जीवात्मा साधक की संसार के विषय-सुख की कामनापूर्ति की आसक्ति और इस अष्टदल कमल के ऊर्ध्वमुख खिलने का तात्पर्य है जीवात्मा साधक की परमात्ममुखी आध्यात्मिक उन्नति। (महायोगी गोरखनाथजी ने 'गोरक्षशतक' आदि रचनाओं में इस अनाहत चक्र को द्वादशदल कमल कहा है।) हृदयाधार में प्राणशक्ति कुण्डलिनी विष्णुग्रन्थि का भेदन कर ऊपर उठ जाती है। हृदय-आधार जैविक कार्य का महत्वपूर्ण स्थान है, यह प्राण-अपान वायुओं के ऐक्य का स्थान है। समस्त ध्वनियों से ध्यान को हटाकर यदि इस हृदय-आधार पर केन्द्रित किया जाय तो अनाहत नाद का स्पष्ट श्रवण होता है। कुम्भक प्राणायाम की विधि से इस आधार में प्राण को केन्द्रित करने से योगी की लोकोत्तरानन्दप्राप्ति की यात्रा विशेष गतिमयी हो जाती है।

अष्टमे कण्ठाधारे कण्ठमूलं चिबुकेन निरोधयेदिडापिङ्गलयोर्वायुः स्थिरो भवति ॥ १७ ॥

आठवाँ कण्ठाधार है। कण्ठमूल को चिवुक (ठोडी) से निरुद्ध कर (जालन्धरवन्ध के अभ्यास द्वारा) इडा और पिंगला—चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी में वायु को स्थिर किया जाता है। (यही कुम्भक प्राणायाम की सिद्धि है।) इस अभ्यास से वायु स्थिर होती है ॥ १७ ॥

विशेष—चिवुक से कण्ठमूल का निरोध होने पर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत नाभिस्थानीय अग्नि (सूर्य के मुख) में गिरकर नष्ट नहीं होता और योगसाधक उस अमृत का स्वयं पान कर शरीर को जीर्ण-शीर्ण होने से बचा लेता है। इस तरह कण्ठमूल के निरोधपूर्वक चिवुक के वक्षःस्थल पर लग जाने से जालन्धर बन्ध सिद्ध होता है। मूल वन्ध, उड्डियान वन्ध और जालन्धर बन्ध के अभ्यास हठयोग की साधना में अथवा प्राणायाम की सिद्धि में अमित उपयोगी हैं।

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिवुकं दृढम्।
वन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥
वध्नाति ही शिरोजालमधोगामिनभोजलम् ।
ततो जालन्धरो वन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥
जालन्धरे कृते वन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥
कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यो स्तम्भयेद् दृढम् ॥
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥
(हठयोगप्रदीपिका ३।७०–७३)

कंठ (गले के विवर) को संकुचित कर (सिकोड़ कर) साधक को हृदय-देश में (वक्ष के समीप चार अंगुल की दूरी पर) ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक स्थापित (स्थित) करना चाहिये। यह जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु (के भय) को नष्ट कर देनेवाला जालन्धर नामक बन्ध है। यह नाड़ियों के समूह और नीचे की ओर गिरनेवाले कपालकुहर के जल—अमृत को बाँधता (रोकता) है, इसलिये यह जालन्धरवन्ध गले के रोगों—विकारों को नष्ट करता है। जालन्धर बन्ध के अभ्यास से और गले को सिकोड़ने से न तो (कपाल-कुहर का) अमृत अग्नि (जठरानल) में गिरता है और न वायु ही दूषित होती है। कंठ का

संकोच करने से इड़ा और पिंगला नाड़ियों का स्तम्भन हो जाता है, प्राण सुषुम्ना से प्रवाहित होते हुए ऊर्ध्वमुख होता है। यह कण्ठाधार सोलहों आधारों के बन्धनकर्ता मध्यचक्र--अथवा विशुद्धचक्र का स्थान है।

जालन्धर बन्ध के अभ्यास द्वारा साधक इड़ा-पिंगला में प्राणवायु के संचालन पर नियन्त्रण कर मानसिक-जैविक शक्ति को सुषुम्ना-मार्ग से ऊर्ध्वमुखीकर सकता है।

नवमे घण्टिकाधारे जिह्वाग्रं धारयेदमृतकला स्रवति ॥ १८ ॥

नौवाँ घण्टिका आधार है। (मुख के भीतर तालु में लटकनेवाले काग का नाम घण्टिका है।) घण्टिका-आधार के मूल भाग में जिह्वा के अग्रभाग को लगाना चाहिये। वहाँ (सहस्रार कमल में स्थित चन्द्रमण्डल से) अमृत का स्राव होता है--(उस अमृत का पान करने से शरीर नीरोग और पुष्ट होता है) ॥ १८ ॥

ब्रह्मरन्ध्रे हि यत् पद्मं सहस्रारं व्यवस्थितम् ।
तत्र कन्दे हि या योनिस्तस्यां चन्द्रो व्यवस्थितः ॥
त्रिकोणाकारतस्तस्याः सुधा क्षरति सन्ततम् ।
इडायाममृतं तत्र समं स्रवति चन्द्रमा ॥
(शिवसंहिता ५ । १२९–१३०)

ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल कमल है, इसके कन्द की योनि में चन्द्रमा है। इस त्रिकोणाकार योनि से चन्द्रमा से सुधा का स्राव होता रहता है, जो सदा अमृत धारा के रूप में इडा नाड़ी से प्रवाहित होता हैं। जिह्वा के मूल में एक सूक्ष्म मार्ग है, उसी से यह अमृतकला टपकती है। यह इडा-पिंगला के द्वारा शरीर में निम्न स्तर पर उतर कर नष्ट हो जाती है। जिह्वा को मोड़कर इस अमृत का संस्पर्श कराना ही अमृतपान है, इससे घण्टिका आधार में जिह्वा के अग्र भाग से साधक निरन्तर प्रवाहित अमृत का पान करता रहता है।

दशमे ताल्वाधारे ताल्वन्तर्गर्भे लम्बिका चालनदोहनाभ्यां दीर्घीकृत्वा विपरीतेन प्रवेशयेत् काष्ठी भवति ॥ १९ ॥

दसवाँ तालु आधार है। यह घण्टिका (घाँटी) से ऊपर है। तालु के भीतर छिद्र-मार्ग से जीभ को चालन-दोहन-क्रिया से लम्बी कर उस छिद्र में उलट कर प्रविष्ट करना चाहिये। (इससे खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है।) साधक काठ के समान निश्चल हो जाता है। (इससे अमृतपान और खेचरी मुद्रा का अभ्यास, दोनों सिद्ध होते हैं।) योगसाधक का काठ के समान निश्चल हो जाना ही जड़समाधि है ॥ १६ ॥

विशेष—तालु आधार को तालुचक्र, दसवाँ द्वार, शंखिनी-विवर अथवा अमृतस्राव-केन्द्र कहा जाता है। यह तालु आधार जीभ के अधिक गहरे क्षेत्र में स्थित है। यह आन्तरिक रूप से आज्ञाचक्र और सहस्रार से जुड़ा है। खेचरी मुद्रा के अभ्यास की सिद्धि के लिये जीभ को विधिपूर्वक कोमल बना कर बाहर खींचते हुए लम्बा करना चाहिये, इसके बाद जीभ के अग्रभाग को जिह्वा के मूल के कोमल छिद्र में प्रवेश कराया जाता है। साधक इस क्रिया के द्वारा समस्त बाह्य चञ्चलता से रहित होकर काठ के समान जड़—निश्चल हो जाता है। यह जड़-समाधि है और इस संज्ञा-शून्य स्थिति में भी सहस्रार से स्रवित अमृत के निरन्तर पान से उसकी चेतना रसमयी—आनन्दमयी बनी रहती है।

खेचरी मुद्रा का लक्षण यह है कि कपाल के मध्यवाले छिद्र में जीभ उलटी प्रविष्ट करनी चाहिये और साधक की दृष्टि दोनों भौंहों के मध्य स्थित रहनी चाहिये। जीभ को इस मुद्रा की सिद्धि के लिये चालन-दोहन क्रिया से लम्बा किया जाता है। अँगूठे और तर्जनी अँगुली से जीभ को दायें-बायें चालित करना चालन-क्रिया है और जिस तरह गाय के स्तन में अँगुलियों को लगा कर दूध दुहा जाता है, उसी तरह अँगूठे और तर्जनी अँगुली से जीभ को धीरे-धीरे बाहर की ओर खींचकर बढ़ाया जाता है, यह दोहन-क्रिया है। अँगुलियों में इस क्रिया के लिये मक्खन या घी लगा लेना चाहिये। निरन्तर अभ्यास करने से जीभ इतनी लम्बी हो जाती है कि वह भ्रू-मध्य तक पहुँचकर कपाल-रन्ध्र से लग जाती है।

> भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः ।
> उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः ।
> लम्बिकोर्ध्वस्थितेगर्ते रसनां विपरीतगम् ॥
> संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः ।
> मुद्रैषा खेचरीप्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः ॥
> (शिवसंहिता ४ । ५१-५३)

जीभ को उलट कर इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा वाले संगम—त्रिपथ में लगाना चाहिये, यह व्योमचक्र है, यही खेचरी मुद्रा है।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता॥
ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्॥
(हठयोगप्रदीपिका ३। ३७, ४१, ४४)

तालु के ऊपर विवर में ऊर्ध्वमुखी जीभ से सहस्रार से क्षरित चन्द्रामृत का तालु-आधार में पान कर योगी पन्द्रह दिनों में ही मृत्यु के भय से रहित हो जाता है।

एकादशमथ जिह्वाधारं तत्र जिह्वाग्रं धारयेत् सर्वरोग-नाशो भवति॥ २०॥

ग्यारहवाँ जिह्वाधार है। जिह्वामूल में जिह्वा के अग्रभाग को लगाना (स्पर्शपूर्वक स्थिर करना) चाहिये। इस अभ्यास से (साधक के) समस्त रोगों का नाश होता है॥ २०॥

द्वादशं भ्रूमध्याधारं तत्र चन्द्रमण्डलं धारयेत्, शीतलतां याति॥ २१॥

बारहवाँ भ्रूमध्याधार है। वहाँ चन्द्रमण्डल का ध्यान करना चाहिये, उसकी धारणा करने से—ध्यान करने से साधक का अङ्ग शीतल—हृष्टपुष्ट और प्रसन्नतायुक्त होता है॥ २१॥

विशेष—दोनों भृकुटियों का मिलन-स्थान ही भ्रूमध्याधार है, यह आज्ञा चक्र का स्थान है। यहाँ दृष्टि एकाग्र कर जब साधक शुभ्र, स्वच्छ-निर्मल चन्द्र-मण्डल का ध्यान करता है, तब उसका शरीर सौम्य, शान्त और स्थिर हो जाता है। इस स्थान से मन विशेष रूप से अमनस्क की भूमिका में पहुँच जाता है,

इस आधार में दृष्टि की स्थिरता से साधक परम दिव्य ज्योति का दर्शन करता है।

त्रयोदशं नासाधारं तस्याग्रं लक्षयेन्मनः स्थिरं भवेत् ।। २२ ।।

तेरहवाँ नासिकाधार है, इसके अग्रभाग में दृष्टि एकाग्र कर ध्यान केन्द्रित करने से मन स्थिर होता है—अपने चञ्चल स्वभाव को छोड़ कर आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है ।। २२ ।।

विशेष—नासाधार का स्थान नासिका में होता है। नासिका जैविक कार्यों का महत्वपूर्ण केन्द्र है। योगसाधना की सिद्धि के लिये नासाग्रदृष्टिस्थिरता और नासाग्रध्यान का योगशास्त्र में विशद विवेचन उपलब्ध होता है। इससे मन की उद्विग्नता नष्ट हो जाती है और वह गहन समाधि के योग्य हो जाता है।

चतुर्दशं नासामूलक कपाटाधारं तत्र दृष्टिं धारयेत् षण्मासाज्ज्योति-पुञ्जं पश्यति ।। २३ ।।

चौदहवाँ नासामूलक कपाटाधार है, वहाँ दृष्टि स्थिर करनी चाहिये, इससे छः मास में साधक को (परमात्म) ज्योतिपुञ्ज का दर्शन होता है ।। २३ ।।

विशेष—कपाटाधार की स्थिति नासामूल में है। यह स्थान भ्रू चक्र—आज्ञाचक्र के समीप है। इस आधार में दृष्टि और ध्यान को केन्द्रित करने से सम्पूर्ण मनोमय जगत् प्रकाशित हो उठता है और विज्ञानमय कोष में मन के विलीन अथवा तल्लीन होने पर परमात्म-ज्योति-पुञ्ज का साधक दर्शन करता है, यह अन्तर्ज्योति का दर्शन है।

पञ्चदशं ललाटाधारं तत्र ज्योतिःपुञ्जं लक्षयेत् तेजस्वी भवति ।। २४ ।।

पन्द्रहवाँ ललाट-आधार है। उसमें ज्योतिः पुञ्ज को लक्ष्य बनाकर उसका ध्यान करना चाहिये। इस ध्यान से योगी तेजस्वी होता है—दिव्यता को प्राप्त होता है ।। २४ ।।

विशेष—ललाटाधार ललाट के मध्य में है। यहाँ स्वतः प्रकाशित ज्योतिः-पुञ्ज पर ध्यान केन्द्रित करने के लिये साधक को समाधि लगानी होती है। इस

ध्यान के फलस्वरूप उसकी जैविक और मानसिक शक्ति विकसित होती है, उसका शरीर तेजोमय और कान्तियुक्त हो जाता है।

अवशिष्टे षोडशे ब्रह्मरन्ध्र आकाशचक्रं तत्र श्रीगुरुचरणाम्बुजयुग्मं सदावलोकयेदाकाशवत्पूर्णो भवति। इति षोडशाधारः ॥ २५ ॥

शेष सोलहवाँ ब्रह्मरन्ध्र आधार है। यह आकाशचक्र का स्थान है। इसमें श्रीगुरुके दोनों चरण-कमलों का ध्यान करना चाहिये। इससे साधक आकाश की तरह पूर्ण रूप से (निरवच्छिन्न सच्चिदानन्दस्वरूप गुरुतत्व का ध्यान करने से) व्यापक—मुक्त हो जाता है ॥ २५ ॥

विशेष—ब्रह्मरन्ध्र आधार में आकाशचक्र ही गुरु-स्वरूप के ध्यान के लिये उपयुक्त स्थान स्वीकार किया गया है, इस आधार में गुरु के चरण का ध्यान करने से उनकी प्रसन्नता से परमात्म-ज्योति अभिव्यक्त हो उठती है। इस स्थान में जब मानसिक और जैविक शक्तियों का उच्च से उच्चतर स्तर की समाधि द्वारा साधक पूर्ण न्यास (संस्थापन) करता है, तब उसे गुरु का प्रसाद (प्रसन्नता) प्राप्त होता है। गुरु अपने स्वरूप में सच्चिदानन्दविग्रह है और व्यष्टिरूप में शिवशक्ति का रूप है। योगसाधक गुरु के प्रसाद से शाश्वत, सनातन, अलख-निरञ्जन, कैवल्यपद-स्वरूपावस्थित हो जाता है। आकाशचक्र पूर्ण-गिरि-पीठ है, इसमें साधक परमशून्य परमात्मरूप में तादात्म्य-लाभ कर गुरु के प्रसाद से साक्षात् शिवस्वरूप हो जाता है। गुरु के चरण-कमल का ध्यान करने से उसका सदुपदेशामृत सहज प्राप्त होता है।

भवेद् वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्रसमुद्भवा।
(शिवसंहिता ३। ११)

गुरु का स्वरूप नादबिन्दु-कलातीत होने पर सम्पूर्ण स्वानन्द-विग्रह होता है और रूप नादबिन्दुकलात्मा होने पर शिवस्वरूप होता है। दोनों स्वरूपों में पूर्ण तादात्म्य है। गुरु के चरण-कमल का ध्यान ब्रह्मरन्ध्राधार में पूर्ण विहित है, इससे साधक निरञ्जन पद प्राप्त करता है।

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः॥
(हठयोगप्रदीपिका ४। १)

महायोगी गोरखनाथ ने अपनी 'गोरक्षशतक' रचना के प्रारम्भ में दो श्लोकों में गुरु का ध्यान किया है, वन्दन किया है, पहले श्लोक में गुरु के स्वानन्द विग्रह का ध्यान है, दूसरे में समस्त योगज्ञान में पारंगत परम गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की वन्दना है।

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ॥
अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिका स्वाधारबन्धादिभि ।
र्यो योगी युगकल्पकालकलनातत्वं च जेगीयते ॥
ज्ञानामोदमहोदधि· समभवद् यत्रादिनाथः स्वयं ।
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे ॥
(गोरक्षशतक १-२)

गुरु साक्षात् आदिनाथस्वरूप हैं, इस भाव के द्वारा उन्होंने मत्स्येन्द्रनाथ (मीननाथ) के चरण-कमल का चिन्तन किया है। गोरखनाथजी ने गुरु-चरणकमल की वन्दना से आत्मब्रह्मदर्शन किया है।

प्रथमें प्रणऊँ गुर के पाया। जिन मोहि आतमब्रह्म लषाया।
सतगुरु सबद कह्या तैं बूझया। तृहूँ लोक दीपकमनि सूझया॥
(गो० बा० प्राणसंकली १)

गोरखनाथजी ने इस तरह स्वीकार किया है कि सबसे पहले मैं गुरुदेव (योगिराजेश्वर मत्स्येन्द्र नाथ) के चरण (कमल) में प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने (कृपापूर्वक) मुझे अपने ही शरीर में विद्यमान आत्मब्रह्म, अलख निरञ्जन परम शिव का (ज्ञाननेत्र से) साक्षात्कार अथवा दर्शन कराया। सद्गुरु के शब्द . उपदेशामृत) से मुझे (ज्ञान-) दीपमणि की प्राप्ति हो गयी और तीनों लोक मेरे ज्ञाननेत्र में प्रकाशित हो गये।

इस तरह सोलह आधारों के योग-साधनापरक ध्यान का वर्णन किया गया।

तीन लक्ष्य

अथ लक्ष्यत्रयन्तत्रतावदन्तर्लक्ष्यं कथ्यते। मूलकन्दाद् दण्डलग्नां ब्रह्मनाड़ीं श्वेतवर्णां ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं गतां संस्मरेत्

तन्मध्ये कमलतन्तुनिभां विद्युत्कोटिप्रभामूर्ध्वगामिनीं तां मूर्तिं मनसा ध्यायेत् तत्र सर्वांसिद्धिदा भवति ॥ २६ ॥

(मन को स्थिर करने के उपाय का निरूपण किया जाता है। मन को वश में करने से इष्ट की—अभिलषित ध्येय की सिद्धि होती है।) अन्तर, वहिः और मध्य के भेद में तीन प्रकार से लक्ष्यों का वर्णन किया जाता है। (अन्तर लक्ष्य का वर्णन है। मूल कन्द मेढ्र के ऊपरी भाग और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के समान स्थित है। इस मूलकन्द से बहत्तर हजार नाड़ियों की उत्पत्ति कही गयी है।) मूलकन्द से सहस्रार पर्यन्त मेरुदण्ड में श्वेतवर्ण की ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना का ध्यान करना चाहिये, उस सुषुम्ना में कमल-तन्तु के समान करोड़ों बिजलियों के समान प्रकाशमयी ऊर्ध्वगामिनी कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करना चाहिये। इस ध्यान से कुण्डलिनी समस्त सिद्धियों को प्रदान करती है ॥ २६ ॥

विशेष—महायोगी गोरखनाथजी की दृष्टि में लक्ष्य वे विषय हैं, जिनपर मानसिक-जैविक शक्ति को उच्चतम अध्यात्मिक स्तर पर उठाने और ब्रह्माण्ड तथा व्यष्टि-शरीर में परमातम सत्ता का दर्शन करने के लिये अस्थायी रूप से ध्यान केन्द्रित किया जाता है। समाधि या धारणा के चुने हुए पदार्थ की स्थिति के अनुसार भीतरी, बाहरी और मध्य, तीन तरह के लक्ष्य निरुपित हैं। सुषुम्ना नाड़ी में कुण्डलिनी शक्ति पर ध्यान केन्द्रित करना अन्तर्लक्ष्य-साधना है। यह कुण्डलिनी इस तरह लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करने वाले योगसाधक को महेश्वरी महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती के रूप में अभिव्यक्त होकर अनेक प्रकार के आध्यात्मिक और लौकिक वरदान तथा सिद्धियाँ प्रदान करती है। शिवस्वरूप में तादात्म्य होने पर वह साधक को दिव्य स्वरूप में अवस्थित कर देती है। जब मन आन्तरिक आतमा पर केन्द्रित हो जाता है, तब न केवल मन ही, प्रत्युत शरीर भी इसके आध्यात्मिक स्वरूप के प्रकट हो जाने पर दिव्य हो जाता है।

अथवा ललाटोर्ध्वे गोल्लाटमण्डपे स्फुरदाकारं लक्षयेदथवा भ्रमरगुहामध्य आरक्तभ्रमराकारं लक्षयेदथवा कर्णद्वयं तर्जनीभ्यां निरोधयेत् ततः शिरोमध्ये धूं धूं कारं नादं शृणोत्यथवा चक्षुर्मध्ये नीलज्योतिरूपं पुतल्याकारं लक्षयेदित्यन्तर्लक्ष्यम् ॥ २७ ॥

मस्तक के ऊपर का भाग गोल्लाट है। गोल्लाट के चल आकार का ध्यान करना चाहिये अथवा मेरुदण्ड के संम्मुख ग्रीवा से ऊपर का स्थान भ्रमर गुफा कहा जाता है। इस भ्रमरगुफा में लाल रंग के भ्रमर के आकार का ध्यान करना चाहिये अथवा दोनों कानों के छिद्रों को दोनों तर्जनी अँगुलियों से यथाक्रम आच्छादित (निरुद्ध) करना चाहिये, इससे सिर के मध्य भाग में धूं धूं कार नाद (शव्द) का श्रवण होता है अथवा नेत्रों में नीली ज्योति वाली पुतली के आकार का ध्यान करना चाहिये। यही अन्तर्लक्ष्य का निरूपण है ।। २७ ।।

विशेष—गोल्लाट केन्द्र सहस्रार में ललाट के ठीक ऊपर है। इसमें एक ज्योति:पुंज प्रज्वलित है। इस पर मन को केन्द्रित करने से साधक की चेतना दिव्य प्रकाश से आलोकित हो उठेगी, उसका व्यक्तित्व आध्यात्मिक ज्योति से दिव्य हो जाता है। भ्रमर गुफा स्नायुदण्ड या रीढ़-संस्थान के ऊपर सहस्रार के पृष्ठ भाग में स्थित है। इस स्थान में साधक अपने वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर सुरक्षित रखता है, इस भ्रमर गुफा में ध्यान केन्द्रित करने से योगसाधक को काम, कामवासनायें और इन्द्रियों की उत्तेजनायें नहीं सताती हैं, वह शान्त, स्थिर और मुक्त रहता है। इस केन्द्र में जीवन अथवा प्राणशक्ति को लाल रंग के भ्रमर के आकार की तरह कल्पित कर ध्यान केन्द्रित कर दिव्य आनन्द का अनुभव किया जाता है। योगी को अमृतत्व प्राप्त होता है, वह शिव-शक्ति तादात्म्य अनुभव करता है। मस्तक के भीतर धूं धूं कार नाद पर ध्यान केन्द्रित करने से यह नाद ओंकार का रूप ग्रहण कर लेता है, इस नाद के श्रवण के फलस्वरूप योगी अलखनिरंजन का साक्षात्कार करता है। नेत्रों से आन्तरिक केन्द्र में नीली ज्योति पर ध्यान केन्द्रित करने से योगसाधक की चेतना और व्यक्तित्व में दिव्यता भर उठती है।

बहिर्लक्ष्यं कथ्यते नासाग्राद् बहिरङ्गुलद्वयमारक्तं तेजस्तत्वं लक्षयेदथवा दशाङ्गुले कल्लोलवदप्तत्वं लक्षयेदथवा नासाग्रद् वा दशाङ्गुले पीतवर्णं पार्थिवतत्वं लक्षयेद्थवा काशमुखं दृष्ट्वाऽवलोकयेत् किरणानाकुलितं पश्यति सर्वं निर्मलीकरणमथवोर्ध्वंदृष्ट्यन्तरालं लक्षयेज्ज्योतिर्मुखानि पश्यत्यथवा तदभ्यन्तरं तत्राकाशं लक्षयेदाकाशसदृशचित्तं

मुक्तिप्रदं भवत्यथवा दृष्ट्यन्तस्तप्तकाञ्चनसन्निभां भूमिं लक्षयेद् दृष्टिः स्थिरा भवति । इत्यनेकविध बहिर्लक्ष्यम् ।। २८ ।।

वाहरी लक्ष्य का निरूपण किया जाता है। नासिका के अग्रभाग में दो अंगुल आगे लाल रंग के तेज का ध्यान करना चाहिये अथवा नासिका से दस अंगुल आगे तरंगयुक्त श्वेत वर्ण के जलतत्व का ध्यान करना चाहिये अथवा नासाग्र से द्वादश अंगुल की दूरी पर पीले रंग के पृथ्वीतत्व का ध्यान करना चाहिये अथवा आकाश के सम्मुख दृष्टि कर आकाश का ध्यान करना चाहिये। इस तरह साधक ज्योतिः पुंज को देखता है, जिससे चित्त आकाश की तरह निर्मल और व्यापक हो जाता है अथवा ऊपर आकाश की ओर दृष्टि कर आकाश का ध्यान करने से चित्त आकाश की तरह मुक्तिप्रद हो जाता है अथवा दृष्टि को अन्तर्मुखी कर तप्त सोने की रंगवाली पृथ्वी का ध्यान करने से दृष्टि स्थिर होती है। इस तरह अनेक बहिर्लक्ष्य पर ध्यान एकाग्र करने का वर्णन किया गया ।। २८ ।।

विशेष--खुले नेत्र से साधक अपने मन को वाह्य जगत् की समस्त विभिन्नताओं से मुक्त कर अपनी एकाग्र शक्ति से स्वर्णिम ज्योति के विशाल क्षेत्र में संयमित कर परमात्मा के दिव्य साक्षात्कार से अपने-आप को कृतार्थ कर सकता है। समस्त वाह्य तत्वों (पदार्थों) में मन की एकाग्रता द्वारा साधक परमात्मा की अभिव्यक्ति का अनुभव करता है, वाह्य लक्ष्य दृष्टि की स्थिरता अथवा मन की एकाग्रता अथवा ध्यान की तल्लीनता की यही सार्थकता है। वाह्य लक्ष्य में सूर्य, चन्द्र, विशेष तारा, नक्षत्र, ग्रह, जलते दीपक, प्रज्वलित अग्नि, दिव्य प्रतिमा, पूज्य व्यक्ति के चित्र आदि पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिये।

अथ मध्यमं लक्ष्यं कथ्यते श्वेतवर्णं वा रक्तवर्णं वा कृष्णवर्णं वाग्निशिखाकारं वा ज्योतीरूपं वा विद्युदाकारं वा सूर्यमण्डलाकारं वाऽर्धचन्द्राकारं वा यथेष्टं स्वपिण्डमात्रं स्थानवर्जितं मनसा लक्षयेदित्यनेकविधं मध्यमं लक्ष्यम् ।। २९ ।।

मध्य लक्ष्य का निरूपण किया जाता है। इसमें स्थानविशेष पर लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित नहीं किया जाता है, किसी श्वेतरंग या लालरंग या काले रंग के पदार्थ पर अथवा अग्निशिखा के आकार वाले पदार्थ पर अथवा ज्योति अथवा विद्युत् के (समान प्रभायुक्त) आकार अथवा सूर्यमण्डलाकार अथवा अर्धचन्द्राकार

अथवा अपने शरीर में ही यथेष्ट अंग पर मन को एकाग्र—स्थिर कर (विना किसी स्थान विशेष की कल्पना के ही) ध्यान को केन्द्रित करना चाहिये। इस तरह अनेक प्रकार के मध्यम लक्ष्य पर ध्यान एकाग्र करने का वर्णन किया जाता है ।। २९ ।।

विशेष—मध्यम लक्ष्य का तात्पर्य है विशेष ध्यान का कोई पदार्थ, जिसे न तो शरीर के भीतर कल्पित किया जाता है और न वाहर, न मनको जिस पर विना किसी स्थान पर उसका संकेत पाये केन्द्रित करना होता है। एक विशेष पदार्थ का विचार मनमें सयत कर सम्पूर्ण ध्यान इसी पर केन्द्रित किया जाता है। पदार्थ का चुनाव साधक की अभिरुचि पर निर्भर है। लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करने से मन की चंचलता मिट जाती है। ध्यान एकाग्र करने का पदार्थ वास्तविक या काल्पनिक तेजोमय अथवा शीतल, आकाररहित अथवा आकारसहित हो सकता है। लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित रखने की अवधि में योगसाधक को यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि उसे अपने भीतर (शरीर के भीतर) तथा ब्रह्माण्ड-व्यवस्था के भीतर सभी स्तरों की प्रापंचिक सत्ताओं में शिवशक्ति के आनन्दमय तादात्मय का साक्षात्कार करना है तथा स्वरूपानन्द में तल्लीन होना है।

व्योमपंचक

अथ व्योमपञ्चकं लक्षयेदाकाशं पराकाशं महाकाशं तत्त्वाकाश सूर्याकाशमिति व्योमपञ्चकं बाह्याभ्यन्तरेऽत्यन्त निर्मलं निराकारमाकाशं लक्षयेदथवा बाह्याभ्यन्तरेऽत्यन्तान्धकारनिभं पराकाशमवलोकयेदथवाभ्यन्तरकालानलसंकाशं महाकाशमवलोकयेदथवा बाह्याभ्यन्तरे निजतत्वस्वरूपं तत्वाकाशमवलोकयेदथवा बाह्याभ्यन्तरे सूर्यकोटिनिभं सूर्याकाशमवलोकयेत् स्वयं व्योमपञ्चकावलोकनेन व्योमसदृशो भवति ।।३०।।

(आत्मा का स्वरूप आकाश की तरह व्यापक है। उस आत्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति के लिये ध्येयरूप पाँच आकाश का ध्यान निर्दिष्ट किया जाता है।) आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्वाकाश और सूर्याकाश—आकाश के पाँच भेद हैं, यही व्योमपंचक कहा जाता है । शरीर के बाहर-भीतर अत्यन्त निर्मल

निराकार आकाश का ध्यान करना चाहिये अथवा शरीर के बाहर-भीतर अत्यन्त अन्धकारमय पराकाश का ध्यान करना चाहिये, शरीर के भीतर प्रलयकाल की अग्नि के समान महाकाश का ध्यान करना चाहिये अथवा (चिदाकाश) तत्वाकाश का ध्यान करना चाहिये; अथवा शरीर के बाहर-भीतर करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमय सूर्याकाश का ध्यान करना चाहिये। इस तरह साधक पाँचों आकाश का ध्यान कर आकाश के समान निर्मल, व्यापक, तेजोमय और दिव्य हो जाता है ॥ ३० ॥

विशेष—मन को आकाश या शून्य पर एकाग्र करने से व्यावहारिक व्यष्टि-चेतना की शुद्धि होती है। वह चेतना व्योम में समान सर्वव्यापक हो जाती है।

उक्तं च—
नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः ॥ ३१ ॥

जो योगी शरीर में स्थित नौ चक्र, सोलह आधार, तीनों लक्ष्य और पाँचों व्योम को अच्छी तरह नहीं जानता है, वह नाम मात्र से ही योगी है, योगतत्त्वज्ञ नहीं है ॥ ३१ ॥

अष्टांगयोग

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टा-वङ्गानि। यम इति उपशमः सर्वेन्द्रियजयआहारनिद्राशीत-वातातपजयश्चैवं शनैः शनैः साधयेत् ॥ ३२ ॥

(अष्टांगयोग का वर्णन किया जाता है।) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये ही योग के आठ अंग हैं। यम का आशय है उपशम (इन्द्रियादि को वश में रखकर शान्ति) प्राप्त करना। साधक को धीरे-धीरे यथाक्रम समस्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों की ओर से मोड़कर आत्मचिन्तन में लगाकर उन्हें वश में रखकर आहार, निद्रा, शीत, वात और आतप आदि द्वन्द्वों को नियन्त्रित कर (युक्ताहारविहार-पूर्वक) योगसाधना में तत्पर होना चाहिये ॥ ३२ ॥

विशेष—यद्यपि सिद्धमत अथवा नाथयोग-परम्परा में यम-नियमव्यतिरिक्त आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के रूप में षडंगयोग की साधना पर ही विशद विवेचन उपलब्ध होता है तथापि जीवमात्र की सुगमता को ध्यान में रखकर योगसाधक के लिये महाकारुणिक गोरखनाथजी ने सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति में अष्टांगयोग पर प्रकाश डालकर यम और नियम की सदुपयोगिता और सार्थकता को महत्व दिया है। षडंगयोग के प्रतिपादन में गोरखनाथजी के वचन हैं :

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥
(गोरक्षशतक ७)

अष्टांगयोग के अंगों का दत्तात्रेय-संहिता में विवेचन है :

यमश्चनियमश्चैव आसनं च ततः परम्।
प्राणायामश्चतुर्थः स्यात् प्रत्याहारश्च पञ्चमः॥
षष्ठी तु धारणा प्रोक्ता ध्यानं सप्तममुच्यते।
एवमष्टाङ्गयोगं च याज्ञवल्क्यादयो विदुः॥
(दत्तात्रेयसंहिता)

गोरखनाथजी के अष्टांग-योगानुक्रम और महर्षि पतञ्जलि के क्रमनिरूपण में सम्पूर्ण तादात्म्य है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
(पातञ्जलयोगदर्शन २।२९)

महर्षि पतञ्जलि ने यम पाँच माने हैं। वे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह-अभाव) हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
(पातञ्जलयोग० २।३०)

नाथयोगपरम्परा के योगशास्त्र में दस यमों की स्वीकृति है। हठयोग-प्रदीपिका में वर्णन है :

अहिंसासत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥
(हठयोगप्रदीपिका १।१७)

विवेकमार्तण्ड में यम के ये ही लक्षण वर्णित हैं। जिसमें प्राण-विच्छेद के व्यापार का अभाव हो, वह अहिंसा है। सत्य से आशय यथार्थ भाषण का है। दूसरे के पदार्थ का अपहरण न करना अस्तेय है, जितेन्द्रियता ब्रह्मचर्य है, सहन-शीलता क्षमा है, धैर्य ही धृति है, दूसरे के दुःख को मिटाने की इच्छा दया है। निष्कपट व्यवहार ही आर्जव है, चतुर्थांशविवर्जित सात्विक आहार का सेवन ही मिताहार है, श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित नित्यकर्मजन्य शुद्धि ही शौच है। इन दशों लक्षणों के संदर्भ में इन्द्रियजय, आहारनिद्रा तथा शीतादि द्वन्द्व की जय आदि से उपशम की प्राप्ति होती है। यम को गोरखनाथ ने उपशम का पर्याय कहा है। इससे सात्विक साधनामय जीवन का प्रारम्भ होता है। साधक बाह्य व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से निवृत्त होकर निष्काम कर्म के आचरण को महत्व देता है।

नियम इति मनोवृत्तिनां नियमनमित्येकान्तवासो निःसङ्गतौदासोन्यं यथाप्राप्तिसन्तुष्टिर्वैरस्यं गुरुचरणावरूढ़त्वमितिनियमलक्षणम् ।। ३३ ।।

मन के व्यापार का नियमन—नियन्त्रण ही नियम है, एकान्तवास, असङ्गता, उदासीनता, जो कुछ भी (जीविका के निर्वाह के लिये) प्राप्त हो जाय, उसमें संतोष धारण करना, राग-द्वेष रूपीद्वन्द्वों में उपरामता और गुरुचरण के आश्रय में ही निर्भरता नियम के लक्षण हैं।

विशेष—महर्षि पतञ्जलि ने नियम के पाँच लक्षण स्वीकार किये हैं, वे शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (शरणागति) हैं।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥
(पतञ्जलि योगदर्शन २।३२)

विवेकमार्तण्ड-८ में गोरखनाथजी ने तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप, और हवन को नियम के दस लक्षण बताये हैं। इसी तरह हठयोगप्रदीपिका में उल्लेख है।

तपःसन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपोहुतम् ।

नियमा दशसंप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।
(हठयोग० १ । १८)

हठयोगप्रदीपिका का कथन शिवसंहिता-सम्मत है । नियम-पालन के सम्बन्ध में भगवान् शिव का स्पष्ट आदेश है कि सिद्धान्तग्रन्थों का श्रवण करना चाहिये । परमेश्वर सर्वव्यापक का नाम-संकीर्तन करना चाहिये, शुभ को ही कानों से सुनना चाहिये, धृति, क्षमा, तप, शौच और लज्जा का ध्यान रखना चाहिये, गुरु का सेवन करना चाहिये । वैराग्य भाव से घर में रहना चाहिये ।

सिद्धान्तश्रवणं नित्यं वैराग्यगृहसेवनम् ।
नामसङ्कीर्तनं विष्णोः सुसादश्रवणे परम् ॥
धृतिः क्षमा तपः शौचं ह्रीर्मतिगुरुसेवनम् ।
सदैतांश्च परं योगी नियमांश्च समाचरेत् ॥
(शिवसंहिता ३।४१-४२)

इस सिद्धसिद्धान्तपद्धति रचना में गोरखनाथजी ने दस नियमों को ध्यान में रख कर उन्हें पाँच प्रकार के लक्षित किये हैं । एकान्तवास, उदासीनता, यथाप्राप्ति संतुष्टि, वैरत्याग, और गुरुचरणाश्रय । एकान्तवास का अभिप्राय है जन-सम्पर्क से दूर रह कर योगमठ आदि के वातावरण में कुटी का निर्माण कर उसमें निवास करते हुए विषय-भोग में आसक्त न होना। सर्वथा निःसंग रहना । उदासीन और द्वन्द्वों में तटस्थ रहकर निःस्पृह भाव से साधन में तत्परता ही उदासीनता है । शत्रु और मित्र में समान भाव रखकर मन में कभी राग-द्वेष न उत्पन्न होने देना ही वैर का अभाव है । जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तुष्ट और प्रसन्न रहना यथाप्राप्ति-संतुष्टि है और गुरु के प्रसाद—प्रसन्नता से ही उनकी सेवा में प्रवृत्त रहने से योगसाधक को स्वरूपावस्थान की प्राप्ति होती है । एकान्तवास, निःसंगता के सम्बन्ध में श्रीमदभगवद्गीता का कथन है—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
(गीता ६।१०)

मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखने वाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी को अकेला ही एकान्त स्थान में निवास कर आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगाना चाहिये । गीता के ही बारहवें अध्याय के १९ वें, श्लोक के–

'अनिकेतः स्थिरमतिः' वचन से यह भाव स्पष्ट हो जाता है । उदासीनता के सम्बन्ध में गीता में विवेचन है कि जो साधक समस्त कामनाओं का त्याग कर ममता-अहंकारस्पृहारहित होकर जीवन-यापन करता है, वहीं शान्ति को प्राप्त होता है ।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।
(गीता २।७१)

यथाप्राप्ति संतुष्टि का आशय है दुःखों की प्राप्ति होने पर मन में उद्वेग न होना, सुखों की प्राप्ति में सर्वथा निःस्पृह रहना ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
(गीता २।५६)

इसी भाव का गीता में स्पष्टीकरण किया गया है ।

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।
(गीता १२।१६)

गोरखनाथजी ने रागद्वेष से ऊपर उठजाना साधक के लिए बहुत आवश्यक नियम बताया है । जो सर्वत्र स्नेह (राग) रहित होकर शुभ-अशुभ वस्तु की प्राप्ति में न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है, वही स्थिरबुद्धि साधक है। ऐसा पुरुष न किसी से द्वेष करता है, न किसी में रागयुक्त होता है ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।
(गीता १२।१८)

गोरखनाथजी ने गुरु के चरणाश्रय में साधक के शरीर का चिन्मय होना स्वीकार किया है, चिन्मयता का अर्थ स्वरूप में स्थिति है । गोरखनाथजी का कथन है ।

सतगुरु मिलै तो सांसा भागै । मूल बिचार्या माहीं ।।
(गो० बानी ग्यानतिलक ४०)

महायोगज्ञान से सम्पन्न सद्गुरु की शरणागति से योगसाधक अपने हृदय में मूलतत्व—अलखनिरंजन के स्वरूप का विचार करता है। इसके परिणामस्वरूप उसका संशय (व्यामोह) नष्ट हो जाता है।

आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता स्वस्तिकासनं पद्मासनं सिद्धासनमेतेषां मध्ये यथेष्टमेकं विधाय सावधानेन स्थातव्यम्। इत्यासनलक्षणम् ।। ३४ ।।

अपने (स्वसंवेद्य, द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्म) स्वरूप में चेतना की संस्थिति अथवा स्थापन (समासन्नता) ही आसन है। स्वस्तिकासन, पद्मासन, सिद्धासन—इन तीनों में से एक आसन में (योगयुक्ति की) विधि से सावधान होकर (ध्येय तत्व में) स्थिर हो जाना, ठहर जाना ही आसन का लक्षण है ।। ३४ ।।

विशेष—महायोगी गोरखनाथजी की दृष्टि में यद्यपि बाह्य आसनाभ्यास का विशेष महत्व नहीं है, तथापि उन्होंने साधना में संतुष्टि के लिये आसनों की दिशा में स्वस्तिकासन, पद्मासन और सिद्धासन को वरीयता प्रदान की है। उन्होंने कहा है।

आसण दिढ़ अहार दिढ़ जे न्यंद्रा दिढ़ होई।
गोरष कहै सुणौ रे पूता मरै न बूढ़ा होई ।।
(गोरखबानी सबदी १२५)

महर्षि पतञ्जलि ने सुखपूर्वक बैठने को आसन कहा है। शरीर को सीधा और स्थिर कर सुखपूर्वक बैठ कर समस्त चेष्टा के त्यागपूर्वक प्रयत्न के शैथिल्य और अनन्त अलखनिरञ्जन परमात्मा में मन को प्रवृत्त करने से ही आसन की सिद्धि होती है और साधक द्वन्द्वों से विमुक्त होकर स्वरूप (सुख) में समासन्न हो उठता है।

'स्थिरसुखमासनम्'
(योगदर्शन २ । ४६)

महर्षि पतञ्जलि और महायोगी गोरखनाथ की शब्दावली 'स्थिरसुखमासनम्' और 'स्वस्वरूपे समासन्नता' में योगासनों के अभ्यास की फलदृष्टि में

तादात्म्य परिलक्षित है। उपर्युक्त (पातञ्जल सूत्र २।४६) के व्यासभाष्य और भोजवृत्ति में भी परमात्मा में चित्त की तदाकारता ही स्वरूपसमासन्नता का प्रतिपादन है। व्यासभाष्य में संकेत है :—

अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति।

अनन्त में समापन्न चित्त आसन को सिद्धि करता है। भोजवृत्ति में यही बात उपलक्षित है।

यदा चाकाशादिगत आनन्त्यें चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽव्यवधानेन तादात्म्यमापद्यते तदा देहाहंकाराभावान्नासनं दुःखजनकं भवति।

जब आकाश आदि में रहनेवाली अनन्तता में चित्त व्यवधानरहित तदाकार किया जाता है, तब उसकी तद्रूपता प्राप्त हो जाने पर शरीराभिमान का अभाव हो जाने से देह की सुधि न रहने से आसन दुःख का उत्पादक नहीं होता। यही स्वरूप में समासन्नता का विशिष्ट फल है।

जानु और ऊरु (जंघाओं) के मध्य में पैरों के तलवों को अच्छी तरह लगाकर समान अवस्था में शरीर को एकसीध में कर बैठना ही स्वस्तिक आसन है।

जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते॥
(हठयोगप्रदीपिका १।२१)

इस आसन के द्वारा योगाभ्यासी वायु का साधन यथाशीघ्र करने में सफल होता है। राजयोग-साधना में इसे बहुत उपयोगी कहा गया है, इस आसन में मन स्थिर होता है, साधक को ध्यान में सुविधा होती है, रीढ़ की स्थिरता बनी रहती है, वीर्य उर्ध्वमुखी होता है, ब्रह्मचर्य की शक्ति बढ़ती है। भगवान् शिव का कथन है।

सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःखप्रणाशनम्।
स्वस्तिकं योगिभिर्गोप्यं स्वस्तीकरणमुत्तमम्॥
(शिवसंहिता ३।११८)

स्वस्तिक आसन के अभ्यास से सभी दुःखों का नाश होता है, यह आसन परम गोप्य है, सर्वश्रेष्ठ और कल्याणकारी है ।।

पद्मासन दूसरा आसन है, जिसे 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में गोरखनाथजी ने महत्व दिया है ।

वामोरूपरि दक्षिणञ्च चरणं संस्थाप्यवामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढ़म् ।
अङ्गुष्ठौ हृदयेनिधाय चिबुकं नासाग्रमवलोकये-
देतद् व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ।।
(गोरक्षशतक–१२)

वाम ऊरु, जानुमूल में दाहिना पैर स्थापित करे और उसी तरह दायें जानुमूल में बायाँ पैर स्थिर करे और दोनों हाथों को पीछे से ले जाकर दायें हाथ से बायें पैर के अँगूठे और बायें हाथ से दायें पैर के अँगूठे को दृढ़ता से पकड़ कर चिबुक को हृदय से लगाकर नासा के अग्र भाग को दोनों नेत्रों से देखे, यही समस्त व्याधि तथा मानसिक-शारीरिक विकारों को नष्ट करनेवाला पद्मासन है ।

भगवान् शिव का कथन है कि इस आसन का अभ्यास करनेवाले साधक के प्राण सम हो जाते हैं और सुषुम्ना में प्रवेश करते हैं । जो योगी पद्मासन में स्थित होकर प्राण-अपान के ऐक्य का अभ्यास सिद्ध कर लेता है, वह निःसन्देह संसार-सागर के पार उतर जाता है ।

अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासने सम्यक् साधकस्य न संशयः ।।
पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः :
पूरयेत्स विमुक्तः स्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।।
(शिवसंहिता ३ । १०९–११०)

इस आसन के अभ्यास से स्वरूपावस्थान सिद्ध होता है ।

पद्मासने स्थितो योगी नाड़ीद्वारेण पूरितम् ।
मारुतं धारयेद् यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ।।
(हठयोगप्रदोपिका १ । ५१)

पद्मासन में स्थित जो योगी नाड़ी-द्वार से पूरित की गयी वायु स्थिर कर लेता है—सुषुम्ना में स्थापित कर ऊर्ध्वमुखी कर लेता है, वह मुक्त (अपने स्वरूप में स्थित) हो जाता है ।

स्वरूप में स्थिति की दृढ़ता के लिये सिद्धासन का अभ्यास बहुत आवश्यक है।

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्
मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तर
मेतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥
(गोरक्षशतक—११)

गुदा और मेढ्र के मध्य में योनि, कुण्डलिनी-स्थान है। योगी इस योनि स्थान को बायें पैर की एड़ी से दबा कर दायें पैर की एड़ी को मेढ्र (उपस्थ) पर लगा ले, शरीर को सीधा रखे, सभी इन्द्रियों को वश में रखे, भ्रू के मध्य में दृष्टि को स्थिर कर बिना हिले-डुले रहे, यही मोक्ष के दरवाजे को खोलनेवाला सिद्धासन कहा गया है।

यह आसन सिद्धों को भी सिद्धि प्रदान करनेवाला है। इस सिद्धासन के अभ्यास से साधक को योगज्ञान प्राप्त हो जाता है। वायु के अभ्यासी के लिये यह आसन बड़ा उपयोगी है। योगी संसार-सागर से पार होकर मुक्तिपूर्वक परम गति पाता है। इसके ध्यान मात्र से योगी पाप से छूट जाता है।

येनाभ्यासवशात् शीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात् ।
सिद्धासनं सदा सेव्यं पवनाभ्यासिना परम् ॥
ये संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम् ।
नातः परतरं गुह्यासनं विद्यते भुवि ।
येनानुध्यानमात्रेण योगी पापाद् विमुच्यते ॥
(शिवसंहिता ३ । १०३—१०४)

सिद्धासन का अभ्यास अत्यन्त शुभकारी और परमोपयोगी है।

प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता। रेचकपूरककुम्भक संघटकरणानि चत्वारि प्राणायामलक्षणानि ॥ ३५ ॥

शरीर की नाड़ियों में प्राण के प्रवाह के प्रयासपूर्वक उसे स्थिर रखने की क्रिया ही प्राणायाम है। रेचक, पूरक, कुम्भक और प्राण-अपान का मेलन—संघटकरण प्राणायाम के चार भेद हैं। ये ही प्राणायाम के लक्षण हैं ॥ ३५ ॥

विशेष—गोरखनाथजी ने शरीर में जीवनी-शक्ति को अक्षुण्ण रखने के लिये प्राणायाम पर विशेष बल दिया है। रेचक वायु को बाहर निकालना है, पूरक में नासारन्ध्र से वायु को भीतर भरा जाता है और शरीर के भीतर वायु को स्थिर रखने की क्रिया कुम्भक है, प्राणवायु और अपानवायु का ऐक्य ही संघटकरण है। योगियों ने प्राणायाम को पाप को जलाने वाला पावक कहा है और संसार-सागर का महासेतु बताया है। प्राणायाम में ही योगी का मोक्षदायक धर्म प्रतिष्ठित है तथा उसके सभी दोष—विकार नष्ट होते हैं।

प्राणायामे महान्धर्मो योगिनो मोक्षदायकः ।
प्राणायामे दिवारात्रौ दोषजालं परित्यजेत् ॥
(विवेकमार्तण्ड ११४)

हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम की महत्ता और विधि पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। प्राणवायु के स्थिर होने पर ही चित्त निश्चल होता है। चित्त-वृत्ति का निरोध होता है। षट्कर्म धौति, वस्ति, कपालभाति, नौलि, नेति, त्राटक आदि क्रियाओं से शरीर का शोधन होने पर नाड़ियाँ मलरहित हो जाती हैं।

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यंकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥
प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ।
(हठयोगप्रदीपिका २ । ३६–३७)

अपान और प्राण के एक होने पर वायु की सुषुम्ना में ऊर्ध्वगति होती है, यह केवल कुम्भक की सिद्धि से ही सम्भव है। रेचक और पूरक छूट जाते हैं तथा प्राण की केवल कुम्भक से शरीर के भीतर स्थिरता स्थापित हो जाती है। अपान-प्राण के संघटकरण पर गीता में उल्लेख है कि अनेक (दूसरे) योगी अपानवायु में प्राणवायु को हवन करते हैं, अन्य प्राणवायु में अपान-वायु को हवन

करते हैं, अन्य नियमित आहार करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपान की गति रोक कर प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं। ये सभी यज्ञों द्वारा पापों का नाश करनेवाले और यज्ञों को जानने वाले हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणोऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ।
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥
(गीता ४ । २९-३०)

महर्षि पतञ्जलि ने आसन की अभ्यास-सिद्धि के बाद श्वास-प्रश्वास के गति-विच्छेद को प्राणायाम कहा है। गति-विच्छेद का आशय है गति का रुक जाना, गति-विच्छेद ही प्राण की स्थिरता है, जिसका संकेत महायोगी गोरखनाथजी ने किया है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥
(योगदर्शन २ ४९)

पतञ्जलि ने भी गोरखनाथजी की ही तरह प्राणायाम के चार भेद स्वीकार किये हैं, वे बाह्य (रेचक), आभ्यन्तर (पूरक) और स्तम्भ (कुम्भक) की वृत्ति वाले हैं और बाह्य-आभ्यन्तर विषय-वृत्ति का त्याग ही चौथा (संघटकरण) प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः । ……… …बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।
(योगदर्शन २।५०-५१)

प्राणवायु को नासारन्ध्रों से यथानुक्रम बाहर निकालना और देखना कि कहाँ कितने समय तक वह स्थिर है, रेचक है। प्राणवायु नासारन्ध्रों से यथानुक्रम भरना पूरक है और शरीर के भीतर प्राण के जाने और बाहर निकलने की गति का अभ्यास न कर, वह जहाँ हो, उसकी गति को स्तम्भित कर देना कुम्भक है। बाहर और भीतर जाने-आने वाले प्राण की गति का त्याग कर देने से मन को इष्ट-चिन्तन में लगा देना और देश-काल-संख्या के ज्ञान के बिना प्राण की गति का (जिस किसी देश में-सुषुम्ना में) ठहरना चौथा प्राणायाम है। यह राजयोग का

प्राणायाम है । यही प्राण-अपान अथवा अपान-प्राण का पारस्परिक हवन अथवा यज्ञकर्म है । यही संघटकरण प्राण-अपान का मेलन है । महायोगी गोरखनाथ जी ने कहा है कि अपान-वायु के निरोध से देह में स्थित प्राणवायु का उसमें एकश्वासमय होकर ऊर्ध्वगामी होना प्राणापान के मेलन अथवा ऐक्य का स्वारस्य है ।

प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात् ।
एकश्वासमयो भूत्वोद्घाटयेद् गगने गतिम् ॥
(विवेकमार्तण्ड १०४)

महर्षि घेरण्ड का कथन है कि प्राणायाम के साधन से आकाशगमन, रोगनिवृत्ति तथा कुण्डलिनी का जागरण होता है । चित्त में आनन्द उत्पन्न होता है और प्राणायाम का अभ्यास करने वाला सुखी होता है । प्राणायाम से उन्मनी सिद्ध होती है ।

प्राणायामात् खेचरत्वं प्राणायामाद् रोगनाशनम् ।
प्राणायामाद् बोधयेच्छक्तिं प्राणायामान्मनोन्मनी ।
आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत् ॥
(घेरण्ड-संहिता ५।५६)

प्राणायाम के अभ्यास से ही अजपा गायत्री सिद्ध होती है, साधक आकाश-चक्र में शिव का साक्षात्कार करता है ।

प्रत्याहारमिति चैतन्यतुरङ्गाणां प्रत्याहरणं विकारग्रसन उत्पन्नविकारस्यापि निवृत्तिर्निर्भातोति प्रत्याहार लक्षणम् ॥३६॥

प्रत्याहार का वर्णन किया जाता है । चैतन्य आत्मा के इन्द्रियरूपी घोड़ों के (उनके शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्धादि में) प्रत्याहरण से उनके विकारग्रस्त होने से उत्पन्न विकारों की समाप्ति हो जाती है—यही प्रत्याहार का लक्षण है ॥ ३६ ॥

विशेष—प्रत्याहार के सम्बन्ध में हमारे औपनिषद वाङमय तथा योग-शास्त्रों में विशद विवेचन उपलब्ध होता है। महायोगी गोरखनाथ ने इन्द्रियों को तुरंग माना हैं, इसी तरह उपनिषदों में इन्द्रियों को तुरंग (घोड़ों) के रूप में

परिलक्षित किया गया है। यम ने नचिकेता को समझाया है कि शरीर में जीवात्मा रथ का स्वामी (रथी) है, शरीर ही रथ है, बुद्धि इस रथ का सारथी है, मन लगाम है, ज्ञानियों ने इन्द्रियों को घोड़े कहा है, विषय उन घोड़ों के विचरने का मार्ग है, शरीर, इन्द्रिय और मन के साथ चैतन्य जीवात्मा रहता है। जो सदा विवेकहीन बुद्धिवाला और चंचल मन से रहता है, उसकी इन्द्रियाँ असावधान सारथी के दुष्ट घोड़ों की भाँति वश में न रहनेवाली हो जाती हैं। जो सदा विवेकयुक्त बुद्धि तथा वश में किये हुए स्थिर मन से सम्पन्न है, उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथी के अच्छे घोड़ों की तरह वश में रहती हैं।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
(कठोपनिषद् १।३।३-६)

गोरखनाथजी ने इन्हीं घोड़े के समान इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहारित कर आत्ममुखी करने पर बल दिया है। श्रीगीता में भी कहा गया है कि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषय से निगृहीत हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २।६८)

इन्द्रियों को उनके विषयों से मोड़कर आत्मचिन्तन में मन के साथ जोड़ देना प्रत्याहार की सिद्धि है। इन्द्रियों का राजा मन है। इसी लिये मन को प्रत्याहारित करने पर भी गोरखनाथजी ने बल दिया है। सावधानी की बात यही है कि इसे पीठ की ओर (अ-पूठौ), पीछे जहाँ से इसकी चंचलता आरम्भ होती है, वापस ले जाना चाहिये, मकड़ी के तार की तरह वापस ले जाना चाहिये। जिस तरह मकड़ी तार (जाल) से बाहर निकलने पर उसी में वापस

जाने में सुरक्षा समझती है, इसी तरह मन का धर्म स्थैर्य्य है, स्थिरता ही उसकी सुरक्षा है। यह इन्द्रियरूपी घोड़ों के लिये प्रग्रह--लगाम है।

मन मकड़ी का ताग ज्यूं उलटि अपूठौ आंणि।
(गोरखवानी सबदी २३४)

प्रत्याहार इन्द्रियविजय का महान् साधन है। अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर योगसाधक की इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं।

स्वविषयसम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।

(पातञ्जलयोगदर्शन २। ५४-५५)

इन्द्रियों की वश्यता, प्राण और मन की स्थिरता पर निर्भर है। हठयोग की साधना में स्पष्ट निर्देश है कि शरीर में प्राण की स्थिरता से ही मन स्थिर होता है, इसलिये प्राणसाधना इन्द्रियों के प्रत्याहार की दिशा में आवश्यक है। प्रत्याहार की सिद्धि से काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह आदि छः शत्रुओं का नाश हो जाता है। जहाँ-जहाँ मन जाता है, उसे वहाँ-वहाँ से लौटा कर आत्मा के वश में करना चाहिये, यही प्रत्याहार है। महर्षि घेरण्ड की दृष्टि में :

यतो यतो मनश्चरति चाञ्चल्यवशतः सदा।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(घेरण्डसंहिता ४। २)

रेचक-पूरक-कुम्भक, त्रयक्रमपूर्वक बारह बार प्राणायाम कर वायु को शरीर के भीतर स्थिर करने से मन स्थिर होता है और प्राणायाम के द्वारा इस तरह इन्द्रियों का प्रत्याहार हो जाता है।

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः।
(विवेकमार्तण्ड ११७)

शिवसंहिता में प्रत्याहार के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है कि जब योग-साधक एक प्रहर तक वायु-धारण की शक्ति प्राप्त करता है, तब प्रत्याहार होता है। योगसाधक को जिस-जिस पदार्थ की जानकारी हो, उसमें उसे आत्मभाव

करना चाहिये । जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का बोध होता हो, उसी में आत्मभाव करने से इन्द्रियजय होना ही प्रत्याहार है ।

यं यं जानाति योगीन्द्रस्तं तमात्मेति भावयेत् ।
यैरिन्द्रियैर्यद्विधानस्तदिन्द्रियजयो भवेत् ॥
(शिवसंहिता ३ । ६८)

प्रत्याहार की सिद्धि ही धारणा, ध्यान और समाधि में आत्मसाक्षात्कार अथवा परमात्म पद में स्वरूपावस्थान का सोपान है ।

धारणेति सा बाह्याभ्यन्तर एकमेवनिजतत्वस्वरूपमेवान्तःकरणेन साधयेद् यथा यद्यदुत्पद्यते तत्तन्निराकारे धारयेत् स्वात्मानं निर्वातदीपमिव संधारयेदिति धारणा-लक्षणम् ॥ ३७ ॥

(धारणा अष्टांगयोग का छठा अंग है, इसका निरूपण किया जाता है ।) शरीर से बाहर-भीतर एक ही निज तत्वस्वरूप (आत्मा) व्याप्त है, अन्तःकरण से इस तरह की भावना ही धारणा है । जो-जो भौतिक प्रपञ्च उत्पन्न होता है, उसकी निराकार आत्मा रूप में धारणा करनी चाहिये और वायुरहित दीपक के निश्चल प्रकाश के समान (प्रपञ्चातीत) आत्मचैतन्य का ही चिन्तन करना चाहिये । यही धारणा का लक्षण है ॥ ३७ ॥

विशेष—धारणा, ध्यान और समाधि—अष्टांगयोग के तीन अंग स्वरूपावस्थान के यथाक्रम परस्पर सम्बद्ध-अन्योन्याश्रित सोपान हैं, पर इनमें से किसी एक के भी आश्रय से स्वरूप-प्राप्ति होती है—ऐसा भी कहा जा सकता है । पाँच तत्व—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश की धारणा के सम्बन्ध में हठयोगशास्त्रों में विशद विवेचन किया गया है । पृथ्वी तत्व की धारणा का वर्णन है कि जिस साधक को भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश की धारणा हो जाती है, उसका चित्त निश्चल हो जाता है ।

या पृथ्वी हरितालहेमरुचिरा तत्त्वं लकारान्वितं
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदिस्थायिनी ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये

देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद् भुवो धारणा।
अर्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्त्वं स्थितं
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये
देषा दुःसहकालकूटजरणी स्यादम्बवी धारणा॥
यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणंज्वल-
त्तेजोरेफयुक्तं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत्सङ्गतम्।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा विदधती वैश्वानरी धारणा॥
यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरन्तरे
तत्त्वं वायुमयंयकारसहितं तत्रेश्वरो देवता।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा खेगमनं करोति यमिनां वै वायवी धारणा।
आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद् ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम्।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा।

(विवेकमार्तण्ड १५८–१६२)

यह हरिताल स्वर्ण के समान रुचिर है, यह 'ल' कार बीज से युक्त है, इसके अधिष्ठातृ देवता ब्रह्मा हैं, यह चौकोर है, हृदय में स्थित है, मनसहित प्राण को इसमें लीन कर लेना ही पृथ्वीतत्व की धारणा है, इसका पाँच घड़ी (दो घंटे) तक अभ्यास करना चाहिये, इसके प्रभाव से पृथ्वीतत्व वश में हो जाता है। (इस धारणा के प्रभाव से साधक मृत्यु को वश में कर लेता है।) जलतत्व अर्धचन्द्राकार कुन्द पुष्प के समान श्वेत है, यह कण्ठ में अमृतरूप वकार बीजयुक्त के समान स्थित है, विष्णु इसके अधिष्ठातृ देवता हैं, इस जलतत्व की प्राण और मन का विलय कर पाँच घड़ी तक धारणा करनी चाहिये, इससे दुःसह कालकूट विष भी भस्म हो जाता है, यह वारुणी धारणा है। इस धारणा से न तो जल का भय रहता है और न जल से मृत्यु होती है। अग्नितत्व तालु में स्थित है, यह इन्द्रगोप के समान लाल, मूँगे के समान रुचिर है, यह त्रिकोण है, तेजःस्वरूप 'र' बीज से युक्त है। इसके अधिष्ठातृ देवता रुद्र हैं, चित्त को प्राण में लीन कर इस तत्व की पाँच घड़ी तक धारणा करनी चाहिये, इससे अग्नितत्व

वश में हो जाता है, यह वैश्वानरी धारणा है। वायुतत्व सुरमा के रंग का है, यह भ्रू में स्थित है, इसके अधिष्ठातृ देवता ईश्वर हैं, इसका बीज 'य' है। मन-प्राणसहित वायुतत्व की धारणा करनी चाहिये, पाँच घड़ी तक की धारणा से साधक को आकाश-गमन की शक्ति प्राप्त हो जाती है। यह वायवी धारणा है। आकाशतत्व स्वच्छ जल के समान निर्मल है, इसका बीज 'ह' कार है, इसके अधिष्ठात्र देवता नाथस्वरूप सदाशिव हैं, यह तत्व ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है, मन और प्राण को लय कर पाँच घड़ी तक साधक को आकाशतत्व की धारणा करनी चाहिये, यह नभोधारणा है, इसके अभ्यास के फलस्वरूप मोक्ष का बन्द दरवाजा खुल जाता है। गोरखनाथजी की सबदी (गो० बा० सबदी १६८) है कि—आकास तत सदासिव जांण) । इन पाँच महाभूतों की धारणा से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

महर्षि पतञ्जलि का कथन है कि शरीर के बाहर या भीतर—कहीं एक विशेष देश (स्थान) में चित्त को ठहराना ही धारणा है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।
(योगदर्शन ३ । १)

जहाँ चित्त को लगाया जाता है, उसी ध्येय में चित्त की एकाग्रता ध्यान है और जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा अथवा तदाकार हो जाता है, तब वही समाधि है। इन तीनों धारणा, ध्यान और समाधि को महर्षि पतञ्जलि ने संयम कहा है। ये तीनों अन्तरंग साधन हैं। पञ्च भूततत्व की वश्यता के सम्बन्ध में योगदर्शन में कहा गया है :

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।
(योगदर्शन ३ । ४४)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पाँच भूत हैं। इनमें प्रत्येक की पाँच अवस्था होती है। पहली स्थूलावस्था है। इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनकी स्थूलावस्था है। दूसरी स्वरूपावस्था है। पृथ्वी की मूर्ति, जल का गीलापन, अग्नि की उष्णता और प्रकाश, वायु की गति और कम्पन, आकाश का अवकाश स्वरूपावस्था है। तीसरी सूक्ष्मावस्था है। कारण-अवस्था या तन्मात्रा ही सूक्ष्मावस्था है। पृथ्वी की गन्ध तन्मात्रा, जल

की रसतन्मात्रा, अग्नि की रूपतन्मात्रा, वायु की स्पर्श तन्मात्रा और आकाश की शब्दतन्मात्रा ही सूक्ष्मावस्था है। चौथी अन्वय–अवस्था है। पाँचों भूतों में तीनों गुणों के स्वभाव (प्रकाश, क्रिया और स्थिति) की व्याप्ति ही अन्वय-अवस्था है। पाँचवीं अर्थवत्व–अवस्था का तात्पर्य है कि पाँचों भूत पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये हैं। इन भूतों की प्रत्येक अवस्था के क्रम से सम्पूर्ण अवस्थाओं में संयम कर जब योगसाधक इन को प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उसका इन भूतों पर–तत्वों पर अधिकार हो जाता है।

अथ ध्यानमिति कश्चन परमाद्वैतस्य भावः स एवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वरूपमेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यानलक्षणम् ।। ३८ ।।

(अष्टांगयोग के सातवें अंग) ध्यान का वर्णन किया जाता है। (नाम-रूप से परे) अद्वैतस्वरूप परमात्मा है, यही आत्मा है। जो-जो वस्तु प्रतीत हो, उस में आत्मस्वरूप की ही भावना करनी चाहिये, समस्त भूतमात्र में समदृष्टि—आत्मदृष्टि अथवा आत्मस्वरूप की (सभी प्राणियों में एकमात्र परमात्मा की व्याप्ति की) भावना ही ध्यान है। यही ध्यान का लक्षण है ।। ३८ ।।

विशेष—महायोगी गोरखनाथजी ने अष्टांगयोग के सातवें अंग ध्यान की सार्थकता के लिये निराकार आत्मस्वरूप में तथा सम्पूर्ण चैतन्य—परमात्मा की अभिव्यक्ति में समदृष्टि को बड़ा महत्व दिया है। अपनी एक संक्षिप्त रचना में उन्होंने कहा है कि एकमात्र ध्येय—ध्यान का विषय निरञ्जन है, निरञ्जन के उपरान्त ध्यान के लिये रह ही क्या जाता है :

निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं।
(गोरखबानी–सिष्टपुराण)

गोरखनाथजी का कथन है कि ध्यान दर्शन है, चैतन्य तत्व का सर्वत्र अनुभव ही दर्शन अथवा ध्यान है। साधक आज्ञाचक्र में स्थित दोनों भ्रू के मध्य में प्रदीप्त ज्ञानदीप्ति-–ज्ञाननेत्र अथवा शिवनेत्र की ज्योति से समृद्ध होकर दर्शन की सीमा में—ध्यान की दशा में अलखनिरञ्जन—परमेश्वर शिव में प्रतिष्ठित हो जाता है।

दरसण माहीं आपै आप ।।
(गोरखबानी सबदी २७२)

महर्षि पतञ्जलि की दृष्टि में जिस ध्येय वस्तु में चित्त लगाया जाय, उसी में उसका एकाग्र हो जाना, ध्येय मात्र को एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह चलना, किसी दूसरी वृत्ति का बीच में न उठना ध्यान है।

'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।'
(योगदर्शन ३ । २)

ध्यान का विशिष्ट उपक्रम आत्मा में चित्तवृत्ति का लय होना है। सहस्रार कमल का ज्ञान प्राप्त होने पर साधक की चित्तवृत्ति लय को प्राप्त हो जाती है। योगी की चित्तवृत्ति जब लय को प्राप्त होती है, तब अखण्ड ज्ञानस्वरूप निरंजन आत्मा का प्रकाश होता है। ब्रह्माण्ड में अपने (आत्मचैतन्य) प्रतीक का ध्यान करना चाहिये, जब ध्यान में चित्त स्थिरता को प्राप्त हो जाय, तब उसमें महत् शून्य का चिन्तन करना चाहिये। आदि, मध्य और अन्तरूप शून्य में करोड़ों सूर्य के समान प्रभावाले और करोड़ों चन्द्रमा के समान शीतल प्रकाशवाले शून्य रूप आत्मा के दर्शन (ध्यान) का अभ्यास करने वाले साधक को सिद्धि प्राप्त होती है।

चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन् योगी भवेद् ध्रुवम् ।
तदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ।।
ब्रह्माण्डबाह्ये संचिन्त्य स्वप्रतीकं यथोदितम् ।
तमावेश्य महच्छून्यं चिन्तयेदविरोधतः ।।
आद्यन्तमध्यशून्यं तत्कोटिसूर्यसमप्रभम् ।
चन्द्रकोटिप्रतीकाशमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात् ।।
(शिवसंहिता ५ । १९५-१९७)

इस प्रकार का ध्यान बड़ा उपयोगी होता है और साधक का मन अथवा चित्त जब वृत्तिहीन हो जाता है, तब वह पूर्ण ज्ञान से युक्त होकर आत्मस्वरूप में स्थित होता है।

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ।।
(शिवसंहिता ५ । २०६)

महर्षि घेरण्ड ने ध्यान के तीन भेद बताये हैं। पहला स्थूल ध्यान है, दूसरा ज्योतिर्ध्यान है और तीसरा सूक्ष्मध्यान है। जिस ध्यान में मूर्ति, इष्टदेव अथवा गुरु का चिन्तन हो, वह स्थूल ध्यान है, जिसमें तेजोमय ब्रह्म या शक्ति की भावना हो वह ज्योतिर्ध्यान है, जिसमें बिन्दुमय ब्रह्मकुण्डलिनी का ध्यान हो, वह सूक्ष्म ध्यान है।

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्मकुण्डली परदेवता॥
(घेरण्डसंहिता ६। १)

भ्रूमध्य में और मन के ऊर्ध्व भाग में ॐकारमय शिखामालायुक्त ज्योति का ध्यान ही ज्योतिर्ध्यान अथवा तेजो ध्यान है। शाम्भवी मुद्रा के अभ्यास द्वारा कुण्डलिनी महाशक्ति का ध्यान सूक्ष्म ध्यान है।

महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि योगी के हृदय में विद्यमान आत्मवस्तु का निश्चल चिन्तन ही ध्यान है। सगुण ध्यान, निर्गुण ध्यान के रूप में ध्यान के दो प्रकार हैं।

सर्वं चिन्तासमावर्ति योगिनो हृदि वर्तते।
या तत्वे निश्चला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते॥
द्विधा भवति तद्ध्यानं सगुणं निर्गुणं तथा।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं विदुः॥
(विवेकमार्तण्ड १६५-१६६)

गुणमात्रोपलक्षित वर्णपद सगुण ध्यान का विषय है। शुद्धचैतन्यविषयक ध्यान निगुर्ण ध्यान है। निर्गुण ध्यान का फल समाधि है।

निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्।
(योगतत्वोपनिषद्)

ध्यानयोग के द्वारा साधक आत्मसाक्षात्कार में समर्थ होता है। साधक को भावना करनी चाहिये कि—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥
(श्वेताश्वतर० ६ । १९)

मैं कलाओं से रहित, क्रियारहित, शान्त, निर्विकार, निरञ्जन, अमृत के परमसेतु, जले इन्धन से युक्त अग्नि की भाँति ज्योतिःस्वरूप परमात्मा का चिन्तन करता हूँ। यही योगसाधक के लिये निराकार आत्मस्वरूप के ध्यान का गोरखनाथ जी द्वारा भी निर्दिष्ट क्रम है।

अथ समाधिलक्षणं सर्वतत्त्वानां समावस्था निरुद्यमत्त्व मनायासस्थितिमत्त्वमिति समाधिलक्षणम्। इत्यष्टाङ्गयोग-लक्षणम् ॥ ३९ ॥

समाधि के लक्षण का निरूपण किया जाता है। समस्त तत्वों की समावस्था-गत अनायास, स्वाभाविक (सहज) स्थिति ही समाधि का लक्षण है। (इस वर्णन में समाधिसिद्धि राजयोग परिलक्षित है।) इस तरह अष्टांगयोग के लक्षण का निरूपण—वर्णन किया गया ॥ ३९ ॥

विशेष—समस्त तत्वों की समावस्था का आशय है तत्वों की अभेदरूपता—आत्मस्वरूप में विद्यमानता। इस समावस्था में सहज प्रतिष्ठा ही समाधि (राजयोग) की सिद्धि है। यही उन्मनी अथवा सहजावस्था है। समाधि के दो रूप हैं—पहला सविकल्प (सबीज अथवा सम्प्रज्ञात) समाधि है; दूसरा निर्विकल्प (निर्बीज अथवा असम्प्रज्ञात) समाधि है। जब तक ध्याता, ध्येय और ध्यान—इन तीनों का साधक को प्रतिभास होता है, तब तक सम्प्रज्ञात समाधि है और ध्याता और ध्यान ध्येय में समाहित—आकारित हो जाते हैं, तब निर्विकल्प समाधि की अवस्था समझनी चाहिये। इस समाधि की सिद्धि होने पर योगी को बिना परिश्रम के ही सहज रूप से जाग्रत् अवस्था में भी समाधि लगी रहती है, सर्वत्र उसकी चित्तवृत्ति आत्माकारित हो उठती है,। उन्मनी समाधि के परे की अवस्था शून्य है, योगसिद्ध पुरुष को स्वरूप में स्थिति का फल शून्य समाधि है। शून्य समाधि में परिचय (आत्मस्वरूप ज्ञान अथवा स्वरूपबोध) से अटल पद—शाश्वत सनातन पद में स्थैर्य्य की प्राप्ति होती है।

सुंनि कै परचै भया सथोर। निश्चल जोगी गहर गंभीर॥
(गोरखबानी सबदी २३१)

महर्षि पतञ्जलि ने समाधि के स्वरूप का वर्णन किया है कि जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति होती है और चित्त का निजस्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब यह ध्यान ही समाधि हो जाता है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
(योगदर्शन ३।३)

महाराजा भोज ने योगदर्शन के उपर्युक्त सूत्र के भाष्य में समाधि का लक्षण बताया है कि जिसमें मन विक्षेपों को हटाकर यथार्थता से धारण किया जाता है—एकाग्र किया जाता है, वही समाधि है।

'सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते, विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः।'

(भोजवृत्ति ३।३)

समाधि में ब्रह्म अपने साकार रूप में—ध्येय रूप में प्रतिभासित होता है और निराकार रूप में (निर्वीज समाधि में) ज्योतिस्वरूप अभिव्यक्त अथवा प्रकाशित होता है। यह ब्रह्मपद मन-वचनसापेक्ष नहीं है, साधन की सिद्धि से अमल ज्ञानरूप में स्वयं स्फुरित (प्रकाशित) होता है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद् ध्रुवम्॥
(शिवसंहिता ५।२१६)

महर्षि घेरण्ड का कथन है कि कुम्भक की सिद्धि के द्वारा मन को आत्मा के स्वरूपभूत करना चाहिये, इस तरह परमात्मा के योग से समाधि राजयोग-समाधि है।

परात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात्॥
(घेरण्डसंहिता ७।१६)

हठयोगप्रदीपिका में उल्लेख है कि योगी जाग्रत्, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं से रहित और समस्त चिन्ताओं से परे होकर शव के समान शरीर धारण करता है, ब्रह्मरन्ध्र में प्राण लीन कर लेता है, वह निस्सन्देह मुक्त है।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ।
मृतवत् तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥
(हठयोग प्र० ४ । १०७)

महायोगी गोरखनाथजी ने विवेकमार्तण्ड में कहा है कि जब जीवात्मा और परमात्मा का समत्व—ऐक्य स्थापित हो जाता है, तो वही समाधि है। संकल्प शून्यता की स्थिति प्रत्यक्ष हो जाती है।

यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
समस्तनष्टसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥
(विवेकमार्तण्ड १९६)

निरालम्ब, निराकार, निरामय, निराधार परब्रह्म में—अलखनिरञ्जन परमेश्वर में योगाभ्यास के फलस्वरूप योगी स्वस्थ हो जाता है। यही अष्टांगयोग की महती प्रतिष्ठा अथवा सिद्धि है। गीता के छठें अध्याय के दसवें श्लोक से २९वें श्लोक तक अष्टांगयोग की साधना का ही वर्णन यथाक्रम उपलब्ध होता है। गीता में वर्णन है कि मन और इन्द्रियों सहित शरीर को वश में रखनेवाला, आशारहित, संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थान में स्थित होकर आत्मा को निरन्तर परमात्मा में लगाये।…… अत्यन्त वश में किया हुआ चित्त जिस समय परमात्मा में अच्छी तरह स्थित हो जाता है, उस समय सम्पूर्ण भोगों में स्पृहारहित साधक योगयुक्त हो जाता है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्तः आसीत मत्परः ॥
(गीता ६ । ११–१४)

क्रम-क्रम से अभ्यास करता हुआ योगी उपरति को प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा मन को परमात्मा में स्थित करके परमात्मा के सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता ६ । २९)

सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकीभाव से स्थितिरूप योगयुक्त आत्मावाला तथा सर्वात्मदर्शी योगी आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में स्थित और सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में कल्पित देखता है । महायोगी गोरखनाथ ने यमनियमासनप्राणयाम-प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधियुक्त योगसाधना के द्वारा अलख निरञ्जन परमेश्वर की अभिव्यक्ति—सर्वत्र परिव्याप्ति का अनुभव ही श्रेयस्कर स्वीकार किया है । द्वैताद्वैतविवर्जित स्वसंवेद्य परमतत्व की रसानुभूति ही योगकल्पतरु का सिद्ध (परिपक्व) फल है ।

तशिवगोरक्षरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ द्वितोयोपदेशः ।

तीसरा उपदेश

[पिण्डसंवित्ति]

पिण्डमध्ये चराचरं यो जानाति स योगी पिण्डसंवित्तिर्भवति ॥ १ ॥

(पिण्डविचार के उपरान्त उसके फलस्वरूप पिण्डज्ञान का उपदेश किया जाता है। यद्यपि हाड़मांसरक्तमज्जामेदादि से गठित व्यष्टिपिण्ड प्रत्यक्ष है और इस सम्बन्ध में इसका निरूपण असंगत-सा है तथापि इसमें चराचर समस्त ब्रह्माण्ड परिव्याप्त है, इसलिये पिण्डज्ञान-निरूपण का फल है पिण्ड में व्याप्त समस्त ब्रह्माण्ड की परिचयप्राप्ति जो योगी इस पिण्ड में चर, अचर, समस्त ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त करता है, वह पिण्डसंवित्ति (पिण्डज्ञानी) हो जाता है। योगी पिण्ड (समष्टि-व्यष्टि पिण्ड) का ज्ञानी हो जाता है ॥ १ ॥

विशेष—व्यष्टि पिण्ड (शरीर में अस्मदादि अन्तःकरणाभिमानी जीव (-आत्मा) है और समष्टि पिण्ड में विराट् हिरण्यगर्भादि (परमात्मा) परिव्याप्त हैं। समष्टिपिण्ड व्यापक, अधिक शक्तिशाली है, सर्वेश्वर सत्यसंकल्प होने से अस्मदादि शरीरों का कारण और नियन्ता है, व्यष्टि पिण्ड (शरीर) विनाशी है, क्षणभंगुर है, उसका अभिमानी जीव कर्मपाश से आबद्ध है। योग-साधक ब्रह्माण्डगत कार्य-व्यवहार का ज्ञान अपने व्यष्टि पिण्ड में प्राप्त कर, कर्मपाश से मुक्त होकर परमशान्त और सच्चिदानन्दरूप आदिनाथ, अलख निरञ्जन परमेश्वर के स्वरूप का बोध प्राप्त कर तदाकार हो जाता है।

सप्त पाताल तथा अनेक लोकादि

कूर्मं पादतले वसति पातालं पादाङ्गुष्ठे तलातलमङ्गुष्ठाग्रे महातलं पादपृष्ठे रसातलं गुल्फे सुतलं जङ्घायां वितलं जान्वोरतलमूर्वोरेव सप्तपातालं रुद्रदेवाधिपत्ये तिष्ठति पिण्डमध्ये क्रोधरूपी भावः स एव कालाग्निरुद्रः ।। २ ।।

कूर्म पैर के नीचे (पादतल में) व्यष्टि शरीर के आश्रय के रूप में स्थित है (जिस तरह कूर्म---शिवशक्ति की आत्माभिव्यक्ति का एक रूप ब्रह्माण्ड-शरीर का आश्रय है) । नीचे के सात लोक—सप्तपाताल हमारे व्यष्टि-शरीर में स्थित हैं । पैर के अंगूठे में पाताल, अंगूठे के अग्रभाग में तलातल, पादपृष्ठ में रसातल गट्टे (गुल्फ) में सुतल, जाँघ में वितल और जानु में अतल स्थित है ।इन सातों पाताल के अधिष्ठातृ देवता रुद्र हैं । पिण्ड में क्रोधरूपी भाव ही कालाग्निरुद्र है । रुद्र व्यष्टि पिण्ड (शरीर) में क्रोध के रूप में निवास करता है ।। २ ।।

विशेष---योगी का लक्ष्य एक आत्मा---अलख निरञ्जन, द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्मा को समस्त प्रकार के शरीरों में देखना और समस्त प्रापंचिक सत्ताओं के मौलिक आध्यात्मिक स्वरूप को पहचानना है । यही समस्त पिण्डों, प्रापंचिक सत्ताओं तथा ब्रह्माण्ड-व्यस्था का सच्चा ज्ञान है । जब योग-साधक की व्यावहारिक चेतना यथेष्ट शुद्ध और आलोकित हो जाती है, तब पूर्ण का प्रत्येक अंश में अनुभव किया जाता है । सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का प्रत्येक व्यष्टि-पिण्ड में अनुभव किया जाता है तथा समस्त व्यष्टि-शरीरों की मौलिक एकता स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है । जो योगसाधक सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड-व्यवस्था का व्यष्टि-शरीर में अनुभव करता है, वही शरीर का सच्चा ज्ञाता है । निर्वाण---परम कैवल्य पद की प्राप्ति अपने शरीर में ही प्रत्यक्ष है । उस निर्वाण-पद की खोज काया में करनी चाहिये, ऐसा गोरखनाथजी का ज्ञानोपदेश है ।

जोग जुक्त जब पाम्रो ग्यांना । काया षोजौ पद निरवाना ।।
सप्तदीप नवखंड ब्रह्मण्डा । धरती आकास देवा रवि चंदा ।।
तजिबा तिहुँ लोक निवासा । तहाँ निरंजन जोति प्रकासा ।।
(गोरखबानी-प्राणसंकली २-३)

अलख निरञ्जन की ज्योति, जो सप्त-दीप, नौ खण्ड, समस्त ब्रह्माण्ड, धरती, आकाश, देवताओं, रवि और चन्द्रमा तथा तीनों लोक में प्रकट है, हमारे व्यष्टि-पिण्ड में अभिव्यक्त है। समस्त पिण्ड-ब्रह्माण्ड-व्यवस्था में अलख निरञ्जन ही ज्योतित है, समस्त ब्रह्माण्ड उसी की अभिव्यक्ति है।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-
ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च
येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥
(मुण्डकोपनिषद् १।९)

परमेश्वर से ही समस्त पर्वत, समुद्र उत्पन्न हैं, अनेक आकारवाली नदियाँ बह रही हैं। समस्त औषधि और रस उत्पन्न हैं। प्राणियों के हृदय में वही निरञ्जन परमेश्वर अधिष्ठित है, इसी परम तत्व की प्राप्ति ही योगसाधक का प्रतिपाद्य है। श्रीमद्भागवत पुराण के दूसरे स्कन्ध के पहले और पाँचवें अध्याय तथा पाँचवें स्कन्ध के चौबीसवें अध्याय में सप्तपाताल की स्थिति आदि का विशिष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। शिवसंहिता में इस देह—व्यष्टिपिण्ड को ब्रह्माण्ड कहा गया है। इसी देह में सात द्वीपों के सहित सुमेरुपर्वत, सरिता, सागर, पर्वत, क्षेत्र, नक्षत्र, ऋषि, ग्रह, सूर्य, चन्द्र आदि विद्यमान हैं।

देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागराः शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः॥
सृष्टिसंहारकर्तारौ भ्रमन्तौ शशिभास्करौ।
नभोवायुश्च वह्निश्च जलं पृथ्वी तथैव च॥
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।
मेरुं संवेष्ट्य सर्वत्र व्यवहारः प्रवर्तते।
जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः॥
(शिवसंहिता २।१–४)

तीनों लोक में जितने भी प्राणी-पदार्थ हैं, वे सभी शरीरस्थ सुमेरु—मेरुदण्ड के आश्रय में व्यवहाररत हैं।

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ।
मेरुशृङ्गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ॥
(शिवसंहिता २ । ५)

ब्रह्माण्ड-शरीर और व्यष्टि-शरीर में कोई भेद नहीं है । जिस तरह ब्रह्माण्ड शरीर में सभी देश और सुमेरु आदि स्थित हैं, उसी तरह व्यष्टि-पिण्ड में भी सुमेरु आदि स्थित हैं ।

भूर्लोकं गुह्यस्थाने भुवर्लोकं लिङ्गस्थाने स्वर्लोकं नाभिस्थाने । एवं लोकत्रय इन्द्रो देवता पिण्डमध्ये सर्वेन्द्रियनियामकः स एवेन्द्रः ॥ ३ ॥

भूः (पृथ्वी) लोक (हमारे) व्यष्टि-शरीर के मूलाधार (गुह्यस्थान) में, भुवः लोक लिङ्ग प्रदेश में और स्वः लोक नाभिदेश में स्थित हैं । (शिव-शक्ति की एक अन्य आत्माभिव्यक्ति) इन्द्र इन तीनों लोकों का नियन्ता, शासक अथवा इन्द्र कहा गया है, यही व्यष्टि शरीर और समस्त इन्द्रियों का नियामक होने से इन्द्र ही है ॥ ३ ॥

दण्डाङ्कुरे महर्लोको दण्डकुहरे जनोलोको दण्डनाले तपो लोको मूलकमले सत्यलोक एवं लोकचतुष्टये ब्रह्मादिदेवता पिण्डमध्येऽनेकमानाभिमानस्वरूपो तिष्ठति ॥ ४ ॥

मेरुदण्ड के मूल में (प्रजापति दक्ष का वास-स्थान) महः लोक है । मेरुदण्ड के कुहर (छिद्र) में जनः लोक है, मेरुदण्डनाल में तपः लोक और मूलाधार कमल (चक्र) में सत्यलोक है । इन चारों लोकों में (शिवशक्ति की ही आत्माभिव्यक्ति) ब्रह्मादि ही अधिपति हैं और इस पिण्ड में अनेकमानाभिमानरूप ब्रह्म का ही (मेरुदण्ड में) आधिपत्य है ॥ ४ ।

विशेष—महः, जनः तपः और सत्य, ये चारों लोक व्यष्टि-शरीर में सुषुम्ना नाड़ी के उच्चतर क्षेत्रों में स्थित माने गये हैं । ज्यों-ज्यों साधक समाधि के उच्चतर स्तरों पर उठकर शरीर के अन्तरतम तत्व में गहनता से प्रवेश करता है, त्यों-त्यों वह इन उच्च—सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोकों की स्थिति का अपनें शरीर के भीतर अनुभव करता है ।

विष्णुलोकः कुक्षौ तिष्ठति तत्र विष्णुर्देवता पिण्डमध्ये-ऽनेकव्यापारको भवति । हृदये रुद्रलोकस्तत्र रुद्रो देवता पिण्डमध्य उग्रस्वरूपो तिष्ठति । वक्षःस्थल ईश्वरलोकस्तत्रे-श्वरो देवता पिण्डमध्ये तृप्तिस्वरूपी तिष्ठति । कण्ठमध्ये नीलकण्ठलोकस्तत्र नीलकण्ठो देवता पिण्डमध्ये नित्यं तिष्ठति । तालुद्वारे शिवलोकस्तत्र शिवो देवता पिण्डमध्येऽनुपमस्वरूपो तिष्ठति । लम्बिकामूले भैरवलोकस्तत्र भैरवो देवता पिण्डमध्ये सर्वोत्तमस्वरूपी तिष्ठति । ललाटमध्येऽनादिलोकस्तत्रानादि देवता पिण्डमध्य आनन्द पराहंतास्वरूपी तिष्ठति । शृङ्गाटे कुललोकस्तत्रकुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये आनन्दस्वरूपी तिष्ठति । शङ्खमध्ये नलिनीस्थानेऽकुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये निरभिमानावस्था तिष्ठति । ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्मलोकस्तत्र परब्रह्म देवता पिण्डमध्ये परिपूर्णदशा तिष्ठति । ऊर्ध्वकमले लोकस्तत्र परमेश्वरो देवता पिण्डमध्ये परापरभावस्तिष्ठति । त्रिकूटस्थाने शक्तिलोकस्तत्र पराशक्तिर्देवता पिण्डमध्येऽस्ति-त्वावस्था सर्वासां सर्वकर्तृत्वावस्था तिष्ठति । एवं पिण्डमध्ये सप्तपातालसहितैकविंशति ब्रह्माण्डस्थानविचारः ॥ ५ ॥

(जिस तरह ब्रह्माण्ड में विष्णुलोकादि उच्चलोक स्थित हैं, उसी तरह व्यष्टि-पिण्ड में वर्तमान इन शिवशक्तिरूप में अभिव्यक्त उच्च सूक्ष्म लोकों का साधक दर्शन कर परमात्मा का साक्षात्कार करता है ।) हमारे व्यष्टि-पिण्ड में कुक्षि (नाभि-देश —उदर) में विष्णुलोक है, वहाँ रक्षण-पोषण आदि अनेक व्यापार (कार्य) में तत्पर भगवान् विष्णु विराजमान हैं । हृदय में रुद्रलोक है, उसमें अपने उग्र रूप में संहार आदि कार्यों में तत्पर भगवान् रुद्रदेव विद्यमान हैं । हृदय से थोड़ा ऊपर वक्षःस्थल है, उसमें ईश्वरलोक है, उसमें पिण्ड के मध्य में तृप्तिस्वरूप ईश्वर देवता विराजमान हैं । कण्ठ के मध्य में नीलकण्ठ लोक है, वहाँ नीलकण्ठ (शिव) शरीर के भीतर नित्य स्थित हैं । तालुद्वार में शिवलोक

है, वहाँ अनुपमस्वरूप भगवान् शिव पिण्ड में स्थित हैं। जिह्वामूल (लम्बिका के मूल) में भैरवलोक है, वहाँ सर्वोत्तमस्वरूप भैरव देवता विराजमान हैं। ललाटदेश में अनादि लोक है, वहाँ अनादि (शिव) पिण्ड के मध्य में आनन्दमय परम अहंतारूपी विद्यमान हैं। इस देहपिण्ड में भृकुटी से कुछ ऊपर शृङ्गाट-स्थान है, उसमें कुल लोक है, वहाँ (शक्तियुक्त) कुलेश्वर (शिव) आनन्दस्वरूप विराजमान हैं। शंख नाड़ी के ऊपर मध्य में नलिनी स्थान में अकुलेशलोक है, वहाँ अभिमान-अवस्था से रहित (निर्विकार-निरञ्जन) साक्षात् परमशिव—अकुलेश्वर देवता विद्यमान हैं। ब्रह्मरन्ध्र मे परब्रह्मलोक है, वहाँ अखण्ड-अनन्त पूर्ण परब्रह्म विराजमान है। ऊर्ध्व कमल सहस्रार में परमेश्वर—परापर भाव में विद्यमान हैं। सहस्रार के (परापर लोक के) ऊपर त्रिकूट–त्रिशिखर-लोक में (शक्तिलोक में) अपने अस्तित्वस्वरूप में सर्वनियामिका और सर्वस्व कर्तृत्वरूपा पराशक्ति विराजमान है। इस तरह व्यष्टि-पिण्ड में सप्त पातालसहित इक्कीस ब्रह्माण्ड स्थान का विचार (वर्णन) किया गया ॥ ५ ॥

विशेष—ये विष्णुलोकादि परमात्मा के ब्रह्माण्ड-शरीर के अन्तर्गत व्यावहारिक अस्तित्वों से विभिन्न स्तरों के रूप में स्वीकृत हैं। ये उच्चलोक सामान्य तथा असामान्य इन्द्रियानुभवों के क्षेत्रों के ऊपर हैं तथा उनमें से कुछ हमारी साधारण मानसिक और बौद्धिक धारणाओं के क्षेत्र के भी ऊपर हैं। गुरु के प्रसाद—अनुग्रह से हमारी चेतना आन्तरिक रूप से इन लोकों के स्तरों पर उठती है तथा शरीर के अन्तर्गत इन स्तरों के सत्य का स्पष्ट अनुभव प्रकाशित अथवा प्राप्त होता है।

चार वर्ण आदि

सदाचारतत्त्वे ब्राह्मणास्तिष्ठन्ति । शौर्ये क्षत्रिया व्यवसाये वैश्याः सेवाभावे शूद्राश्चतुष्षष्ठिकलास्वपि चतुष्षष्ठि वर्णाः ॥ ६ ॥

सदाचार में ब्राह्मण, वीरता (शौर्य) में क्षत्रिय, व्यवसाय में वैश्य, सेवाभाव में शूद्र, चौसठ कलाओं (के व्यवहार) में चौसठ तरह के (कलाव्यवसायी) लोग स्थित रहते हैं ॥ ६ ॥

विशेष—महायोगी गोरखनाथजी का कथन है कि वर्णाश्रमसम्मत आचार-विचार से सम्पन्न संयमित जीवन वाले सभी लोग योग की साधना के अधिकारी हैं और

सभी को समान रूप से स्वसंवेद्य अलखनिरञ्जन परमात्मतत्व सहज प्राप्त है। समस्त वर्ण (चारों वर्ण) परमात्मा—विराट् पुरुष के सर्वाङ्ग हैं। वेद का अनुशासन है। ब्राह्मण विराट् पुरुष के मुख से, क्षत्रिय (राजन्य) बाहु से, ऊरू से वैश्य और पद से शूद्र (सेवाभाव में तत्पर लोग) उत्पन्न हैं। प्रत्येक जीवात्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में विद्या, बुद्धि (सदाचार), वीरता, धैर्य, संतोष-सम्पन्नता और सेवाभाव से युक्त होकर परमात्म सृष्टि के संचालन में न्यूनाधिक योगदान करता है, यही इस पुरुषसूक्त के मन्त्र (ऋग्वेद १०।९०।१२) का आशय है। गीतोक्त चारों वर्ण की सृष्टि का भगवद्वचन के अनुरूप यही तात्पर्य है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
(गीता ४।१३)

अतएव पुरुषसूक्त में ऋषि का यह मन्त्रदर्शन सर्वथा सत्य है :—

ब्राह्मणोस्यमुखमासीद् बाहूराजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्ययद्वैश्यं पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥
(ऋग्वेद १०।९०।१२)

गीता में ही श्रीकृष्ण के वचन हैं कि अन्तःकरण का निग्रह करना, इन्द्रियों का दमन करना, धर्मपालन के लिये कष्ट सहना, बाहर-भीतर से शुद्ध रहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीर को सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर, परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेदादि का अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्मतत्व का अनुभव करना ब्राह्मण का स्वाभाविक कर्म है। शौर्य, तेज, धैर्य, युद्ध से न भागना, दान देना और स्वामित्व, ये क्षत्रिय के कर्म हैं। खेती, गोपालन वैश्य के कर्म हैं और सेवा में तत्परता शूद्र के कर्म में परिगणित है। अपने-अपने स्वाभाविक कर्म में प्रवृत्ति से सिद्धि प्राप्त होती है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८।४६)

जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उसकी अपने-अपने स्वाभाविक कर्म से अर्चना कर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है। विराट् पुरुष के सृष्टि-संचालन में उससे उत्पन्न प्राणी के योगदान का यही रहस्य है।

सप्त द्वीप तथा सप्त समुद्र

अथ सप्तसमुद्राः सप्तद्वीपाश्च कथ्यन्ते । मज्जाया जम्बूद्वीपोऽस्थिषु शाकद्वीपः शिरासु सूक्ष्मद्वीपश्चत्वक्षु क्रौञ्च द्वीपो रोमसु गोमय द्वीपो नखेषु श्वेतद्वीपो मांसे प्लक्षद्वीप एवं सप्तद्वीपाः ।। ७ ।।

(जिस तरह ब्रह्माण्ड-शरीर में सात समुद्र तथा सात द्वीप स्थित हैं, उसी तरह हमारे पिण्ड (शरीर) में उनकी यथास्थान स्थिति है ।) सात समुद्रों और सातों द्वीपों का वर्णन किया जाता है । हमारे व्यष्टि-पिण्ड में मज्जा में जम्बूद्वीप, हड्डी में शाकद्वीप, प्रवाहिका नाड़ियों में सूक्ष्म द्वीप, त्वचा में क्रौंच द्वीप, रोमों में गोमय द्वीप, नखों में श्वेत द्वीप और मांस में प्लक्ष द्वीप हैं । (योगसाधक को इन सातों का ध्यान करने से शरीर में ही इनके साक्षात्कार और इनमें गति करने की शक्ति प्राप्त होती है । श्रीमद्भागवत पुराण के पञ्चम स्कन्ध के बीसवें अध्याय में इन द्वीपों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है ।) हमारे व्यष्टि-पिण्ड में यही सात द्वीपों की भावना है ।। ७ ।।

मूत्रे क्षारसमुद्रो लालायां क्षीरसमुद्रः कफे दधिसमुद्रो मेदसि घृतसमुद्रो वसायां मधुसमुद्रो रक्ते इक्षुसमुद्रः शुक्रेऽमृत समुद्र एवं सप्तसमुद्राः ।। ८ ।।

(जिस तरह ब्रह्माण्ड में खार (क्षार) समुद्र, क्षीर समुद्र, दधि समुद्र, घृत समुद्र, मधु समुद्र, इक्षु समुद्र और अमृत समुद्र स्थित हैं, उसी तरह हमारे शरीर के विभिन्न द्रवों में इन सातों समुद्रों की स्थिति निरूपित की जाती है ।) मूत्र में क्षार समुद्र, लार में क्षीर समुद्र, कफ में दधि समुद्र, मेद–मज्जा में घृत समुद्र चर्बी में मधु समुद्र, रक्त में इक्षु समुद्र और वीर्य–शुक्र में अमृत समुद्र की स्थिति का ध्यान करने से (शरीर में ही) इन सातों समुद्रों का साक्षात्कार करने की सामर्थ्य योगसाधक को प्राप्त हो जाती है ।। ८ ।।

नवखण्ड

नवखण्डा नवद्वारेषु वसन्ति । भारतखण्डः कर्परखण्डः काश्मीरखण्डः श्रीखण्ड शङ्खखण्ड एकपादखण्डो गान्धार खण्डः कैवर्त्तकखण्डो महामेरुखंण्ड एवं नवखण्डाः ।। ९ ।।

हमारे व्यष्टि-पिण्ड के नवद्वारों में नवखण्ड स्थित हैं। (जिस तरह ब्रह्माण्ड-शरीर में नौ खण्ड हैं, उसी तरह हमारे व्यष्टि-पिण्ड के नौ द्वारों में ये खण्ड विद्यमान हैं।) मूल (गुदा) द्वार में भारत खण्ड, उपस्थ (लिङ्ग छिद्र) में काश्मीर खण्ड, मुख में कर्पूर खण्ड, नासिका के दाहिने रन्ध्र (छिद्र) में श्रीखण्ड और बायें रन्ध्र में शंखखण्ड, बायें नेत्र में एकपादखण्ड और दायें नेत्र में गान्धार खण्ड तथा बायें कान (के छिद्र) में कैवर्त्त खण्ड और दायें कान (के छिद्र) में महामेरु खण्ड स्थित हैं। यथास्थान इन नौ खण्डों का ध्यान करने से योगसाधक को इनका साक्षात्कार करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है ॥ ९ ॥

अष्टकुल पर्वत

मेरुपर्वतो मेरुदण्डे तिष्ठति कैलासो ब्रह्मकपाटे वसति हिमालयः पृष्ठे मलयो वामकन्धरे मन्दरो दक्षिणकन्धरे विन्ध्याद्रिर्दक्षिणकर्णे मैनाको वामकर्णे श्रीपर्वतो ललाटे एवमष्टकुलपर्वता अन्य उपपर्वताः सर्वाङ्गुलिषु वसन्ति ॥१०॥

(जिस तरह ब्रह्माण्ड में अष्टकुल पर्वत हैं, उसी तरह हमारे व्यष्टि-पिण्ड में भी उनका यथास्थान वर्णन किया जाता है।) शरीर में—मेरुदण्ड में सुमेरु पर्वत, मस्तक में कैलास पर्वत, पीठ में हिमालय पर्वत, बायें कंधे में मलय पर्वत और दायें कंधे में मन्दराचल, दायें कान में विंध्याचल, बायें कान में मैनाक पर्वत, ललाट में श्रीशैल तथा सभी अँगुलियों में अन्य उपपर्वतों (छोटे-बड़े पहाड़ों) का ध्यान करने से उनका साक्षात्कार करने में योगसाधक समर्थ होता है ॥१०॥

नौ नदी तथा अन्य उपनदियाँ

पीनसा, यमुना, गङ्गा, चन्द्रभागा, सरस्वती, पिपासा, शतरुद्रा, श्रीरात्रिश्रीनर्मदा एवं नवनद्यो नवनाडीषु वसन्ति। अन्य उपनद्यः कुल्योपकुल्या, द्विसप्तति सहस्रनाडीषु वसन्ति ॥ ११ ॥

(जिस तरह ब्रह्माण्ड-पिण्ड में गंगा आदि बड़ी नदियाँ तथा छोटी नदियाँ बहती हैं, उसी तरह हमारे शरीर की प्रधान नाड़ियों में गंगा आदि तथा छोटी-छोटी सूक्ष्म नाड़ियों में अन्य छोटी-पतली नदियाँ बहती हैं ।) गंगा इडा नाड़ी में, यमुना पिंगला नाड़ी में, सरस्वती सुषुम्ना में तथा पीनसा, चन्द्रभागा, पिपासा, शतरुद्रा, श्रीरात्रि और नर्मदा प्रधान नाड़ियों में प्रवाहित हैं और छोटी तथा पतली नदियाँ बहत्तर हजार शेष नाड़ियों में बहती हैं । (इन्हीं बहत्तर हजार नाड़ियों में पिंगला आदि परिगणित हैं ।) इन नदियों का यथास्थान शरीर में ध्यान करने से तथा इन पर सूक्ष्म दृष्टि एकाग्र करने से योगसाधक इनका साक्षात्कार करने में समर्थ होता है ॥ ११ ॥

नक्षत्रादि

सप्तविंशति नक्षत्राणि, द्वादशराशयो, नवग्रहाः, पञ्चदशतिथय एतेऽन्तर्वलये द्विसप्ततिसहस्र कोष्ठेषु वसन्ति । अनेक तारामण्डलमूर्मिपुञ्जे वसति । त्रयस्त्रिंशत् कोटि देवता बहुरोमकूपेषु वसन्ति । दानवयक्षराक्षसपिशाचभूतप्रेता अस्थिसन्धिषु वसन्ति । अनेकपीठोपपीठका रोमकूपेषु वसन्ति । अन्ये पर्वता उदरलोमसु वसन्ति । गन्धर्वकिंनरकिंपुरुषा अप्सरोगणा उदरे वसन्ति । अन्ये खेचरीलीलामातरः शक्तयः उग्रदेवता वायुवेगे वसन्ति । अनेकमेघा अश्रुपाते वसन्ति अनन्तसिद्धा मतिप्रकाशे वसन्ति । चन्द्रसूर्यौ नेत्रद्वये वसतः । अनेकवृक्षलता गुल्मतृणानि जङ्घारोमकस्थाने वसन्ति । अनेकक्रिमिकीटपतङ्गा पुरीषे वसन्ति ॥ १२ ॥

(जिस तरह ब्रह्माण्ड में नक्षत्र, ग्रह, राशि तथा किन्नर, गान्धर्वलोक आदि तथा कीट-पतंग—सभी यथास्थान हैं, उसी तरह हमारे पिण्ड-शरीर में ये सब विद्यमान हैं ।) हमारे व्यष्टि-पिण्ड में (अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपद, उत्तरभाद्रपदा, रेवती) सत्ताईस नक्षत्र, बारह राशि,

(मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीन), नौ ग्रह (सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु (बृहस्पति), शुक्र, शनि, राहु, केतु), पन्द्रह तिथि (प्रतिपदा आदि)—ये सब शरीरस्थ मांस-पेशियों—बहत्तर हजार कोठों में निवास करते हैं। तारामण्डल हड्डियों में अथवा भूख-प्यास रूपी ऊर्मियों में स्थित है। तैंतीस करोड़ देवता असंख्य रोम-छिद्रों में निवास करते हैं। दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत-प्रेत हड्डियों के जोड़ों में बसते हैं। अनेक पीठ-उपपीठ रोमछिद्रों में स्थित हैं। पेट के बालों में अनेक दूसरे पर्वत हैं। गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष, अप्सरायें उदर में निवास करते हैं। स्वेच्छा से आकाश में विहार करने वाली उग्रदेवता लीलारूप मातृ-शक्तियाँ वायु के वेग में स्थित हैं तथा मेघ अश्रुपात में निवास करते हैं। अनन्त सिद्ध बुद्धि के प्रकाश में रहते हैं। दोनों नेत्रों में (बायें में) चन्द्रमा और सूर्य (दायें नेत्र में) निवास करते हैं। अनेक वृक्षलतागुल्मतृण जाँघ के रोमों में स्थित हैं। अनेक कृमि-कीट-पतंग विष्ठा में रहते हैं ॥ १२ ॥

स्वर्ग-नरक, मुक्ति

यत्सुखं तत्स्वर्गं, यद्दुःखं तन्नरकं, यत्कर्मतद्बन्धनं यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः स्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः शान्तिर्भवति। एवं सर्वदेहेषु विश्वरूपपरमेश्वरः परमात्माऽखण्डस्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपो तिष्ठति। एवं पिण्डसंवित्तिर्भवति ॥ १३ ॥

युक्ताहारविहारयुक्त संयमित जीवन ही शरीर का सुख है—यही स्वर्ग (की भावना) है, असंयमित तथा आहारविहारव्यतिक्रमजन्य रोगाक्रान्त अवस्था ही दुःख है, यही नरक (की भावना) है। अपने संकल्प की पूर्ति के रूप में फल-प्राप्ति की भावना से किये गये (सकाम) कर्म ही बन्धन हैं और संकल्पशून्य इच्छारहित सहज-स्वाभाविक अवस्था ही निर्विकल्पता है, यही मुक्ति अथवा स्वरूपस्थिति एवं कैवल्य है। यद्यपि अज्ञानी की दृष्टि में निद्रादिरूपता ही स्वरूपस्थिति कही गयी है तथापि यह शुद्ध-बुद्ध आत्मबोधरूप प्रपंचातीत अवस्था ही आत्मजागृति है, इससे शान्ति प्राप्त होती है, यही जीवन्मुक्ति है। इस तरह सभी देहों में विश्वरूप परमात्मा—परमेश्वर अखण्डस्वरूप घट-घट में चिद्रूप व्याप्त है—ऐसा जाननेवाला ही पिण्डसंवित्ति योगी होता है ॥ १३ ॥

इतिश्रीगोरक्षरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ तृतीयोपदेशः ॥

卐

चौथा उपदेश

[पिण्डाधार]

अस्ति काचिदपरंपरा संवित्स्वरूपा सर्वपिण्डाधारत्वेन नित्यप्रबुद्धा निजाशक्तिः प्रसिद्धा कार्यकारणकर्तृणामुत्थान-दशाङ्कुरोन्मीलनेन कर्त्तारं करोतीत्यनन्तरावाधारशक्तिरिति कथ्यते । अत्यन्तनिजप्रकाशस्वसंवेद्यानुभवैकगम्यमाना शास्त्र-लौकिकसाक्षात्कारसाक्षिणी सा परा चिद्रूपिणी शक्तिर्गीयते । सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां निरुत्थानदशायां वर्तते तदा शिव. स एव भवति ।। १ ।।

(इस चौथे उपदेश में महायोगी गोरखनाथ ने शिवशक्ति के सामरस्य की स्थिति की प्रस्तावना निरूपित की है । निजाशक्तिसंयुक्त परासंवित् का विवेचन किया गया है । जीव का शिवशक्ति में भेदाभाव—अभिन्नता ही सामरस्य है । यही मोक्ष अथवा परमकैवल्य—स्वरूपावस्थान है । किस प्रकार यह समरसता स्थापित होती है—इसी का चौथे उपदेश में वर्णन है । यह शक्ति स्वसंवेद्य, परमशिव से अभिन्न, सम्पूर्ण स्वतन्त्र, कूटस्थ, संवित्स्वरूपा, नित्य प्रबुद्ध निजाशक्ति है । यह विनाशरहित, समस्त जगत् की आधारस्वरूपा आद्या भवानी है, यह बुद्धि आदि के अनित्य प्रकाश से भिन्न नित्य प्रकाशरूपा है, यह शक्ति शरीर आदि कार्य तथा उनके पाँच सूक्ष्म करण और जीव की अभिव्यक्तिरूपी अवस्था के अंकुर के प्रकाश से समस्त विश्व के कर्ता हिरण्यगर्भादि को भी उत्पन्न करती है । यह शक्ति शिवकी अत्यन्त अन्तरंग है, भौतिक प्रपंच की अपेक्षा

आधार कहलाती है, अनुभव से ही गम्य है, यह सबका उपादान कारण है। लोक-सम्बन्धी तथा बुद्धिवृत्ति को देखनेवाली चिद्रूप शक्ति ही पराशक्ति है। जब प्रलयकाल में स्वभाव से यह विकसित—उन्मीलित होती है, तब वह अपने शुद्ध रूप में शिवस्वरूपिणी हो जाती है। इस अवस्था में शिवशक्ति में सम्पूर्ण तादात्म्य रहता है ॥ १ ॥

विशेष—गोरखनाथजी की योगानुभूति है कि स्वतः प्रकाशित, स्वतः सत्, स्वतः पूर्ण, अनन्त और शाश्वत चेतना, काल-दिक्-सापेक्षिता से परे परम सत्ता है। यह स्वयं को काल-दिक्-आश्रित जगत्-व्यवस्था के रूप में प्रकट करती है। स्वयं को इस व्यावहारिक-नानारूपात्मक जगत्-व्यवस्था के रूप में अभिव्यक्त करने पर भी यह चरम सत्ता अपनी पारमार्थिक एकता और पूर्णता में स्वस्थ—लीन अथवा कूटस्थ रहती है। यही परमशिवस्वपिणी परासंवित्—निजा शक्ति है।

कुलाकुलसामरस्य

अतएव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्यनिजभूमिका निगद्यते ॥ २ ॥

यह कुलाकुलस्वरूपिणी पराशक्ति कुलाकुल शिवशक्ति की अभेदावस्था ही सामरस्य-प्राप्ति की दिशा में निरूपित की जाती है ॥ २ ॥

कुलशक्ति

कुलमिति परा सत्ताऽहंता स्फुरता कलास्वरूपेण सैव पञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति ॥ ३ ॥

कुलशक्ति परा; सत्ता, अहंता, स्फुरता और कला, पाँच रूपों में समस्त विश्व के आधार—आश्रयरूप में अभिव्यक्त है ॥ ३ ॥

अतएव परापरा निराभासावभासकान् प्रकाशस्वरूपा या सा परा ॥ ४ ॥

यह कुलशक्ति समस्त विश्व के आधार के रूप में पराऽपरा—सभी वस्तुओं में विद्यमान है। यह चेतन प्रकाशस्वरूप है। अपनी सत्ता से सबकी प्रकाशिका होने से यह परा शक्ति है ॥ ४ ॥

विशेष—यह शक्ति निराभासा—सूर्यादि के प्रकाश से प्रकाशित होने वाली नहीं है, स्वयं प्रकाशस्वरूपिणी है ।

अनादिससिद्धं परमाद्वैतपरमेकमेवास्तीति याऽङ्गीकारं करोति सा सत्ता ।। ५ ।।

(पराशक्ति-कुलशक्ति के सत्ता-स्वरूप का लक्षण कहा जाता है ।) यह अनादि—सजातीय-विजातीय स्वगतभेदरहित है, संसिद्ध (स्वप्रकाश) परम अद्वैत (विजातीय भेदरहित) और एक—(सजातीयत्व से परे) है । इस तरह के अस्तित्व को स्वीकार करनेवाली सत्ता कहलाती है ।। ५ ।।

अनादिनिधनोऽप्रमेयः स्वभावकिरणानन्दोऽहमस्मीत्यहं सूचनशीला या सा पराऽहंता ।। ६ ।।

कुल-(अवस्था-) शक्ति अपने अहंतारूप में आदि-अन्त से रहित और अप्रमेय (इन्द्रियादि द्वारा अप्रत्यक्ष), स्वप्रकाशस्वरूप तथा सच्चिदानन्द स्वरूपिणी (शिव में सम्पूर्ण कूटस्थ) है । यह अहंतारूप में शिव से अपनी भेदता प्रकट करती है । यह अहंतारूपी कुलशक्ति पराविद्या भी कही जाती है ।। ६ ।।

स्वानुभवचिच्चमत्कारनिरुत्थानदशां प्रस्फुटी करोति या ा स्फुरता ।। ७ ।।

कुलशक्ति अपने स्फुरतारूप में मन-वाणी से अगम्य अनुभवगम्य चैतन्य-लास की अद्वैतावस्था (द्वैताभासरहितता) अभिव्यक्त करती है, इसी कारण इ स्फुरतारूपिणी प्रसिद्ध है ।। ७ ।।

नित्यशुद्धबुद्धस्वरूपस्वयंप्रकाशत्वमाकलयतीति या सा ाकलेत्युच्यते ।। ८ ।।

कुलअवस्था में पराशक्ति कलरूपिणी कही जाती है । आत्मा शाश्वत-तन, नित्य अविनाशी, (निर्विकार त्रिगुणातीत), निरञ्जन और स्वयं प्रकाश बोधस्वरूप, स्वसंवेद्य अनुभवैकगम्य है—इस तरह आत्मतत्व की प्रकाशिका क ही कला है ।। ८ ।।

अकुलमिति जातिवर्णगोत्राद्यखिलनिमित्तत्वेनैकमेवास्तीति-प्रसिद्धं तथा चोक्तमुमामहेश्वरसम्वादेनिरुत्तरेऽनन्यत्वादखण्डत्वा-दद्वयत्वादनन्यत्वान्निर्धर्मत्वादनामत्वादकुलस्यनिरुत्तरमिति ॥९॥

अनादि परब्रह्म परमेश्वर आदिनाथ निराकार, निरंजन, स्वसंवेद्य अकुल शिवमें अभिन्न पराशक्ति अकुल अवस्था में निरन्तर विद्यमान अथवा स्वरूपस्थ रहती है। इस अकुल अवस्था में जाति, वर्ण, गोत्र आदि अखिल निमित्त (व्यवहार-कारण) से रहित असंग अकुल शिव में कूटस्थ पराशक्ति ही शेष रहती है—ऐसा उमा-महेश्वरसम्वाद के रूप में रचित निरुत्तर ग्रन्थ में प्रतिपादित है। समस्त भेदोंसे परे होने के नाते यह शक्ति अखण्ड, अद्वय, अनन्य, कार्यकारणरहित, नामातीत, रूपातीत अकुल कही गयी है ॥ ९ ॥

आज्ञावती पराशक्ति

एवं कुलाकुलरूपा सामरस्यप्रकाशभूमिकास्फुटीकरण एकैवमर्था या साऽपरंपरा शक्तिरेवावशिष्यते अपरंपरं निखिलविश्वप्रपञ्चजालं परतत्त्वं सम्पादयत्येकीकरोती-त्यपराशक्तिराज्ञावती प्रसिद्धा ॥ १० ॥

इस तरह कुलाकुलरूप यह पराशक्ति सामरस्यरूप अभेदता— तादात्म्य के प्रकाश की स्थिति को स्फुटित करने में सर्वधर्मरहित अखण्ड, नित्य, अद्वय, अनन्त रूप अकुलावस्था से तत्पर रहती है। यही शक्ति अपरंपरा, निजा आदि नाम से प्रसिद्ध समस्त विश्वप्रपञ्च के आधाररूप से महाप्रलय में अवशिष्ट रहती है। यह स्थावर-जंगम सकल विश्वप्रपञ्चजालको परमेश्वररूप परमतत्व में सम्पादित कर एक कर देती है, यही अपरंपरा नामवाली शक्ति है। यह परमेश्वर आदिनाथ की आज्ञावती (आज्ञाकारिणी—स्वरूपप्रकाशिका) शक्ति कही जाती है ॥ १० ॥

अकुलंकुलमाधत्ते कुलञ्चाकुलमिच्छति जलबुद्बुदवन्न्याया-देकाकारः परः शिवः ॥ ११ ॥

(भाव, अभाव, शून्य-अशून्य द्वैत-अद्वैत, सृष्टिसृजनलयात्मक विश्वप्रपञ्च आदि समस्त स्थावर-जंगम में एकमात्र परमात्मा—परमेश्वर शिव ही कुल-अकुल रूप में अभिव्यक्त हैं । शिव से अभिन्न शक्ति ही महाप्रलय में अकुलावस्थायुक्त कहलाती है। उस समय नामरूपात्मक विश्वप्रचंका उपसंहार कर परमतत्व शिव में अभिन्न हो उठती है। सृष्टि का समय आने पर यही निजा शक्ति प्राणियोंके कर्म के साथ युक्त होकर परा-अपरा-सूक्ष्म आदि भेद से कुलरूप व्यक्त अवस्था धारण करती है । विश्वका सृजन करती है, इस अवस्था में यह कुल कहलाती है । वह एकमात्र परमतत्व शिव की आकृति है—न वह द्वैत (कुल) है, न वह अद्वैत (अकुल) है । जिस तरह जल के बुलबुले जलस्वरूप ही हैं, उसी न्याय से कुल-अकुल शक्ति शिव है । द्वैत-अद्वैत से रहित यह अभेद ही सामरस्य है ॥ ११ ॥

विशेष:—यह परा शक्ति प्रापंचिक द्वैतताओंका आधार, कारण और पोषक है, यही अपने मूल स्वतः प्रकाश शिवके पारमार्थिक स्वरूप में विराजने पर शिव में तादात्म्य में प्रतिष्ठित अथवा अभिव्यक्त हो उठती है । इस तरह यह पराशक्ति शिव के व्यक्त (कुल) और (अकुल) अव्यक्त स्वरूपोंका का सामरस्य प्रतिपादित करती है । यह पराशक्ति ही निजा शक्ति है । कुलरूप में अकुल, मुक्त रूप से स्वयं को प्रापंचिक स्तर पर अभिव्यक्त कर स्वनिर्मित सीमाओं में आनन्द–विहार करता है और अपने अकुल रूप में वह शाश्वत, सत्-आनन्दमय, अभिन्न पारमार्थिक आत्मारूप में प्रकाशित रहता है । लौकिक–प्रापंचिक आत्माभिव्यक्तिसे निर्लिप्त और परे होता है । यह निजा शक्ति शिवकी पारमार्थिक एवं सक्रिय रूप में अभेदता-समरसता स्थापित करती है ।

अतएवैकाकारोऽनन्तशक्तिमान् निजानन्दतयावस्थितोऽपि नानाकारत्वेन विलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेव भजतीति व्यवहारः। अलुप्तशक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन्पुनः स्वेनैव रूपेण एकएवावशिष्यते ॥ १२ ॥

अनन्त शक्तिमान्

अतएव द्वैत-अद्वैत रूप में एकाकार परब्रह्म परमेश्वर (समरसता के फलस्वरूप) अनन्त शक्तिमान्, परिपूर्ण रूप से अखण्डानन्दस्वरूप अनेक रूपों में

(मायिक दृष्टि से भासमान) स्वाश्रय में अभिव्यक्त है, यद्यपि लोक-व्यवहार की दृष्टि से वह अनेक रूपों में प्रतीत होता है, तथापि वही सब का आधार है। शिव और शक्ति का नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है। उससे शक्ति के तादात्म्य का कभी लोप ही नहीं है। जड़-चेतन-स्थावर, जंगमादि समस्त संसाररूप से वह समुद्र के फेन, तरंगादि के समान व्यावहारिक प्रपंचावस्था से भास-मान होता है और फिर अन्त में वही परमेश्वर निज व्यापक, चिद्रूप, अद्वय स्वरूप में अवशेष (पूर्ण) रहता है ॥ १२ ॥

विशेष—अपनी अनन्त शक्ति से युक्त शिव तात्विक रूप में अपने पू आनन्दमय, अभेद, अपरिवर्तनीय स्वरूप में रहते हुए भी विलासरूप में अपने विभिन्न रूपों में प्रकट करते हैं और भोगते हैं। इस प्रकार व्यावहारिक रूप वे भोक्ता और भोग्य, स्रष्टा और सृष्टि, आधार और आधेय, आत्मा के उसकी अभिव्यक्ति आदि दोहरे रूप में भासित होते हैं। न तो वे शक्ति कभी त्याग करते हैं और न शक्ति उनका त्याग करती है। अलुप्त शक्ति और नित्य कहलाने का स्वारस्य है। यद्यपि शिव शक्ति के द्वारा शाश्वत रूप अपने आप को समस्त रूपाकारों में व्यक्त करते हैं तथापि वे अनादि काल आत्मस्वरूप में अद्वैत, परिवर्तनरहित, अभेदसत्ता, निराकार, निरञ्जन परमात्म के रूप में नित्य अभिव्यक्त रहते हैं।

अतएव परमकारणं परमेश्वरः परात्परः शिवः स्वस्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोतीत्यतः शक्तिमान्, शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन स्वशक्त्यासहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत् ॥ १३ ॥

अतएव सर्वशक्तिसम्पन्न होने से ही आदिनाथ शिव सूक्ष्म-स्थूल, समस्त भौतिक पदार्थों के परम कारण परमेश्वर हैं। वे अपने स्वरूप में परात्पर चैतन्यस्वरूप सब में व्यापक हैं, रुद्र-विष्णु आदि रूपों में अवतरित होने में समर्थ हैं। शक्तियुक्त होने पर ही शिव सर्वसमर्थ हैं, शक्तिरहित होने पर वे कुछ करने में समर्थ नहीं हैं। अपनी निजा शक्ति से युक्त होने पर ही वे विश्व साक्षी हैं ॥ १३ ॥

विशेष—परात्पर शिव (उच्चतम प्रापंचिक सत्ताओं एवं काल, दिक् तथा क्रिया से परे) अपनी अनन्त शक्ति के द्वारा व्यावहारिक जगत् के समस्त

स्तरों के अंतिम कारण परमेश्वर तथा सर्वद्रष्टा हो जाते हैं । उनका पारमार्थिक स्वतः प्रकाश, आत्मपूर्ण स्वरूप इस जगद्व्यवस्था से किसी भी तरह प्रभावित हुए विना ही समस्त लौकिक सत्ताओं के रूप में विभासित रहता है ।

अतएवानन्तशक्तिमान् परमेश्वरः स विश्वरूपीविश्वमयो भवतीति प्रसिद्धं सिद्धानां च परापरस्वरूपा कुण्डलिनी वर्तते । अतस्ते पिण्डसिद्धाः प्रसिद्धा सा कुण्डलिनी प्रबुद्धा अप्रबुद्धा चेति द्विधा । अप्रबुद्धेति तत्रपिण्डचेतनरूपा स्वभावेन नानाचिन्ताव्यापारोद्यमप्रपञ्चरूपा कुटिलस्वभावा कुण्डलिनी ख्याता सैव योगिनां तत्तद्विलसित विकाराणां निवारणोद्यमस्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्वगामिनी प्रसिद्धा भवति ।। १४ ।।

परापरशक्ति से युक्त परमेश्वर अनन्त शक्तिमान् कहा जाता है । वह समस्त विश्व का अधिष्ठातारूप आधार होने से विश्वरूप और विश्वमय कहा जाता है । परापरस्वरूपा शक्ति कुण्डलिनी सिद्धों के देहपिण्ड में विद्यमान है, उस कुण्डलिनीके बल अथवा प्रभाव से वे कायसिद्ध के रूप में प्रसिद्ध हैं । यह कुण्डलिनी प्रवुद्ध और अप्रवुद्ध (सुप्त)—दो प्रकार की है । यद्यपि देहपिण्ड में विद्यमान कुण्डलिनी स्वभाव से चेतनस्वरूप है, तथापि जब तक वह जगायी नहीं जाती है, तब तक वह संसारी पुरुषोंके लिये अनेक शोकमोहचिन्ताव्यापार-रूपिणी है--बन्धनकारिणी है, वही मूलाधार में कुटिल—अधोमुखी (सुप्त) रहती है, पर वही जगायी जाने पर सहस्रदल तक ऊर्ध्वगामिनी होती है तथा योगियों के मनोविकारों का निवारण करती है ।। १४ ।।

विशेष—अप्रबुद्ध और प्रवुद्ध कुण्डलिनी के स्वरूप का महायोगी गोरखनाथ ने गोरक्षशतक आदि में विस्तार से विचार किया है । अन्य योगसंहिताओं में इसका विशिष्ट निरूपण उपलब्ध होता है । गोरखनाथजी का कथन है कि मेढ़ू के ऊपर और नाभि के नीचे कन्द के समान सभी नाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान है । कन्द के ऊपर कुण्डलिनीशक्ति आठ प्रकार की होकर कुण्डलित आकार में सुषुम्ना में स्थित पश्चिमद्वार—ब्रह्मद्वार को अपने मुख से आच्छादित कर स्थित है । इस तरह जिस द्वार से ऊर्ध्व की ओर गति करते हुए योगसाधक द्वारा निर्मल, निर्विकार, ब्रह्मरन्ध्र—ब्रह्मस्थान में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार को रोक

कर कुण्डलिनी शक्ति सोती है। वह वह्नियोग से जागृत होकर मन और प्राण के साथ डोर में बँधी सूई के समान ऊपर उठती है। यह भुजङ्गाकृति कुण्डलिनी, जो कमलतन्तु के समान विभासित और शुभ दीप्तियुक्त है, सुषुम्नामार्ग से वह्नि के संयोग से ऊपर उठ जाती है और जिस तरह ताली से तालाबन्द दरवाजा खोला जाता है, उसी तरह कुण्डलिनी महाशक्ति से योगी मोक्षद्वार का भेदन करता है। इस कुण्डलिनी के जागरण की विधि का वर्णन है :

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़तरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यात्वा च तत्प्रेक्षितम्।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन् प्राणमुपैति बोधमतुल शक्तिप्रबोधान्नरः ॥
(गोरक्षशतक ५२)

योगसाधक दोनों हाथों को एक–दूसरे से सटा कर पद्मासन में अच्छी तरह स्थित होकर वक्षःस्थल पर चिबुक को लगा कर कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए वार-वार प्राणायाम द्वारा वायु खींच कर उसे अपानवायु से मिलाकर कुम्भक द्वारा वायु को रोक कर श्वास वाहर निकालने से शक्ति के प्रबोधनद्वारा अतुल बोध प्राप्त करता है।

शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि में उपर्युक्त जागरण विधि को शक्तिचालिनी मुद्रा नाम दिया गया है।

विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वं भवेत्खलु।
(शिवसंहिता ४। १०७)

शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास से कुण्डलिनी जाग कर ऊपर की ओर गति करती है।

आकाशादि की कुण्डलिनी से उत्पत्ति

ऊर्ध्वमिति सर्वतत्वान्यपि स्वस्वरूपमेवेत्यूर्ध्वे वर्तते अतएव सा विमर्शरूपिणी योगिनः स्वस्वरूपमवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा ॥ १५ ॥

आकाश आदि समस्त भौतिक पदार्थ कुण्डलिनी शक्ति से ही उत्पन्न होते हैं, (कार्यों की कारण से भिन्न सत्ता नहीं है) समस्त प्रपञ्च कुण्डलिनीस्वरूप ही

हैं, वह सभी के ऊपर विराजमान परम सत्ता होने से विमर्शरूपिणी विद्या है। योगियों को (भगवती कुण्डलिनी की साधना से) आत्मस्वरूप की प्राप्ति (अलख निरञ्जन परमात्मा का साक्षात्कार) सहज ही हो जाती है, यह बात प्रसिद्ध है ॥ १५ ॥

विशेष – हठयोगप्रदीपिका में निर्देश है कि शक्तिबोध से योगी को सहजावस्था की प्राप्ति स्वयं हो जाती है।

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥
(हठयोगप्रदीपिका ४ । ११)

जीवात्मा और परमात्मा का अभेद ज्ञान ही सहज ज्ञान है। यही स्वविश्रान्तिरूप अद्वैत पद अथवा परम पद है।

मध्यशक्तिप्रबोधन

मध्यशक्तिप्रबोधेन अधःशक्तिनिकुञ्चनात्।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥ १६ ॥

(नाभिदेशस्थ मणिपुर चक्र में स्थित कुण्डलिनी मध्य शक्ति कही जाती है। मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी अधःशक्ति के रूप में प्रसिद्ध है। सहस्रदल में यही शक्ति ऊर्ध्व शक्ति के रूप में विराजमान होती है।) मध्य शक्ति को जगाने से और अधः शक्ति के ऊपर की ओर आकर्षण से तथा ऊर्ध्व शक्ति (कुण्डली) के निपात—संयोजन से परम पद की प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

विशेष—मूलाधार में आधार पद्म हैं, यह चार दलों वाला है। यह चक्र कुलाभिध कहलाता है, इसमें कुण्डलिनी शक्ति सर्प के समान आकृतिवाली सुप्ता अवस्था में पड़ी रहती है।

तत्पद्ममध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता ॥
(शिवसंहिता ५ । ८५)

आधार कमल की कर्णिका में त्रिकोणाकार योनि— कामगिरि पीठ में अधः शक्ति कुण्डलिनी रहती है। इसको अपान वायु के निकुञ्चन—आकर्षण से ऊर्ध्व

मुख कर जगाया जाता है। ढके हुए सुषुम्ना द्वार को उद्घाटित कर यह ऊर्ध्व-मुखी होती है। नाभिचक्र—मणिपूरक में आठवलयों वाली मध्य कुण्डलिनी की स्थिति बतायी गयी है। यह बन्धत्रय—मूल, उड्डियान और जालन्धर बन्ध के अभ्यास से समुत्थित होती है। प्राण से अपान का ऐक्य स्थापित होना ऊर्ध्व शक्तिपात कहा गया है। शक्ति—कुण्डलिनी ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रंथि का भेदन कर षट्चक्र से होती हुई सहस्रार में पहुँच जाती है, उस समय शून्य समाधि की स्थिति में साधक अपने स्वरूप में समाहित हो जाता है।

एकैव सा मध्योर्ध्वाधः प्रभेदेन त्रिधा भिन्ना शक्तिरभि-धीयते ॥ १७ ॥

यद्यपि कुण्डलिनी महाशक्ति स्वरूपतः एक ही है, तथापि (स्थान और सूक्ष्मस्थूल भेद से) वह अधः, मध्य और ऊर्ध्व शक्ति के रूप में तीन प्रकार की कही जाती है ॥ १७ ॥

विशेष—मूलाधार में रहनेवाली कुण्डलिनी सूक्ष्म, अबोधरूप और सबका कारण कही जाती है। नाभि में मणिपूर चक्र में स्थित कुण्डलिनी बोधरूपा कही जाती है और यही शक्ति जब ऊर्ध्वमुखी होकर ऊपर की ओर गति करती है, तब बोधजनक कल्याणकारिणी ऊर्ध्व शक्ति के रूप में प्रसिद्ध होती है।

बाह्येन्द्रियव्यापारनानाचिन्तामया सैवाधः शक्तिरि-त्युच्यते। अतएव योगिनस्तस्या आकुञ्चने रता यस्या आकुञ्चनं मूलाधारबन्धनात्सिद्धं स्यात् ॥ १८ ॥

बाह्य इन्द्रियजन्य कार्यों की चिन्ता का कारण अधः शक्ति—मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी है। (जब तक इसको जगाया नहीं जाता है तब तक साधक सांसारिक कार्यों की चिन्ता से ग्रस्त रहता है)। योगी मूलाधार में स्थित इस शक्ति के आकुञ्चन—संकोचन में तत्पर रहते हैं। मूलाधार बन्ध के अभ्यास (अपान और प्राण का ऐक्य स्थापित होने पर उड्डियान और जालन्धर बन्ध की सिद्धि) से यह शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर जाग जाती है और साधक को परमानन्द की प्राप्ति करा देती है ॥ १८ ॥

विशेष —साधक योनिस्थान —गुदा और मेढ़ू के मध्य भाग के स्थान को किसी भी पैर की एड़ी से दबा कर गुदा को सिकोड़े और फैलाये तथा अपान वायु को ऊपर की ओर खींचे । यही मूलवन्ध है । जिससे नीचे की ओर गतिशील अपानवायु को साधक सुषुम्ना में प्रवाहित करता है अथवा ऊपर की ओर उठाता है, वही मूलवन्ध है । जिस वन्ध से प्राण उड़कर सुषुम्ना नाड़ी में पहुँच जाता है, वही उड्डियानवन्ध है । नाभि के ऊपर और नीचे उदर में पीछे की ओर इस तरह आकर्षण करे कि दोनों भाग पीठ तक—पीछे पहुँच जाय । कम-से कम इस तरह तीन बार आकर्षण करना चाहिये । कंठ (गले के विवर) को सिकोड़ कर साधक को हृदय-देश में— वक्ष के समीप चार अंगुल की दूरी पर ठोड़ी को दृढ़ता से स्थापित करना चाहिये । यही जालन्धरवन्ध है । इन तीनों वन्धों के अभ्यास से कुण्डलिनी महाशक्ति क्रमशः सहस्रार में पहुँच जाती है ।

यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम् ।। १९ ।।

जिससे चर-अचर, स्थावर-जंगम, चिद्, अचिद् समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है, वह मूलाधार है, जिसके संकोच और प्रसरण से कुण्डलिनी का प्रवोधन होने पर ज्ञान की वृद्धि होती है—यह मूलाधार ही संवित्प्रसारण-भूमि है ।। १९ ।।

सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः संहृतिश्चभवत्येव न सन्देहस्तस्मात्सा मूलमित्युच्यते । अतः प्रायेण सर्वे सिद्धा मूलाधाररता भवन्ति ।। २० ।।

समष्टिरूप (सर्वेश्वरी) महाशक्ति के व्यापार—कार्य से ही (संकोच और प्रसरण से ही) जगत् का सृजन और संहार होता है, इसमें संदेह नहीं है (कि योगी इस मूल शक्ति का ध्यान कर जगत् की सृष्टि और संहार कर सकता है) । यही कारण है कि मूलाधार में स्थित यह महेश्वरी शक्ति ही मूल शक्ति है । प्रायः सभी सिद्ध, यही कारण है कि मूलाधारशक्ति—कुण्डलिनी को जगाने में तत्पर रहते हैं ।। २० ।।

तरङ्गितस्वभावं जीवात्मानं वृथाभ्रमन्तमपि स्वप्रकाश मध्ये स्वस्वरूपतया सदा धारयितुं समर्था या सा कुण्डलिनी

मध्याशक्तिर्गीयते स्थूलसूक्ष्मरूपेण महासिद्धानां प्रतीयत इति निश्चयः ॥ २१ ॥

मध्या शक्ति (कुण्डलिनी) का वर्णन किया जाता है। यह कुण्डलिनी चिद्रूप होने से जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप है। अविद्यावश संसार-बन्धन में विषयादि मृगतृष्णा में आसक्त जीवात्मा को यह मध्या शक्ति अपने चिद्रूप स्वप्रकाश में धारण करने में सदा समर्थ है। यह कुण्डलिनी स्थूल और सूक्ष्म—दो प्रकार की कही गयी है। इसकी महासिद्ध योगियोंको ही अच्छी तरह जानकारी रहती है, इसमें रञ्चमात्र भी सन्देह नहीं है ॥ २१ ॥

विशेष—महासिद्ध योगियों को यह कुण्डलिनी मूलाधार में सूक्ष्मरूपिणी और मणिपूर चक्र में स्थूल प्रतीत होती है।

स्थूल-सूक्ष्म कुण्डलिनी

स्थूलेति निखिलग्राह्याधारविग्राह्य स्वरूपापि पदार्थान्तरे भ्रास्यमाणा चिद्रूपा या वर्तते सा कुण्डलिनी साकारास्थूला-पुनस्त्वियमेव स्वप्रसारचातुर्यतया वर्तमाना योगिनां परमानन्द-तया कुण्डलिनी या निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धा ॥ २२ ॥

यद्यपि मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी योगसिद्ध पुरुषों के अतिरिक्त संसार में विषयासक्त बँधे जीवमात्र के लिये सूक्ष्म (अज्ञात) है तथापि यह शब्दात्मक स्थूल जगत् की सृष्टि करने के कारण साकार—स्थूल कही जाती है। वह रूपादि विषयों में भ्रमण—संचार करती रहती है, यही निज विस्तार-कौशल से नाभिस्थान—मणिपूर चक्र में अपने उपर्युक्त विषयसम्बन्धों को छोड़ कर अपने चैतन्यस्वरूप से योगियों को अपने आनन्ददायक व्यापक अखण्ड आत्मा का निश्चय कराती है। जागने पर यह सूक्ष्म रूप से, निराकार और सर्वत्र व्यापक रहती है। योगनिपुण महासिद्ध ही इस बात को अच्छी तरह जानते हैं ॥ २२ ॥

विशेष—जो योगसाधक कुण्डली को संचालित कर लेता है, वह सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है और मृत्यु को वश में कर अपने अखण्ड परमानन्द स्वरूप में लीन हो जाता है।

सृष्टिकुण्डलिनी ख्याता द्विधा भागवती तु सा। एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यगात्मिका। अपरा सर्वंगा सूक्ष्मा व्याप्ति-व्यापकवर्जिता। तस्या भेदं न जानाति मोहिता प्रत्ययेन तु ॥ २३ ॥

(प्रत्येक प्राणी के मूलाधार में सूक्ष्म रूप से कुण्डलिनी विद्यमान है, वह प्रत्येक जीवात्मा में व्यापक है।) यह भगवत्सम्बन्धवाली (भागवती) कुण्डलिनी दो प्रकार की है, यह स्थूल और सूक्ष्म है। यह स्थूल जगत् की सृष्टि करती है, इसलिये सृष्टि-कुण्डलिनी के रूप में प्रसिद्ध है। जब यह नाभिचक्र—मणिपूर में प्रवुद्ध होकर उपाधिसम्बन्ध छोड़कर अखण्ड स्वरूप में ऊर्ध्वमुखी होकर प्रतिष्ठित होती है, तब वह सर्वव्यापक, सूक्ष्म और व्याप्तिव्यापक भाव से रहित होती है। विषयप्रपञ्च में सम्मोहित प्राणी उसके सत्स्वरूप को नहीं जान पाते हैं ॥ २३ ॥

तस्मात् सूक्ष्मापरा संवित्स्वरूपा मध्या शक्ति कुण्डलिनी योगिभिर्देहसिद्ध्यर्थं सद्गुरुमुखाज्ज्ञात्वा स्वस्वरूपदशायां प्रबोधनीया ॥ २४ ॥

इसलिये सूक्ष्म चिद्रूपिणी विषयरहित मध्य कुण्डलिनीशक्ति को देहसिद्धि (मृत्यु को वश में करने) के लिये गुरु के सदुपदेश से अपनी आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये जगाना चाहिये। (गुरु की कृपा से ही उनके मुख से तत्सम्बन्धी प्रबोधन-क्रिया का ज्ञान प्राप्त कर ही योगसाधक मूलाधार में सोयी कुण्डलिनी को जगाकर सहस्रार की ओर ऊर्ध्वमुख करता है।) यह संवित्स्वरूपा मध्य कुण्डलिनी नितान्त प्रबोधनीय है ॥ २४ ॥

अथ ऊर्ध्वशक्तिनिपातः कथ्यते सर्वेषां तत्त्वानामुपरिवर्तमानत्वान्निर्नाम परमं पदमेवमूर्ध्वंप्रसिद्धं तस्याः स्वसंवेदन नानासाक्षात्कारसूचनशीलाया सोर्ध्वशक्तिरभिधीयते तस्या निपातनमिति स्वस्वरूपद्विधाभासनिरासः किन्तु स्वस्वरूपाखण्डत्वेन भवति ॥ २५ ॥

(मध्य कुण्डलिनी शक्ति का सहस्रार में प्रवेश ही ऊर्ध्वं-शक्तिनिपात कहा जाता है।) ऊर्ध्वंशक्ति-निपात का वर्णन किया जाता है। समस्त विषयप्रपञ्च—भौतिक पदार्थों के ऊपर - वर्तमान रहने की स्थिति ही ऊर्ध्व है। नाम-रूप से रहित आदिनाथ परमेश्वरस्वरूप ही परमपद है। उस अनन्त अखण्ड परमात्मा की स्वरूपाभिव्यक्ति करनेवाली शक्ति ही ऊर्ध्व शक्ति (परम जाग्रत् परमेश्वरी कुण्डलिनी) कही जाती है। मूलाधार से मणिपूर चक्रादि का भेदन करती हुई महाकुण्डलिनी सहस्रार में शिव का ऐक्य प्राप्त कर 'यह, तुम, मैं' आदि के भेदभाव का अन्त कर देती है, किंतु (साथ-ही-साथ) परमात्मा और जीवात्मा के अखण्ड-अभिन्न व्यापक स्वरूप का ज्ञान करा देती है॥ २५॥

शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति शक्तेराभ्यन्तरः शिवः।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव॥ २६॥

(शक्ति और शक्तिमान्—स्वरूपतः दोनों एक-दूसरे में अभिन्न हैं। कूटस्थ असग शिव सर्वत्र व्यापक हैं, शिव को धारण करनेवाली शक्ति भी व्यापक है।) शिव में शक्ति है, शक्ति में शिव हैं, जिस तरह चन्द्रमा और चाँदनी में स्वरूपतः भेद—भिन्नता नहीं है, उसी तरह शिव और शक्ति में भिन्नता नहीं है। (दोनों में कूटस्थता और असंगता की दृष्टि से व्यवहार में भेद परिलक्षित होता है और पारमार्थिक सत्ता में वे स्वरूपतः अखण्ड और अभेद हैं।) शिव-शक्ति एक हैं॥ २६॥

अत ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन योगिभिः परमं पदं प्राप्यत इति सिद्धम्॥ २७॥

अतएव योगियों द्वारा ऊर्ध्व शक्ति—भगवती कुण्डलिनी महाशक्ति के निपात से सहस्रार में पूर्ण जाग्रत् कर प्रविष्ट कराने पर परम पद की—स्वरूप-स्थिति की प्राप्ति की जाती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचना राजते संविदेका
तत्त्वे तत्त्वे परममहिमा संविदेवावभाति।
भावे भावे बहुलतरला लम्पटा संविदेषा
भासे भासे भजनचतुरा बृंहिता संविदेव॥२८॥

अखण्ड शुद्ध चैतन्य सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है। यह चेनन ही समस्त विश्वप्रपंच का आधार है। प्रकृति, माया आदि तत्वों पर महिमा सहित शक्ति सर्वत्र प्रकाशित हो रही है। समस्त मानसिक व्यापारों में इसी शक्ति की सत्ता अभिव्यक्त है। आशय यह है कि सभी पदार्थों की समस्त व्यवस्थाओं के अंगों और गुणों को एकत्र करने वाला तथा सभी प्रकार की सत्ताओं की व्यवस्थाओं में संवित् ही प्रकाशमान है। वही समस्त व्यावहारिक सत्ताओं के सीमित, परिवर्तनशील तथा अनेक वस्तुरूपों में स्वयं को प्रकट कर रहा है। सभी प्रकार के मानसिक अनुभवों में स्वयं को अनेक आत्मगत रूपों में प्रकट कर कौशल से वह संवित् ही अनेक सीमित विशेषतायें धारण कर लेता है ॥ २८ ॥

किमुक्तं भवति परापरविमर्शरूपिणी संविन्नानाशक्तिरूपेण निखिलपिण्डाधारत्वेन वर्त्तते इति सिद्धान्तः ॥ २९ ॥

इस तरह परासंवित्स्वरूप शिवशक्ति के सामरस्य का स्पष्ट निर्णीत रूप यह है कि व्यष्टि-समष्टिभूत भौतिक समस्त पदार्थों का अनुभवरूप सच्चिदानन्दस्वरूप चेतन ब्रह्म ही निजा, परा सूक्ष्मा शक्ति-रूपों के द्वारा समस्त पिण्डोंका आधार (आश्रय) है ॥ २९ ॥

इति शिवगोरक्षविरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ चतुर्थोपदेशः ॥

पाँचवां उपदेश

[पिण्डपदसामरस्य]

महासिद्धयोगिभिः पूर्वोक्तक्रमेण परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परमपदे समरसं कुर्यात् ॥ १ ॥

परासंवित्स्वरूप शिव-शक्ति को नितान्त अभिन्न समझते हुए योगी को मूलाधार में सोयी कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाकर मध्य शक्ति के प्रबोधनपूर्वक ऊर्ध्व शक्ति का सहस्रार में निपात करना चाहिये । अपने व्यष्टि पिण्ड और सच्चिदानन्दपरमात्मस्वरूप परपिण्ड का ज्ञान प्राप्त कर परमपद परमात्मा में सामरस्य (ऐक्य) स्थापित करना चाहिये,—ऐसा करने से उन्हें परमात्म असंग शिवस्वरूप की प्राप्ति हो जाती है ॥ १ ॥

परमपद

परमपदमिति स्वसंवेद्यमत्यन्तभासाभासकमयम् ॥ २ ॥

(परम पद द्वैताद्वैतविवर्जित है ।) परम पद स्वानुभवैकगम्य है—स्वसंवेद्य है और स्वप्रकाशस्वरूप अभिव्यक्त है—किसी अन्य प्रकाश के माध्यम से यह बोधगम्य नहीं है ॥ २ ॥

विशेष—स्वसंवेद्य परमपद का आशय यह है कि परमात्मा ही परमात्मा को जानता है अथवा जब कुण्डलिनी के पूर्ण प्रबोधन से जीवात्मा अखण्ड परमात्म-

स्वरूप को प्राप्त हो जाता है, तब वह परमपद में स्वस्थ हो जाता है—यही परमपद की स्वसंवेद्यता है।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
(गीता १०। १५)

यह परमात्मा स्वप्रकाश से प्रकाशस्वरूप—अत्यन्त भासाभासक है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
(गीता १३। १७)

उपनिषद् में उल्लेख है कि स्वप्रकाशस्वरूप परमात्मा सूर्य-चन्द्र के प्रकाश से नहीं प्रकाशित होता, सूर्य—चन्द्र का तेज उस परमप्रकाश में विलय को प्राप्त हो जाता है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकम्।
(कठोपनिषद् २। ५। १५)

यह परमात्मपद सच्चिदानन्दस्वरूप होने से चक्षुरादिइन्द्रियातीत है।

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति तत्त्वविन्नापराकला।
ऊहापोहौ कर्तव्यौ, वाचा तत्र करोति किम्।
वाग्मिनागुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्य्यते।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परपदम्॥ ३॥

उस परम पद के सम्बन्ध में बुद्धि किसी भी तरह का निश्चय नहीं कर सकती है, न मन, जो संकल्परूप है, उसमें प्रवेश पा सकता है, उस परमपद का न तो (वाणी से) मण्डन किया जा सकता है, न स्वरूप में स्थित कराने वाली कला भी उसका निर्वचन कर सकती है, न किसी धर्म-विशेष के आश्रय में उसका खण्डन किया जा सकता है। वाग्मी (वाचस्पति) गुरु के द्वारा भी उसका तत्वतः निरूपण नहीं हो सकता है। यही कारण है कि साक्षात् शिव ने उस परम पद को स्वसंवेद्य कहा है॥ ३॥

विशेष—उस परम पद में चक्षुइन्द्रिय का प्रवेश नहीं है, उसमें वागिन्द्रिय की भी पहुँच नहीं है। मन (अन्तःकरण) का भी इसमें प्रवेश नहीं है। यह बतलाने से भी तो समझ में नहीं आ सकता है।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्।

(केनोपनिषद् १ । ३)

साक्षात् शिव के कथन का सन्दर्भ महायोगी गोरखनाथ ने इस परम पद के सम्बन्ध में निरूपित किया है, जिसकी पुष्टि शिवसंहिता में की गयी है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
साधनादमलं ज्ञानं स्वयं स्फुरति तद् ध्रुवम्॥
(शिवसंहिता ५ । २१६)

यह पद न तो वाणी से प्राप्त हो सकता है, न मन से ही। योगाभ्यासरूपी साधन से यह निर्मल ज्ञानस्वरूप स्वयं प्रकाशित होता है।

अतएव नानाविध विचार्यचातुर्यचर्चाविस्मयाङ्गत्वाद् गुरुचरणकृपातत्त्वमात्रेण, निरुपाधिकत्वेन निर्णेतुं शक्यत्वात् स्वसंवेद्यमेव परमपदं प्रसिद्धमिति सिद्धान्तः॥ ४॥

अतएव उस परम पद का वर्णन करने में अनेक प्रकार के सूक्ष्म विचारों में निपुण विद्वानों को भी विस्मित होना पड़ता है। यह परमपद तो निरुपाधिक है, प्रमाण आदि से इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, गुरु के चरण में शरणागत होने पर उनकी अहेतुकी कृपा से ही इसका ज्ञान—बोध प्राप्त हो सकता है, यह तो नितान्त निर्विकल्प समाधि में स्थित होने पर स्वानुभव में ही स्वयं प्रकाशस्वरूप अभिव्यक्त होता है, यह स्वसंवेद्य है। श्रुतिस्मृति में इस तरह का सिद्धान्त निर्णीत किया गया है॥ ४॥

गुरु द्वारा सन्मार्गदर्शन

गुरुरत्र सम्यक्सन्मार्गसन्दर्शनशीलो भवति सन्मार्गो योगमार्गस्तदितरः पाखण्डमार्गः। तदुक्तमादिनाथेन—

योगमार्गेषु तन्त्रेषु दीक्षितास्तांश्च दूषकाः।
ते हि पाखण्डिनः प्रोक्तास्तथा तैः सह वासिनः॥ ५॥

परम पद की प्राप्ति में गुरु ही ठीक-ठीक सन्मार्गदर्शन कराने वाला होता है, सन्मार्ग ही योगमार्ग है (जिसके द्वारा समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर सहज समाधि में साधक को परम पद का साक्षात्कार होता है । योगमार्ग (श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित सम्यक् स्वरूपप्राप्ति-मार्ग) के अतिरिक्त दूसरा मार्ग पाखंड मार्ग है (जिस पर अनात्मवादी चलकर सन्मार्ग की निन्दा और खण्डन करता है) । आदिनाथ शिव का कथन है—जो योगमार्ग और उसके उपायभूत (सहायक) तन्त्र (दक्षिण मार्ग) में दीक्षित और गुरुमुख हैं, उनकी निन्दा करने वाले और उन (निन्दकों) के सहायक पाखण्डी हैं, क्योंकि वे सत्स्वरूप की प्राप्ति में बाधक और अनभिज्ञ हैं ॥ ५ ॥

विशेष—यह योगमार्ग ही सिद्धमार्ग है, कैवल्यपद—परमपद की प्राप्ति इसी मार्ग के अनुशीलन से सम्भव है ।

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम् ।
सिद्धमार्गेण लभ्यन्ते नान्यथा शिवभाषितम् ॥
(योगबीज–८)

योग से बड़ा परमपद की प्राप्ति की दिशा में कोई दूसरा बल ही नहीं है ।

यस्मिन् दर्शिते सति तत् क्षणात् स्वसंवेद्यसाक्षात्कारः समुत्पद्यते ततो गुरुरेवात्र कारणमुच्यते ॥ ६ ॥

जिस समय (सिद्ध गुरु द्वारा) परमपद की प्राप्ति के उपायभूत योगमार्ग के उपदेश से परमात्मबोध कराया जाता है, तत्काल ही (उसी समय) स्वसंवेद्य अलख-निरञ्जन परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाता है । (यह निर्विवाद है कि) परमपद की प्राप्ति में गुरु (की कृपा) ही एकमात्र कारण है ॥ ६ ॥

गुरु और सामरस्य

तस्माद् गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया च महासिद्धयोगिभिः स्वकीयपिण्डनिरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इति सिद्धान्तः ॥ ७ ॥

यही कारण है कि बड़े-बड़े सिद्धयोगी गुरु के कृपाकटाक्ष और अपने (मनोनिग्रहादि योगसाधना के) अनुभव से स्वरूप-बोध में समर्थ होकर अपने व्यष्टिशरीर का निरुत्थानानुभव (व्यापक पर-पिण्ड में अभेदता) के समाश्रय में सामरस्य करते हैं—परमात्मस्वरूप परमपद की प्राप्ति के द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाते हैं—जीवात्मा-परमात्मा में पूर्ण अभेदता की प्रतिष्ठा ही यह व्यष्टि पिण्ड से परपिण्ड का सामरस्य है ।। ७ ।।

विशेष—गुरु की वन्दना में महायोगी गोरखनाथ ने गोरक्षशतक के मांगलिक श्लोक में इसी सामरस्य को परिलक्षित किया है ।

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ।।
(गोरक्षशतक-१)

गोरखनाथ का कथन है कि मैं अपने गुरुदेव की वन्दना करता हूँ, जो साक्षात् परमानन्द हैं, जो सच्चिदानन्दस्वरूप—आनन्दविग्रह अथवा मूर्तिमान् आनन्द हैं, जिनके सान्निध्यमात्र से ही—कृपाकटाक्ष से ही यह शरीर चिदानन्द, चिन्मय, परमानन्द, परमात्मस्वरूप हो जाता है ।

निरुत्थान-प्राप्ति का उपाय

निरुत्थानप्राप्त्युपायः कथ्यते । महासिद्धयोगिनः स्वस्वरूपतयानुसन्धानेन निजावेशो भवति निजावेशान्निःपीडित निरुत्थानदशामहोदयः कश्चिज्जायते ततः सच्चिदानन्दचमत्काराद्भुताकारप्रकाशप्रबोधो जायते, प्रबोधादखिलमेतद् द्वयाद्वयप्रकटतया चैतन्यभासाभासकं परात्परपरमपदमेव प्रस्फुटं भवतीति सत्यम् ।। ८ ।।

निरुत्थान (जीवात्मा-परमात्मा के अभिन्नत्व, एकत्व अथवा सामरस्य) की प्राप्ति के उपाय का वर्णन किया जाता है । अभेद रूप परमपद को चाहनेवाले योगी का अपने स्वरूप के अनुसन्धान से (स्व-परपिण्ड की अभेदता के द्वारा) निजावेश होता है – वह परमेश्वर को अपने ही स्वरूप में प्रतिष्ठित देखता है ।

स्वपिण्ड-परपिण्ड की अभेदता के अनुभव से उसे सर्वेश्वर परमात्मा के पिण्ड में आत्माभिव्यक्ति—निजावेश होता है और इस निजावेश के परिणामस्वरूप ही निरुत्थान अथवा सामरस्य का उदय होता है, उसे स्वाभिव्यक्तिपूर्वक इसका अनुभव होता है कि यह परपिण्ड—परमात्मपिण्ड मेरा ही (व्यष्टि—) पिण्ड है। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा के स्वसंवेद्य अनुभव के चमत्कार से अद्भुत प्रकाश-स्वरूप आत्मबोध होता है। इस बोध से द्वन्द्व—परमात्म पिण्ड और स्वपिण्ड में भेद भाव का अन्त हो जाता है और अखण्ड परमात्मस्वरूप परमपद प्रत्यक्ष हस्तामलक के समान प्रस्फुटित—स्वप्रकाशित अथवा स्वाभिव्यक्त हो जाता है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है—यह सत्य है ॥ ८ ॥

अतएव महासिद्धयोगिभिः सम्यग् गुरुप्रसादं लब्ध्वावधान-बलेनैक्यं भजमानैस्तत्क्षणात् परमं पदमेवानुभूयते ॥ ९ ॥

व्यष्टि-पिण्ड और परपिण्ड (परमात्मपिण्ड) में सामरस्य की प्राप्ति गुरु के अनुग्रह से ही होती है। सिद्धयोगियों को इसके लिये सबसे पहले गुरु के चरण में शरणागत होकर उसकी प्रसन्नता से चित्तवृत्तियों के निरोधपूर्वक स्वरूप-ध्यान और समाधि से उपासना में—योगसाधना में तत्पर होकर स्वपिण्ड से परपिण्ड पर्यन्त ऐक्य का अनुभव करना चाहिये, इस तरह की साधना से ही तत्क्षण परम-पद—द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्म पद का अनुभव होता है ॥ ९ ॥

तदनुभवबलेन स्वकीयं सिद्धं सम्यङ् निजपिण्डं ज्ञात्वा तमेव परमपद एकीकृत्य तस्मिन्प्रत्यावृत्या रूढैवाभ्यन्तरे स्वपिण्डसिद्ध्यर्थे महत्त्वमनुभूयते ॥ १० ॥

इस तरह अपने योगसाधनापरक अनुभव के प्रकाश में अपने व्यष्टिपिण्ड (परमात्मस्वरूप से अभेदता) का ज्ञान प्राप्त कर उसे परमपद में एकीकृत कर तथा उस परमपद को अपने व्यष्टि-पिण्ड में एकात्मस्वरूप कर अपने पिण्ड को सच्चिदानन्दस्वरूप में अभिव्यक्त कर परपिण्ड की उसमें अभिन्नता—अभेदता का महत्व योगी अनुभव करता है ॥ १० ॥

निजपिण्डपरीक्षा च स्वस्वरूपकिरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव समरसकरणं भवति ॥ ११ ॥

निज पिण्डपरीक्षा (से आशय) यह है कि अपने शरीर में भी परमात्म-स्वरूपकिरणरूप आनन्द का ही विकास है और इस प्रकाश के उन्मेष को अपने ही (व्यष्टिपिण्ड के) भीतर समेट कर परमात्मा से अभिन्न अथवा अभेद अनुभव करना ही सामरस्य है ॥ ११ ॥

अतएव स्वकीयं पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेण प्रतीयमानं स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्तुरीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्धयर्थं तिष्ठन्तीति प्रसिद्धम् ॥ १२ ॥

परमात्मप्रकाश के अपने व्यष्टि-पिण्ड में प्रत्याहरण के परिणामस्वरूप यह शरीर महाप्रकाशपुञ्जरूप में आकारित (सच्चिदानन्दस्वरूप) हो उठता है । इस तरह अपने व्यष्टि-पिण्ड में परमात्म-प्रकाश के प्रत्याहरण—सामरस्यकरण द्वारा सिद्धयोगी देहसिद्धि — चिन्मय स्वरूप—स्वानन्दविग्रह की प्राप्ति से चिरकाल तक अजर-अमर रहते हैं ॥ १२ ॥

पिण्डसिद्धि का वेष

अथ पिण्डसिद्धौ वेषः कथ्यते—
शङ्खमुद्राधारणं च केशरोमप्रधारण
ममरीपानममलं तथा मर्दनमुत्तमम् ॥ १३ ॥
एकान्तवासो दीक्षा च संध्याजपममायया ।
ज्ञानं भैरवमूर्त्तेस्तु तत्पूजा च यथाविधि ॥ १४ ॥
शङ्खध्मातं सिंहनादं कौपीनं पादुके तथा ।
अङ्गवस्त्रं बहिर्वस्त्रं कम्बलं छत्रमद्भुतम् ॥ १५ ॥
वेत्रं कमण्डलुञ्चैव भस्मना च त्रिपुण्ड्रकम् ।
कुर्यादेतान् प्रयत्नेन गुरुवन्दनपूर्वकम् ॥ १६ ॥

पिण्ड (देह)-सिद्धि हो जाने पर योगी—योगसिद्ध (परमात्मपदप्राप्त) के वेषधारण का वर्णन किया जाता है । उसे (गले और हाथ में) शंख और (दोनों कानों में) मुद्रा को धारण करना चाहिये, केश और रोम धारण करना चाहिये

तथा अमरी की क्रिया के द्वारा उसे सहस्रार से द्रवित अमृत का पान करना चाहिये, प्राणायाम और आसनों के अभ्यास से उत्पन्न पसीने का अंग में लेप करना चाहिये। एकान्तवास का सेवन करते हुए गुरु की दीक्षा के अनुरूप निर्मल चित्त से संध्या-जप आदि के अनुष्ठान में तत्पर रहना चाहिये और योगसाधना मे विघ्नों के निवारण के लिये शास्त्रविधि से भैरव देव का पूजन करना चाहिये। शंखनाद करना चाहिये, वस्त्र के रूप में कौपीन धारण करना चाहिये, पैरों में खड़ाऊँ पहनना चाहिये तथा ओढ़ने-बिछाने के लिये कम्बल तथा पहनने के लिये अँचला अथवा धोती के रूप में वस्त्र रखना चाहिये, पानी के लिये कमण्डलु और जलवृष्टि से बचने के लिये पास में छाता रखना चाहिये। शरीर को स्नान के उपरान्त भस्म से अलंकृत कर ललाट में त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिये। नित्यप्रति गुरु के चरण का ध्यान करते हुए प्रणाम समर्पित कर साधना में तत्पर रहना चाहिये ॥ १३–१६ ॥

विशेष—अमरीपान (अमरोली) के अभ्यास द्वारा शरीर में साधक वीर्य की अखण्डता सुरक्षित रखता है। हठयोग–प्रदीपिका में अमरीपान पर प्रकाश डाला गया है।

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम्।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेत् सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥
अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥

(हठयोगप्रदीपिका ३। ९६–९८)

अधिक पित्तवाली (प्रारम्भिक) बिन्दु-धारा और सार-अंश से रहित अन्तकी धारा को छोड़कर शीतल मध्यधारा (चन्द्रामृत) का ही (इस मुद्रा में) पान किया जाता है, खण्डकापालिकमत में यही अमरोली है। साधक नासिका द्वारा अमरी का नित्य पान करते हुए वज्रोली मुद्रा द्वारा वीर्य के ऊर्ध्वाकर्षण का अभ्यास करता है। यही अमरोली है। अमरोली के अभ्यास से निकलती सुधा

से अंग में लेप करने से दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। सुधा को भस्म से मिश्रित कर लेप करना चाहिये।

परमपद की प्राप्ति

तेषां पिण्डसिद्धौ सत्यां सर्वसिद्ध्यः संनिधाना भवन्ति ।। १७ ।।

यस्मिञ्ज्ञाते जगत्सर्वसिद्धं भवति लीलया।
सिद्ध्यः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परं पदम् ।। १८ ।।
परं पदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः।
देहमूलं हि वेषः स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकः ।। १९ ।।

इस प्रकार योगसाधना में तत्पर होने पर पिण्डसिद्धि--शरीर में ही परपिण्डस्थ परमात्मा की व्यापकता की अनुभूति होती है और इस सत्स्वरूप में समस्त अणिमादि सिद्धियाँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं ।। १७ ।। इस परमपद--परमात्म-तत्व का बोध होने पर जगत् परमात्मस्वरूप में सहज--अनायास अभिव्यक्त हो उठता है। सिद्धियाँ बिना चाहे ही स्वतः उपस्थित हो जाती हैं। साधक को इन सिद्धियों में न उलझ कर परमपद का ही बोध प्राप्त करना चाहिये ।। १८ ।। यह परम पद वेष धारण करने से नहीं सिद्ध होता है। वस्तुतः वेषधारण का तात्पर्य तो यह है कि लोकमात्र को—संसार में निवास करने वाले प्राणियों को संन्यासवेष धारण के महत्व का पता चल जाय। यही कारण है कि देह को इस प्रकार वेषादि-चिह्नों से अलंकृत किया जाता है। साधनसहित वेष धारण कर परमपद का बोध प्राप्त करना चाहिये।

योगमार्ग

लोके निकृष्टमुत्कृष्टं परिगृह्य पृथक्कृतम्।
तत्स्वधर्मं इति प्रोक्तो योगमार्गे विशेषतः ।।२०।।
योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ।।२१।।

लोक में ऐहिक फलजनक (सेवादि) कर्म तथा यज्ञ, दानादि उत्कृष्ट पुण्यकर्म--दोनों ही सकाम बुद्धि से किये जाते हैं और जब भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म के सम्पादन द्वारा साधक कर्मफल की लिप्सा का त्याग कर देता है, तब यही विशेष रूप से योगमार्ग में स्वधर्म कहा जाता है ॥ २० ॥ भगवान् शिव ने श्रुति, स्मृति, तन्त्र और पुराण तथा आगमों में यही कहा है कि योगमार्ग से श्रेष्ठ मोक्षप्रद--परमात्मबोधप्रदायक अन्य कोई मार्ग नहीं है ॥ २१ ॥

महायोगी गोरखनाथजी ने योग को वेदकल्पतरु का परम फल कहा है—

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ॥
(गोरक्षशतक–६)

वेद कल्पतरु हैं । जिस तरह कल्पतरु की शाखायें पक्षियों के आश्रयस्थान हैं, ठीक इसी तरह द्विजों (पण्डितों, विद्वानों) द्वारा वेद की शाखाओं, प्रतिशाखाओं का परिशीलन किया जाता है । वेदरूपी कल्पतरु का फल योग है । हे सत्पुरुषो ! इसका सेवन (साधन) करो । यह योग संसार के त्रय—आधिदैहिक आधिभौतिक और आधिदैविक ताप का शमन (नाश) कर देता है । इस अभ्यास अथवा साधन से सांसारिक दुःख अथवा भवबन्धन समाप्त हो जाता है, स्वरूपबोध प्राप्त होता है ।

योगः संहननोपायो ज्ञानसङ्गतियुक्तिषु ॥ २२ ॥
लोके निकृष्टं सततं यं वा यं वा प्रकुर्वते ।
तं वा तं वा वर्जयन्ति लोका ज्ञानबलेन तु ॥ २३ ॥
मनुष्याणां च सर्वेषां प्राक् संस्कारवशादिह ।
शास्त्रयुक्तिसमाचारः क्रमेण भवति स्फुटम् ॥ २४ ॥

दो वस्तुओं को मिलाना ही योग है । लोक में अनित्य फल देने वाली वस्तुओं के योग का जो अर्थ किया जाता है, वह गौण है । यह योग तो ज्ञान-साधनपरक मोक्षप्रदायक है । (यही योग का मुख्य अर्थ है ।) ज्ञानी लोक में व्यवहृत निकृष्ट अर्थ का परित्याग कर—अनित्य फलदायक गौण अर्थ के स्थान पर मुख्य अर्थ का ग्रहण करते हैं । सभी मनुष्यों की पूर्वजन्म के संस्कार

और वासना के अनुरूप इस दिशा में प्रवृत्ति होती है । अतएव क्रमपूर्वक शास्त्र-युक्ति व्यवहार के प्रकट होने पर ही किन्हीं-किन्हीं भाग्यशाली प्राणी की प्रवृत्ति योगसाधना में होती है ।। २२–२४ ।।

एवं पिण्डे संसिद्धे ज्ञानप्राप्त्यर्थं तच्च परमं पद महासिद्धानां मतं परिज्ञाय च तस्मिन्नहं भावे जीवात्मा च सहजसंयमसोपायाद्वैतक्रमेणोपलक्ष्यते ।। २५ ।।

इस तरह योगसाधना के द्वारा पिण्ड के सिद्ध होने पर अखण्ड ज्ञान की प्राप्ति के लिये महासिद्धों के मत में चिद्रूप शक्ति सहित अखण्ड शिवतत्व ही परम पद कहा जाता है । उस आत्मस्वरूप अखण्ड शिवतत्व में यह भाव स्थापित करे कि मैं ही शिव हूँ, मुझमें और शिव में सम्पूर्ण तादात्म्य है । परम शिव से अभिन्न जीवात्मा—जीव का वास्तविक आत्मस्वरूप ही सहज, संयम, सोपाय और अद्वैत क्रम से लक्षित होता है ।। २५ ।।

सहजसंयमसोपायाद्वैतज्ञान

तत्र सहजमिति विश्वातीतं परमेश्वरं विश्वरूपेणावभासमानमिति ज्ञात्वैकमेवास्तोति स्वस्वभावेन यज्ज्ञानं तत्सहजं प्रसिद्धम् ।। २६ ।।

सहज ज्ञान का वर्णन किया जाता है । यद्यपि (अलखनिरञ्जन) परमेश्वर विश्वातीत निराकार और निर्गुण है तथापि वह मायाउपाधिसहित विश्वरूप में अवभासित, प्रतिभासित होता है । ऐसा समझ कर तत्वदृष्टि से परमेश्वर और मुझ (जीवात्मा) में पूर्ण अभेदता है । अपने आपको साधक परमात्मस्वरूप, असंग और व्यापक अनुभव करता है । इस तरह का स्वाभाविक यथार्थ (तत्व) ज्ञान ही सहज ज्ञान है ।। २६ ।।

संयम इति सावधानानां प्रस्फुरद्व्यापाराणां निजवर्तिनां संयमं कृत्वाऽऽत्मनि धीयत इति संयमः ।। २७ ।।

सहज ज्ञान के उपरान्त संयम के क्रम का वर्णन किया जाता है । इन्द्रियाँ हमारे शरीर के कार्यों में अपने विषयों के ग्रहण में तत्पर रहती हैं । (इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति स्वाभाविक है ।) निरन्तर विषय-ग्रहण-व्यापार में तत्पर इन्द्रियों तथा मन को विषयाभिमुख होने से निरुद्ध कर उन्हें आत्मा में—अखण्ड परमात्म स्वरूप में लगाना ही संयम कहा जाता है ॥ २७ ॥

सोपायमिति स्वयमेव प्रकाशमयं स्वेनैव स्वात्मन्येकीकृत्य सदा तत्त्वेन स्थातव्यम् ॥ २८ ॥

अब सोपाय का वर्णन किया जाता है । मैं स्वयमेव स्वप्रकाशस्वरूप (द्वैताद्वैतविवर्जित अखण्ड परमात्मरूप) हूँ--इस तरह परमात्मा में अपनी आत्मा को तत्त्वतः अभेद कर साधक को आत्मस्वरूप में स्थित रहना चाहिये । जिस ज्ञान से इस अखण्डस्वरूपता का बोध होता है, वही सोपाय जान है ॥ २८ ॥

अद्वैतमित्यकर्तृतयैव योगी नित्यतृप्तो निर्विकल्पः सदा निरुत्थानत्वेन तिष्ठति ॥ २९ ॥

अब अद्वैत स्वरूपस्थितिका निरूपण किया जाता है । आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता है, वह असंग, शून्य, निर्विकल्प है । इस तरह आत्मा की परमात्मा में —अखण्ड निरञ्जन परमेश्वर में अभेदता का स्थापन कर—निरुत्थान भाव से परमात्मस्वरूप में स्थित योगी नित्यतृप्त होता है; उस परमात्मस्वरूप में सदा अच्युत रहता है ॥ २९ ॥

सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः स्वस्वनिग्रहः सोपायं स्वस्वविश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ॥ ३० ॥

जीवात्मा और परमात्मा में सम्पूर्ण अभेदता है—इस तरह का ज्ञान ही सहज कहलाता है । इन्द्रियों सहित मन को आत्मा में प्रवृत्त करना—निग्रहीत करना ही संयम है । अपने सत्स्वरूप में स्थिति--विश्रान्ति ही सोपाय है और अद्वैत स्वरूप ही परम पद है ॥ ३० ॥

सद्गुरुका सेवन

तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न तर्कशब्दविज्ञानान्नाचाराद्वेदपारगात् ।।३१।।
वेदान्तश्रवणान्नैव तत्वमस्यादिबोधनात् ।
न हंसोच्चारणाज्जीवब्रह्मणोरैक्यभावनात् ।।३२।।
न ध्यानान्नजपाल्लीनः सर्वज्ञः सिद्धिपारगः ।
स्वेच्छो योगी स्वयं कर्ता लीलया चाजरामरः ।।३३।।
अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडति भैरवो यथा ।
इत्येवं निश्चलो योऽसौ क्रमेणाप्नोति लीलया ।।३४।।
असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सद्गुरोः करुणां विना ।
अतस्तु गुरुरासेव्यः सत्यमीश्वरभाषितम् ।।३५।।

इस परम पद का ज्ञान सद्गुरु (योगानुष्ठान में तत्पर मार्गदर्शक) के श्रीमुख से सदुपदेशामृत ग्रहण से ही प्राप्त होता है, चाहे करोड़ों शास्त्रों का अध्ययन किया जाय, चाहे साधक विज्ञान प्राप्त करे, चाहे अनेक तर्क में निपुण हो, चाहे आचार में तत्पर हो, चाहे चारों वेदों में पारंगत हो, चाहे वेदान्तश्रवण में ज्ञाननिष्ठ हो, चाहे तत्वमसि आदि वाक्यों से आत्मतत्त्व में प्रबुद्ध हो, चाहे सोऽहं-सोऽहं—हंस मन्त्र (अजपा गायत्री) को सिद्ध कर ले, जीवात्मा-परमात्मा में अभेदता की अनुभूति करे, चाहे ध्यान लगाये, चाहे ज़प करे पर गुरु के उपदेश से ही योगी सिद्ध होता है, सर्वज्ञ होता है, सभी सिद्धियाँ उसके करतलगत हो जाती हैं, वह स्वयं कर्ता हो जाता है, अनायास अजर और अमर हो जाता है, वह सर्वत्र अभय हो जाता है, देवताओं और दैत्यों द्वारा वह अवध्य होता है। वह सर्वत्र भैरव—(साक्षात् भगवान शिव-) रूप होकर विहार करता है । वह संशयरहित होता है और असाध्य सिद्धियों को अपने वश में कर लेता है । यह सब कुछ गुरु की कृपा के बिना असम्भव है, इसलिये (आदरपूर्वक प्रीतिपूर्वक) अच्छी तरह गुरु की शरण प्राप्त कर श्रद्धावान् होना चाहिये, ईश्वर (शिव) का यह कथन सत्य है, सत्य है ।। ३१–३५ ।।

प्रथमेत्वरोगतासिद्धिः सर्वलोकप्रियो भवेत् ।
कांक्षन्ति दर्शनं तस्य स्वात्मारूढ़स्य नित्यशः ॥३६॥
कृतार्थः स्याद् द्वितीये वै कुरुते सर्वभाषणम् ।
तृतीये दिव्यदेहस्तु व्यालैर्व्याघ्रैर्न बाध्यते ॥३७॥
चतुर्थे क्षुतृषानिद्राशीतातापविवर्जितः ।
जायते दिव्य योगीशो दूरश्रावी न संशयः ॥३८॥
वाक्सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकायप्रवेशनम् ।
षष्ठे न च्छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातैर्न भिद्यते ॥३९॥
वायुवेगी क्षितित्यागी दूरदर्शी स सप्तमे ।
अणिमादिगुणोपेतस्त्वष्टमे वत्सरे भवेत् ॥४०॥
नवमे वज्रकायः स्यात् खेचरो दिक्चरो भवेत् ।
दशमे पवनाद वेगी यत्रेच्छा तत्र धावति ॥४१॥
सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिभाग्भवेत् ।
द्वादशे शिवतुल्योऽसौ कर्त्ता हर्ता स्वयं भवेत् ॥४२॥
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं श्रीभैरवो यथा ॥४३॥

सद्गुरु से दीक्षित होकर सदुपदेशग्रहणपूर्वक योगसाधना में तत्पर होने पर साधक पहले वर्ष में शरीर के मलादि दोषों से निर्मल होकर नीरोग हो जाता है और सभी लोगों के लिये समानरूप से प्रिय होता है । योग-साधना में तत्पर उस साधक के दर्शन की सब लोग इच्छा करते हैं । वह दूसरे वर्ष में (संकल्प-रहित होकर) सफलमनोरथ हो जाता है और उसे सभी भाषाओं में बातचीत करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है । तीसरे वर्ष में-वह देहसिद्ध हो जाता हैं, उसका शरीर दिव्यतेज से सम्पन्न हो जाता है, और सर्प-व्याघ्र आदि पशु उसके समक्ष अहिंसक हो जाते हैं, उसे किसी भी तरह की बाधा नहीं पहुंचाते हैं । चौथे वर्ष में वह योगसाधक भूख-प्यास, जाड़ा-गरमी आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठ जाता है और दूर स्थान पर होने वाले शब्दों को सुनने लगता है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । पाँचवें वर्ष में वह वाक्सिद्ध हो जाता है—वह जो कुछ भी कहता है, वह सत्य होता है और वह दूसरे के शरीर में प्रवेश करने की

सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है—दूसरे के मृतशरीर में प्रवेश कर उसे प्राणान्वित कर देता है। छठें वर्ष में उसका शरीर इतना पुष्ट हो जाता है कि किसी भी प्रकार के शस्त्र तथा वज्रपात आदि से प्रभावित नहीं होता है। वह आसन पर बैठे-बैठे पृथ्वीतल से ऊपर उठ जाता है और वायुके समान वेग धारण कर इस तरह सातवें वर्ष में आसमान में उड़ने लगता है। आठवें वर्ष में वह अणिमा आदि सभी सिद्धियों से सम्मन्न हो उठता है और नौवें वर्ष में उसका शरीर वज्र के समान हो जाता है, वह आकाश और अनेक दिशाओं में भ्रमण करने में समर्थ होता है। दशवें वर्ष में वह स्वेच्छा से पवन के वेग के समान अभीष्ट स्थान में शीघ्रातिशीघ्र पहुँच जाता है। ग्यारहवें वर्ष में वह सर्वज्ञ और समस्त सिद्धियों का स्वामी हो जाता है। बारहवें वर्ष में वह साक्षात् शिव के समान जगत् को रचने और उसका संहार करने की सामर्थ्य से युक्त होता है। वह योगसिद्ध पुरुष भैरव के समान तीनो लोकों में पूज्य होता है ।। ३६–४३ ।।

एवं द्वादशवर्षैस्तु सिद्धयोगी महाबलः।
जायते सद्गुरोः पादप्रभावान्नात्र संशयः ।।४४।।

बारह वर्षों में सद्गुरु के शरणापन्न होकर योगाभ्यास करने से साधक सिद्धयोगी होकर शिवस्वरूप हो जाता है, इसमें संसय नहीं है ।। ४४ ।।

अनुवुभूषितयोनिजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत्।
तदनुससरणात्परमं पदं, समरसीकरणं न च दूरतः ।।४५।।

जो योगसाधक शान्ति--मुक्ति चाहता है, जो मोक्ष का अनुभव करना चाहता है, उसे गुरु के चरण-कमल का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। सद्गुरु के अनुग्रह से योगसाधन में तत्पर होने से उसे पिण्डसिद्धि (अपने पिण्ड में परपिण्ड--परमात्मरूप की अखण्ड व्यापकता की अनुभूति) और परम पद की प्राप्ति सहज सुलभ हो जाती है ।। ४५ ।।

गुरुकुलसन्तान

गुरुकुलसन्तानं पञ्चधा प्रोक्तम्। आईसन्तानं विलेश्वर सन्तानं, विभूतिसन्तानं, नाथसन्तानं. योगीश्वरसन्तानञ्चे त्येषामपि सन्तानानां पृथक् पृथक् वैशिष्ट्यं वर्तते ।। ४६ ।।

योगमहाज्ञान के उपदेष्टा सिद्धगुरुओं की सन्तान (वंश)–परम्परा का वर्णन किया जाता है। यह पाँच प्रकार का वर्णन किया जाता है । यह पाँच प्रकार की है। आई नाम विमला शक्ति का है, यह आईनाथ या उदयनाथ से सम्बद्ध है, आई शिष्य को ही आईसन्तान-परम्परा से अभिहित किया जाना है। दूसरी परम्परा विलेश्वर गुरु की है। (यद्यपि इस परम्परा में दीक्षित शिष्य दिगम्बर होते हैं—वस्त्र तक नहीं धारण करते तथापि अपने उपदेशामृत से श्रद्धालु अधिकारी व्यक्तियों को दीक्षित करते हैं। तीसरी परम्परा उन सिद्ध गुरुओं की है, जो विभूति धारण करते हैं, उनके द्वारा दीक्षित शिष्य विभूति-सन्तान कहे जाते हैं। चौथी परम्परा नाथयोग के सिद्ध गुरुओं की है, समस्त प्रपंचों से अतीत नाथतत्व की दीक्षा से दीक्षित शिष्य नाथसन्तान कहे जाते हैं। पाँचवीं परम्परा योगीश्वर सन्तान के रूप में विख्यात है। व्यापक, असंग अलख-निरञ्जन तत्वस्वरूप में लय को प्राप्त योगीगुरु शिष्यों की योग्यता के अनुरूप सदुपदेश प्रदान करते हैं। ऐसे शिष्य योगीश्वर-सन्तान के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन पाँचों परम्पराओं की पृथक्-पृथक् विशेषताएँ हैं ॥ ४६ ॥

परमार्थतः सर्वं पाञ्चभौतिकं न जाताः पुरुषाः सम्बोधमात्रैकरूपः शिवस्तदितरत्सर्वमज्ञानमव्यक्तं भवति तत्र शिवस्तु ज्ञानम् ।। ४७ ।।

परमार्थ के स्तर पर विचार करने से पता चलता हैं कि संसार की समस्त वस्तुएँ पाञ्चभौतिक हैं, पाँच तत्वों से उत्पन्न हैं । (इस तरह गुरुप्रणाली भी पाँच रूपों में विभक्त है।) जीवात्मा—पुरुष आत्मा की उत्पत्ति नहीं होनी (क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका नाश भी होता है), यह आत्मा सद्ज्ञानस्वरूप शिव है, शिव से इतर सब कुछ अज्ञान है, अज्ञान-अव्यक्त माया से बोधित यह जगत् प्रपञ्च मात्र है। एक मात्र शिव ही अखण्ड ज्ञानस्वरूप व्यापक परमात्मा हैं ॥ ४७ ॥

एतेषामपि सन्तानानां केचित्स्वपराङ्मुखा वेशमात्रसम्पन्नाः क्रयविक्रयादिकं कुर्वन्ति सन्तानभेदं प्रत्यन्योन्यमधः कुर्वन्ति योगमार्गं द्वेषयन्ति ।। ४८ ।।

इन योगी-सन्तानों में अनेक आत्मविमुख होकर जगत् के व्यापार (लेन-देन, संग्रह, त्याग आदि प्रपंच) में तत्पर रहते हैं, केवल वेशमात्र धारण कर योगी कहलाते हैं । इस तरह परस्पर एक-दूसरे को नीचा दिखाते हैं और योगमार्ग से द्वेष करते हैं ।। ४८ ।।

रजसा घोरसंकल्पाः कामुका अतिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापाधिक्कुर्वन्तीश्वरप्रियान् ।। ४९ ।।
साधुसङ्गमसच्छास्त्रपरमानन्दलक्षितान् ।
स्वेच्छाचारविहारैकज्ञानविज्ञानसंयुतान् ।। ५० ।।
यूयं शिष्टा वयं दुष्टा दुष्टा यूयं वयं तथा ।
एव वदन्ति चान्योन्यं प्रमोहेन निरन्तरम् ।। ५१ ।।

इस तरह सन्मार्ग—योगमार्ग से भ्रष्ट योगी रजोगुणी होते हैं और भयानक से-भयानक संकल्पों की पूर्ति और कामनाओं की सिद्धि में लगे रहते हैं, वे बड़े क्रोधी, दाम्भिक और अभिमानी होते हैं, ऐसे पापात्मा परमात्मा के शरणागत, संत के संग और सच्छास्त्रों के अध्ययन में आनन्द लेने वाले, अखण्ड आत्मस्वरूप में रमण करने वाले आत्मज्ञानी और परमात्मतत्व के विज्ञानियों की निन्दा करते हैं कि आप अपने को शिष्ट और हमें दुष्ट समझते हैं, पर वास्तव में (सज्जन के वेष में) आप ही दुष्ट और हम लोग शिष्ट हैं; इस तरह अज्ञानी की तरह वे आपस में एक-दूसरे की निन्दा करते रहते हैं ।। ४९–५१ ।।

पृथ्वीजलं तथा वह्निर्वायुराकाशमेव च ।
एते सन्तानोदयास्तु सम्यगेव प्रकीर्तिताः ।। ५२ ।।

शक्तिसम्वलित शिव की स्वप्रकृति से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश-रूप में पाँच सन्तानों की उत्पत्ति का ही वर्णन उपलब्ध होता है ।। ५२ ।।

काठिन्यं चार्दता तेजो धावनं स्थिरता खलु ।
गुणा एते च पञ्चैव सन्तानानां क्रमात्स्मृताः ।। ५३ ।।
ब्रह्माविष्णुश्चरुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ।
एताश्च देवताः प्रोक्ता सन्तानानां क्रमेणु तु ।। ५४ ।।

पृथ्वी का गुण कठोरता है, जल का गुण आर्द्रता है, अग्नि का गुण तेज है, वायु का गुण सञ्चरण है और आकाश का गुण अचलता स्थिरता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव ही इनके पाँच अधिष्ठातृ देवता हैं। ये पाँच गुरुसन्तान के रूप में यथाक्रम (उपास्यरूप में) वर्णित हैं। (आदिनाथ शिव ही परम गुरु हैं, उन्हीं की सन्तान के रूप में इन पाँच गुरुवंश-परम्परा का वर्णन किया गया है।) यही पाँचों गुरुसन्तानों का यथार्थ रूप में अवस्थाभेद से वर्णन है ॥ ५४ ॥

स्थूलसूक्ष्मकारणतुर्यं तुर्यातीतमिति पञ्चावस्थाः क्रमेण लक्ष्यन्ते । एतेषामपि सर्वेषां विज्ञाता यः स योगी सिद्ध पुरुषः स योगीश्वरेश्वर इति परमरहस्यं प्रकाशितम् ॥ ५५ ॥

स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तुर्य और तुर्यातीत पाँच अवस्थायें हैं। (इन्हें योग की सात भूमिकाएँ कही गयी हैं, नित्यानित्य वस्तु के विवेकपूर्वक तीव्र मुमुक्षारूप शुभेच्छा पहली भूमिका है। गुरुमन्त्र प्राप्त कर उपनिषद् तथा योगशास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्तिमूलक विचारणा दूसरी अवस्था है। आसन, प्राणायाम तथा निदिध्यासनपूर्वक आत्मस्वरूप में प्रवृत्ति तनुमानसा नाम की तीसरी अवस्था है। समस्त जगत् में आत्मरूपता का ग्रहण सत्त्वापत्ति नाम की चौथी अवस्था है। विश्वप्रपञ्च में सम्पूर्ण अनासक्ति और अद्वैत स्वरूप में स्थिति असंसक्ति नाम की पाँचवीं अवस्था है। स्वरूपानन्द की प्राप्ति पदार्थाभाविनी नाम की छठी भूमिका है, कैवल्यावस्था की प्राप्ति तुर्यगा नाम की सातवीं भूमिका है।) इन पाँचों अवस्थाओं का मर्मज्ञ योगी, सिद्धपुरुष, योगीश्वरेश्वर कहलाता है। इस तरह परम रहस्य का प्रकाशन किया गया ॥ ५५ ॥

अतएव सम्यग् निजविश्रान्तिकारकं महासिद्धयोगिनं सद्गुरुं सेवयित्वा सम्यक् सावधानेन परमं पदं सम्पाद्य तस्मिन्निजपिण्डे च समरसभावं कृत्वात्यन्तनिरुत्थानेन सर्वानन्दत्वे निश्चलं स्थातव्यं ततः स्वयमेव महासिद्धो भवतीति सत्यम् ॥ ५६ ॥

योगसाधक को चाहिये कि वह मोक्षस्वरूप-प्रदान करने वाले महासिद्धयोगी सद्गुरु से सदुपदेश ग्रहण कर अत्यन्त सावधान होकर परमपद का ज्ञान प्राप्त करे

और उस परमपदरूप में अपने व्यष्टि-पिण्ड व्याप्त आत्मा का सामरस्य—ऐक्य स्थापित कर उस अद्वैत स्वरूप में सच्चि दघन अखण्ड परमात्मा में स्थित हो जाय। इस तरह परमपद में स्वरूपावस्था की प्रतिष्ठा से वह स्वयं महासिद्ध—परमतत्वज्ञ योगी हो जाता है॥ ५६॥

न विधिर्नैव वर्णश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना।
न भेदोनिधनं किञ्चिन्नाशौचं नोदकक्रिया॥ ५७॥
योगीश्वरेश्वरस्यैव नित्यतृप्तस्य योगिनः।
चित्स्वात्मसुखविश्रान्तिभावलब्धस्य पुण्यतः॥ ५८॥
सम्यक्स्वभावविज्ञानात् क्रमाभ्यासान्नचासनात्।
न वैराग्यान्ननैराश्यान्नाहारात्प्राणधारणात्॥ ५९॥
न मुद्राधारणाद्योगान्मौनकर्मसमाश्रयात्।
न विरक्तौ वृथायासान्न कायक्लेशधारणात्॥ ६०॥
न देवार्चनाश्रयाद् भक्त्यानाश्रमाणाञ्च पालनात्।
न षड्दर्शनकेशादिधारणान्न च मुण्डनात्॥ ६१॥
न जपान्न तपोध्यानान्न यज्ञतीर्थसेवनात्।
नानन्तोपाययत्नेभ्यः प्राप्यते परम पदम्॥ ६२॥

योगीश्वर, आत्मस्वरूपानन्द में स्वस्थ योगी को मोक्षरूप स्वरूपावस्थिति विश्रान्ति के पुण्य से आत्मस्वभावपरक सूक्ष्म ज्ञान से परमपद की प्राप्ति होती है, उसके लिये विधि—शास्त्रनिर्दिष्ट नियमपालन, वर्ण की मर्यादा और संकल्प (यह करना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये) अशौच, तर्पण-क्रिया, जन्म-मरण के संस्कार आदि की आवश्यकता नहीं होती है। क्रमपूर्वक योगाभ्यास, आसन, वैराग्य, अनासक्तिभाव (नैराश्य), आहार, प्राणायाम, मुद्रा-धारणा-योग, मौन के अभ्यास, विशेष कर्म के आचरण, वैराग्य, व्यर्थ परिश्रम, शरीर को उपवास आदि से संयमित करने, इष्ट देव की अर्चना, भक्ति और आश्रम धर्म के पालन, छः दर्शन, केशादिधारण, मुण्डन, जप, तप, ध्यान, यज्ञ, तीर्थसेवन, अनन्त-असंख्य उपायों से भी परमपद की प्राप्ति नहीं होती है॥ ५७–६२॥

एतानि साधनानि सर्वाणि दैहिकानि परित्यज्य परम-पदेऽदैहिके स्थीयते सिद्धपुरुषैरिति॥ ६३॥

(उपर्युक्त) ये समी सधान देह से साध्य हैं । इनमें आसक्त न होकर सिद्ध पुरुष आत्मस्वरूप परम पद में ही स्थित रहते हैं ॥ ६३ ॥

विशेष—स्वरूपावस्थिति के लिये इन दैहिक साधनों का अभ्यास सार्थक है अन्यथा ये सब-के-सब निरर्थक हो जाते हैं ।

गुरु की प्रसन्नता और परमपद

तत् कथं गुरुदृक्पातनात् प्रायो दृढानां सत्यवादिनां सा स्थितिर्जायते ॥ ६४ ॥

कथनाच्छक्तिपाताद्वा यद्वापादावलोकनात्
प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥ ६५ ॥

उस अखण्ड आत्मस्वरूप परम पद की प्राप्ति किस तरह होती है । सत्योन्मुख—सत्स्वरूप के इच्छुक दृढ़—योगाभ्यासमें विधिपूर्वक स्थित योगसाधकों में—प्राय: योग्यपात्रों में परम पद की स्थिति उत्पन्न होती है । गुरु के उपदेशामृत से, गुरुद्वारा सूक्ष्म धरातल पर शिष्य में शक्ति के संचार (शक्तिपात) से तथाशिष्य के प्रति गुरुकी सर्वांग में करुणामयी दृष्टि (अवलोकन) से उन्हीं के प्रसाद (अनुग्रह) से परमपद की प्राप्ति होती है ६४-६५ ।

अतएव शिवेनोक्तम् । न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः ॥ ६६ ॥

शिवका कथन है कि परम पद की प्राप्ति में गुरु के अनुग्रह से बढ़ कर दूसरा कोई उपाय नहीं है, नहीं है । यह साक्षात् शिवका आदेश है, शिवका आदेश है, शिवका आदेश है, शिवका आदेश है ॥ ६६ ॥

वाङ्मात्राद्वाथदृक्पाताद् य करोतिच तत्क्षणात् ।
प्रस्फुटं शाम्भवं वेद्यं स्वसंवेद्यं परं पदम् ॥ ६७ ॥

करुणाखण्डपातेनच्छित्त्वा पाशाष्टकं शिशोः ।
सम्यगानन्दजनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥ ६८ ॥

जो केवल उपदेश मात्र से अथवा कृपामयी दृष्टि से करुणा की अखण्ड वृष्टि करते हुए शिवस्वरूप (शाम्भव) स्वसंवेद्य परम पद को प्रकाशित कर शिष्य के आठ पाशों (जरा, जन्म, मृत्यु, व्याधि, काम, क्रोध, मोह, अविद्या—अहंकार) का नाश कर देता है और स्वरूपानन्द में प्रतिष्ठित कर देता है, वही सद्गुरु कहा जाता है ॥ ६७-६८ ॥

निमिषार्धार्धपाताद् वा यद्वापादावलोकनात् ।
स्वात्मानं स्थिरमाधत्ते तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ६९ ॥

जो केवल निमिष के लेशमात्र से ही शक्तिपात के द्वारा अथवा करुणापूर्वक अवलोकन कर शिष्य को आत्मस्वरूप—परमपद में स्थिर (अधिष्ठित) कर देता है, उस गुरु को नमस्कार है ॥ ६९ ॥

नानाविकल्पविश्रान्ति कथया कुरुते तु यः ।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्याविडम्बकः ॥

अतएव परमपदप्राप्त्यर्थं स सद्गुरुः सदा वन्दनीयः ॥ ७० ॥

जो अपने सद्ज्ञानामृत से (साधक के अथवा शिष्यके हृदय में स्थित) विश्वप्रपंचरूपविश्रान्ति—सांसारिक मोहजालका नाश कर देता है, वही सद्गुरु है । संसारके रमणीय विषयभोग में शिष्य को व्यामोहित कर असत्स्वरूप में स्थित करने वाला गुरु नहीं हो सकता है । अतएव परमपद को प्राप्त करानेवाले सद्गुरु की ही वन्दना करनी चाहिये ॥ ७० ॥

गुरुरिति गृणाति शं सम्यक् चैतन्यविश्रान्तिमुपदिशति विश्रान्त्या स्वयमेव परात्परं परमपदमेव प्रस्फुटं भवति तत्क्षणात् साक्षात्कारो भवति ॥ ७१ ॥

गुरु (शिष्य के अज्ञान-अन्धकार का नाश कर उसे) कल्याण प्रदान करता है । चैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठित होने का, परमपद में स्थित होने का

सदुपदेश प्रदान करता है। इस तरह चैतन्यस्वरूप में विश्रान्ति के फलस्वरूप परमपद प्रस्फुटित प्रकाशित—होता है और शिष्य (गुरु के अनुग्रहसे) अखण्ड अनन्त, अलख-निरञ्जन परमशिव का साक्षात्कार करता है ॥ ७१ ॥

अतएव महासिद्धानां मते प्रोक्तं वाङ्मात्रेण सम्यगवलोकनेन वा तत्क्षणान्मुहुर्विश्रान्तियुक्तं करोतीति यः स सद्‌गुरुर्भवति। नोचेन्निजविश्रान्तिं विना पिण्डपदयोः समरसकरणं न भवतीति सिद्धान्तस्तस्मान्निजविश्रान्तिकारकः सद्‌गुरुरभिधीयते नान्यः । पुनर्वागादिशास्त्रदृष्ट्यनुमानतर्कमुद्रया भ्रामको गुरुस्त्याज्यः ॥ ७२ ॥

योगज्ञान में सन्निष्ठ महासिद्धों के मत में कहा गया है कि केवल सदुपदेशमात्र से अथवा कृपामय कटाक्षपात से तत्काल ही सद्‌गुरु अपने शिष्य को स्वरूपावस्थिति—परमात्मनिष्ठा से संयुक्त कर देता है, अन्यथा बिना परमात्मनिष्ठा के पिण्डपद (व्यष्टिशरीर में व्याप्त अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा और सकल ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमात्मा) से सामरस्य—अभेदतानुभूति सम्भव ही नहीं है, यह सिद्धान्त है । अतएव जो स्वरूपावस्थिति—परमात्मनिष्ठा (निजविश्रान्ति) से शिष्य को कृतार्थ कर देता है, वही सद्‌गुरु कहलाता है । वाग्जाल—शास्त्र की दृष्टि से तर्क, अनुमान आदि मुद्रा से भ्रमित कर शिष्य को सांसारिक विषय-प्रपञ्च में व्यामोहित करनेवाले गुरु का त्याग कर देना चाहिये, ऐसा गुरु निजस्वरूपस्थिति नहीं प्रदान कर सकता है ॥ ७२ ॥

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विडम्बकः ।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम् ॥ ७३ ॥

जिसे योगविषयक ज्ञान नहीं है, जो शिष्यों को वाग्जाल में उलझा कर उन्हें दिग्भ्रमित करता है, जो आत्मप्रवञ्चक (विडम्बनायुक्त) है, वह गुरु नहीं है, वह त्याज्य है (उससे दीक्षा नहीं ग्रहण करनी चाहिये) । वह स्वयं जब अपनी स्वरूपस्थिति—परमात्म निष्ठा से अनभिज्ञ है तो दूसरों को किस तरह सन्मार्ग-दर्शन करा सकता है—आत्मज्ञान प्रदान कर सकता है ॥ ७३ ॥

शिलया किं परं पारं शिलासंघः प्रतार्य्यते ।
स्वयंतीर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम् ।। ७४ ।।

जिस तरह (नदी के प्रवाह में) पड़ी शिला (धारामें प्रवाहित) अन्य शिलाओं को बहाकर उस पार उन्हें नहीं उतार सकती, उसी तरह जो स्वयं पार होने में असमर्थ है, वह दूसरों को पार नहीं कर सकता है अथवा तारने में असमर्थ है। जो स्वयं तर जाने में समर्थ है, वही दूसरों को भी पार उतार सकता है ।। ७४ ।।

विकल्पसागराद् घोराच्चिन्ताकल्लोलदुस्तरात् ।
प्रपञ्चवासनादुष्टग्रहजालसमाकुलात् ।। ७५ ।।
वासनालहरीवेगान्न स्वं तारयितुं क्षमः ।
स्वस्थेनैवोपदेशेन निरुत्थानेन तत्क्षणात् ।। ७६ ।।
तारयत्येवदृक्पातात् कथनाद्वा विलोकनात् ।
तारिते स्वपदं धत्ते स्वस्वमध्ये स्थिरो भवेत् ।। ७७ ।।

यह संसार एक दुस्तर सागर है, विषयवासनारूप संकल्प-विकल्पस्वरूप चञ्चलता से उद्वेलित है, यह बड़ा भीषण है, चिन्ता की लहरियाँ इसमें निरन्तर उठती रहती हैं, यह दुष्ट ग्राहों से पूर्ण जालरूप ममता-मोह आदि से आकुल है, विषय-वासनायें ही इसमें लहरियाँ हैं । इस संसार-सागर को जो तैर कर पार उतरने में समर्थ नहीं है, वह किस तरह दूसरों को पार उतार सकता है । जो अपने अखण्ड आत्मस्वरूपमें स्थित है, वही निरुत्थान (जीवात्मा—परमात्मा में सामरस्य) स्थापित कर शिष्य को सदुपदेश प्रदान कर कृपामयी दृष्टिपात कर अथवा ज्ञान प्रदान कर तारने में—भवसागर से पार उतारने में समर्थ है । वह स्वरूपस्थिति से परम पद में अपने अखण्ड आत्मस्वरूप में स्थिर हो जाता है, शिष्यको भवसागर से पार उतार देता है ।। ७७ ।।

ततः स मुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबन्धनात् ।
परानन्दमयोभूत्वा निष्कलः शिवतां व्रजेत् ।। ७८ ।।
कुलानां कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात् ।
अतस्तु सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवन्दयेत् ।। ७९ ।।

सर्वाङ्गप्रणिपातेन स्तुवन्नित्यं गुरुं व्रजेत् ।
स जनः स्थैर्यमाप्नोति स्वस्वरूपमयो भवेत् ।। ८० ।।

निरुत्थान के द्वारा परमपद में स्वस्थ गुरु के अनुग्रह से शिष्य जन्ममरण दुःखरूप (यातनामय) संसारबन्धन से मुक्त हो जाता है, वह अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में स्थित होकर इन्द्रियादि के व्यामोह से मुक्त होकर शिवस्वरूप में प्रतिष्ठत हो जाता है । ऐसा गुरु करोड़ों कुल की सन्तानों (योगियों) का उद्धार कर देता है । इसलिये सदा–नित्यदण्डवत् प्रणामपूर्वक स्तवन करते हुए गुरु का (विधिपूर्वक) अभिवन्दन करना चाहिये । ऐसा शिष्य (समर्थ सद्गुरु के शरणागत होकर) परमात्मपद में अखण्ड स्वरूप में स्थित हो जाता है ।। ८० ।।

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च ।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम् ।। ८१ ।।
चित्तविश्रान्तिलब्धानां योगिनां दृढ़चेतसाम् ।
स्वस्वरूपे निमग्नानां निरुत्थानं विशेषतः ।। ८२ ।।
निमिषात् प्रस्फुट भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
यस्मिन् पिण्डो भवेल्लीनः सहसा नात्र संशयः ।। ८३ ।।

इस सम्बन्ध में अधिक क्या कहा जाय । करोड़ों-करोडों शास्त्रका अध्ययन करने से भी विना गुरुकी कृपा प्राप्त किये चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक आत्मशान्ति (विश्रान्ति) दुर्लभ है । चित्तविश्रान्ति प्राप्त होने पर ही दृढ़ योगसाधन में तत्पर आत्मस्वरूप में निमग्न योगी को निरुत्थान—स्वबोध (जागरण) सुलभ होता है । निरुत्थान के परिणामस्वरूप तत्काल ही दुर्लभ परमपद प्रकाशित (प्रत्यक्ष) हो जाता है । इस परमपद में व्यष्टि-पिण्ड और परमात्म पिण्ड—ब्रह्माण्ड में सामरस्य स्थापित होता है । इसमें तनिक भी सशय नहीं है ।। ८१-८३ ।।

संवित्क्रियाविकरणोदयचिद्विलासो
विश्रान्तिमेव भजतां स्वयमेव भाति ।

ग्रस्ते स्ववेगनिचये पदपिण्डमैक्यं
सत्यं भवेत्समरसं गुरुवत्सलानाम् ॥ ८४ ॥

बुद्धिवृत्ति के विस्तार के उदयस्वरूप चिद्विलास—आत्मप्रकाश में ही गुरु के अनुग्रहप्राप्त शिष्यों में मानसव्यापार के निरुद्ध होने पर विश्रान्ति की स्थिति सम्भव होती है, उस विश्रान्ति में समष्टि-व्यष्टिरूप पदपिण्ड का ऐक्य—सामरस्य स्थापित होता है। जीवात्मारूप शिष्य परमात्मपद में गुरु की कृपा से अभेद—अभिन्न हो जाते हैं, उन्हें अखण्ड परमात्मस्वरूप—परमात्मपद अथवा परमपद की प्राप्ति हो जाती है ८४ ॥

इति शिवगोरक्षविरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पञ्चमोपदेशः ॥

छठा उपदेश

[अवधूत योगी]

अथ कोऽवधूतयोगिनामेत्यपेक्षायामाह । यः सर्वान् प्रकृतिविकारानवधुनोतीत्यवधूत योगी । योगोऽस्यास्तीति धूञ्कम्पने धूञिति धातुः कम्पनार्थे वर्तते । कम्पनं चालनं देहदैहिकप्रपञ्चादिषु विषयेषु सङ्गतं मनः परिगृह्य तेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वधाममहिम्नि परिलीनचेताः प्रपञ्चशून्य आदिमध्यान्तनिधनभेदवर्जितः ॥ १ ॥

(सद्गुरु से सदुपदेशामृत प्राप्त कर व्यष्टि-पिण्ड और ब्रह्माण्ड में जीवात्मा-परमात्मा का सामरस्य स्थापित कर सिद्धि प्राप्त करने पर नित्य अवधूत स्वरूप की प्राप्ति होती है ।) अवधूत योगी का स्वरूप क्या है, इस जिज्ञासा के समाधान के लिये अवधूत के लक्षण का वर्णन किया जाता है । जो समस्त प्रकृति-विकार—देह, इन्द्रिय, मन और अनात्मसम्बन्धरूप विषयप्रपञ्चादि मलों का अवधूनन—त्याग कर निर्मल स्वरूप में संस्थित हो जाता है, वही अवधूत योगी है । धूञ् धातु 'कम्पन, चालन' अर्थ में प्रयुक्त होता है, जिसका आशय यह है कि दैहिक प्रपञ्चादिविषयों में आसक्त मन को निगृहीत कर उन विषयों से प्रत्याहारित कर—हटाकर प्रपञ्चरहित होकर तथा जन्म-मरण आदि दुःखों से—द्वन्द्वात्मक परिस्थितियों से छुटकारा पाकर अपने अखण्ड ज्ञानस्वरूप परम शिव में (सामरस्य के द्वारा) तल्लीनचित्त योगी ही नित्य अवधूत है ॥ १ ॥

यकारो वायुबीजं स्याद्रकारो वह्निबीजकम् ।
तयोरभेदश्चोंकारश्चिदाकारः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

'य' वायु का बीज है, 'र' अग्नि का बीज है, दोनों का ऐक्य—सामरस्य ही चिद्रूप ओंकार 'ॐ' कहा जाता है ॥ २ ॥

विशेष—तन्त्र में शिव को विन्दु और शक्ति को बीज कहा गया है। इस तरह महायोगी गोरखनाथ ने अपने योगग्रन्थों में जहाँ पाँच भूत–तत्व, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की धारणा का निर्देश किया है, वहीं उनके बीज का भी क्रमश 'ल' 'ब', 'र' 'य' और ह' का वर्णन किया है । सिद्धसिद्धान्तपद्धति के उपर्युक्त दूसरे श्लोक में 'य' और 'र' बीज के कथनका आशय है सभी तत्वों के 'बीज' का ग्रहण । पाँच भूतों का लय अपने 'बीज' में स्थापित होता है और चिद्रूप बीज का लय ऊंकार–प्रणव में होता है । ओंकार–ॐकार ही समस्त बीज मन्त्र और शब्दों का उपादान कारण है । इस तरह चिद्रूपा शक्ति से ऊंकार प्रणव का तादात्म्य ही शक्ति और शिव की अभेदता—एकता अथवा समरसता है। इस सामरस्यसे योगी दिव्य शरीर वाला हो जाता है। भगवान् शिव का प्रकारान्तर से कथन है ।

अहं विंदू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा ।
योगिनां साधनावस्था भवेद् दिव्यं वपुस्तदा ॥
(शिवसंहिता ४ । ८७)

तदेतद् व्यक्तमुच्यते—
क्लेशपाशतरङ्गाणां कृन्तनेन विमुण्डनम् ।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ३ ॥

जो अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, पंचक्लेशरूपी जाल के वेग का उच्छेद कर देता है और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों अवस्थाओं में प्रपञ्च से मुक्त हो जाता है, वही (आत्मस्वरूप में स्थित) योगी अवधूत कहा जाता है ॥ ३ ॥

निजस्मरविभूतिर्यो योगी स्वाङ्गे विभूषितः ।
आधारे यस्य वा रूढ़िः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ४ ॥

अविद्यादि पंच क्लेश के स्मरण से परे होकर जो योगी अपने स्वरूप को इन पाँचों क्लेश के नाशरूप भस्म से समलंकृत करता है और आचार्य (गुरु) द्वारा निर्दिष्ट योगमार्ग में नित्य आरूढ—दृढ़ रहता है, वही अवधूत कहा जाता है ।। ४ ।।

लोकमध्ये स्थिरासोनः समस्तकलनोज्झितः ।
कौपोनं खर्परोऽदैन्यं सोऽवधूतोऽभिधीयते । ५ ।

(अपने स्वरूप का स्मरण कराने वाले विभूतिरूप अलंकार से शोभित) विषयप्रपञ्चरूप संसार (लोक) में अखण्ड आत्मस्वरूप में दृढ़भाव से स्थित रहनेवाला, समस्त संकल्पविकल्परूप भेद-भाव से विमुक्त, कटि में (वस्त्ररूप) केवल मात्र कौपीन, हाथ में (जल पीने के लिये तथा भिक्षा-ग्रहण के उद्देश्य से) खर्पर मात्र धारण कर (लोक में) दैन्यरहित—सर्वसमर्थ रूप में विचरण करने वाला अभय योगी ही अवधूत कहलाता है ।। ५ ।।

अवधूत के वेष और चिह्न

शं सुखं खं परं ब्रह्म शङ्खं सङ्घट्टनाद् भवेत् ।
सिद्धान्तो धारितो येन सोऽवधूतोऽभिधोयते । ६ ।

'शं' शब्द सुख (लोककल्याण) का वाचक है और 'खं' शब्द (अपने अखण्ड ज्ञानस्वरूप-परमात्मा) परब्रह्म का वाचक है ।। दोनों के मेल—ऐक्य अथवा योग से 'शंख' शब्द सिद्ध होता है । अपने आत्मस्वरूप में स्थित होकर अपने ज्ञानरूप उपदेशामृत और योगसाधन से जगत् के प्राणियों को सन्मार्ग पर लगा कर उनका कल्याण सम्पादन करने वाला ही अवधूत है । वह शंख धारण करता है—यही सिद्धान्त है । (शंख को बाह्य चिह्न भी परिलक्षित किया जा सकता है ।) अतएव शंख धारण करने वाला अवधूत कहा जाता है ।। ६ ।।

पादुका पदसंवित्तिर्मृगत्वक् स्यादनाहता ।
शेली यस्य परासंवित् सोऽवधूतोऽभिधीयते । ७ ।
मेखला निवृत्तिर्नित्यं स्वस्वरूपं कटासनम् ।
निवृत्तिः षड्विकारेभ्यः सोऽवधूतोऽभिधीयते । ८ ।

चित्प्रकाशपरानन्दौ यस्य वै कुण्डलद्वयम् ।
जपमालाक्षविश्रान्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते । ९ ।
यस्य धैर्यमयोदण्डः पराकाशश्च खर्परम् ।
योगपट्टो निजा शक्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते । १० ।

पादुका परमात्म-ज्ञान का स्वरूप है, जिसने पैर में पादुका को धारण किया है, (आन्तरिक लक्षण के रूप में) जो परमात्म-ज्ञान के आश्रय में स्थित है, जिसने मृगचर्म धारण किया है अथवा (मृगचर्मरूप) अनाहत नाद से जो विशोभित है, पराशक्तिरूप (चिद्रूप) ज्ञान से जो युक्त है अथवा परासंवित् रूप शेली जिसने गले में धारण की है, वह अवधूत कहा जाता है । जिसने कटि में मेखला पहनी है अथवा जो मेखलारूप (प्रापंचिक विषयों में) निवृत्ति को धारण करने वाला है, जो स्थिर आसन पर स्थित है अथवा स्थितआसनरूपी आत्म-स्वरूप में ही जो संस्थित है, जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—छः विकारों से निवृत्त—परे है, वही अवधूत है । जिसने कानों में दो कुण्डल धारण किये हैं अथवा चित्प्रकाश और परमानन्द से जो सम्पन्न है, जपमाला धारण कर (मन्त्रजापपूर्वक) जो आत्मसत्ता का स्मरण करता है अथवा जिसकी दृष्टि में विषय-प्रपंचों से उपरति ही चित्त-विश्रान्ति है, वही अवधूत कहा जाता है। जो दण्ड धारण करता है अथवा धैर्य धारण करना जिसके लिये (योगसाधना में) दण्डरूप है, जो हाथ में खर्पर (खप्पर) धारण करता है या पराकाश ही जिसके लिये खर्पर है और जो योगपट्टधारण करता है अथवा निजाशक्ति ही जिसके लिये योगपट्ट है, वही अवधूत कहा जाता है ।। ७–१० ।।

भेदाभेदौ स्वयं भिक्षां कृत्वा स्वास्वादने रतः ।
जारणातन्मयी भावः सोऽवधूतोऽभिधीयते । ११ ।
अचिन्त्ये निजदिग्देशे स्वान्तरं वस्तु गच्छति ।
एकदेशान्तरीयो यः सोऽवधूतोऽभिधीयते । १२ ।
स्वपिण्डममरीकर्तुमनन्ताममरीं च यः ।
स्वयमेवपिबेदेतां सोऽवधूतोऽभिधीयते । १३ ।
अचिन्त्यावज्रवद्गाढ़ा वासनामलसंकुला ।

सा वज्री भक्षिता येन सोऽवधूतोऽभिधीयते । १४ ।
आवर्तयति यः सम्यक् स्वस्वमध्ये स्वयं सदा ।
समत्वेन जगद् वेत्ति सोऽवधूतोऽभिधीयते । १५ ।

जो भेद, अभेद, द्वैत और अद्वैत से अतीत होकर द्वैताद्वैतविलक्षण स्वसंवेद्य, अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मरस के आस्वादन में तत्पर है और जागरण—रागद्वेष भाव में पूर्ण वैराग्यभाव से तन्मय है अथवा सच्चिदानन्दस्वरूप में स्वस्थ है, वह अवधूत कहा जाता है। जो देश-काल से अतीत सर्वव्यापक अपने ही में असीम परमात्मा को प्राप्त कर लेता है और (दूसरों की दृष्टि में) एकान्त वास में रहते हुए भी जो अपने स्वसंवेद्य स्वरूप में सब जगह विद्यमान है, वही अवधूत कहा जाता है। जिसने पार्थिव—भौतिक शरीर को अमर—मृत्युरहित करने के लिये (खेचरी मुद्रा की सिद्धि के द्वारा) सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का (विपरीत करणी से) स्वयं पान कर लिया है अथवा जो पान कर लेता है, वह अवधूत कहा जाता है। जिसने मल से दूषित वज्रनाड़ी को (प्राणायाम आदि की सिद्धि से) मल रहित कर लिया है अथवा वज्रोली के अभ्यास द्वारा जिसने शरीर में वीर्य को ऊर्ध्वमुख कर जीर्ण कर दिया है, पचा लिया है, वह अवधूत कहलाता है। जो अपने आत्मस्वरूप में परमात्मा की अभेदानुभूति करता है अथवा आत्मा-परमात्मा में सामरस्य की सिद्धि कर आत्मपद में प्रतिष्ठित हो जाता है, वही सर्वत्र व्यापक योगी अवधूत कहा जाता है ॥ ११–१५ ॥

अवधूत की अवस्था (स्थिति)

स्वात्मानमवगच्छेद्यः स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
अनुत्थानमयः सम्यक् सोऽवधूतोऽभिधीयते । १६ ।
अनुत्थाधारसम्पन्नः परविश्रान्तिपारगः ।
धृतिचिन्मयतत्त्वज्ञः सोऽवधूतोऽभिधीयते । १७ ।
अव्यक्तं व्यक्तमाधत्ते व्यक्तं सर्वं ग्रसत्यलम् ।
स सत्यं स्वान्तरे सन्न सोऽवधूतोऽभिधीयते । १८ ।
अवभासात्मको भासः प्रकाशे सुखसंस्थितः ।

लीलयारमते लोके सोऽवधूतोऽभिधीयते ।
क्वचिद् भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नोदिगम्बरः ।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतोऽभिधीयते । १९ ।

जो अपने अखण्ड आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभवी—साक्षात्कार करने वाला है और अपने उस स्वरूप में स्थित है और अनुत्थान (आत्मा-परमात्मा के ऐक्य) भाव में तल्लीन है, वही अवधूत कहलाता है । जो परमात्मा-आत्मा के एक स्वरूपमय तादात्म्य में स्वाश्रित—आत्माभिव्यक्त है और सत्स्वरूप में स्थिति (विश्रान्ति) का स्वामी है और धैर्यपूर्वक सच्चिदानन्द—परमात्मतत्व में स्थित है—व्यक्त है तथा स्व में भी लीन (अव्यक्त) हो जाता है अथवा व्यक्त को अव्यक्त और अव्यक्त परमात्मा को व्यक्त करता है, वह (अपने भीतर सत्स्वरूप में विद्यमान) अवधूत कहा जाता है । जो समस्त चराचररूप जगन्मात्र का प्रकाशक है और अपनी ही अन्तर्ज्योति— अखण्डपरमात्म प्रकाश में आनन्द का अनुभव करता है और इस लोक में— लोकव्यवहार में स्वस्थ है, वह अवधूत कहलाता है । जो भोगी, योगी, नग्न दिगम्बर, योगिराज तथा गुरु—सभी रूपों में अखण्ड स्वरूप में प्रतिष्ठित रह कर जीवन धारण करता है, वही अवधूत कहलाता है ।। १६–१९ ।।

एवं विध नानासंकेतसूचको नित्यप्रकाशे वस्तुनि निजस्व-रूपी सर्वेषां सिद्धान्तदर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने सम्यक् सद्-बोधकोऽवधूत योगीत्यभिधीयते स सद्गुरुर्भवति । यतः सर्व-दर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने समन्वयं करोति सोऽवधूतयोगो स्यात् । २० ।

इस तरह नित्य प्रकाश—शुद्ध, बुद्ध, व्यापक आत्मस्वरूप में ही अनेक (विभिन्न) सिद्धान्त-दर्शनों का स्वरूप-दर्शन में ही सद्बोध सिद्ध (प्रकाशित) करने वाला अवधूत कहा जाता है, वह योगी अवधूत सद्गुरु होता है; क्योंकि वह सभी दर्शनों (अभेदात्मदर्शी मतों) का स्वरूप में ही समन्वय (आत्मानुभव) करता है । वास्तव में सर्वत्र आत्मदर्शन करने वाला योगी ही अवधूत है ।। २० ।।

अवधूत की सर्वस्वरूपता

अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानी सिद्धश्च सुव्रतः ।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्रीसाधुरेव च । २१ ।
जितेन्द्रियश्च भगवान् स सुधी कोविदो बुधः ।
चार्वाकिश्चार्हंतश्चेति तथा बौद्धः प्रकाशवित् । २२ ।
तार्किकश्चेति सांख्यश्च तथा मीमांसको विदुः ।
देवतेत्यादि विद्वद्भिः कीर्तितः शास्त्रकोटिभिः । २३ ।
आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति पुनः स्वयं ।
अस्तितत्त्वं परं साक्षाच्छिवरुद्रादिसंज्ञितम् । २४ ।

अवधूत अपने स्वसंवेद्य, द्वैताद्वैतविलक्षण, अखण्ड आत्मस्वरूप में आत्मस्थित रहता है, इसलिये वह आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) की अवस्थाओं से परे होने से अत्याश्रमी कहा जाता है, वह (स्वरूप-) ज्ञानी—तत्वविद्, सिद्ध और योगसाधना-व्रत में—जगन्मात्र को परमात्मस्वरूप समझने में दृढ़ होता है । वह सृष्टि, पालन (स्थिति) और संहार में (शक्तियुक्त होने से साक्षात्) ईश्वर होता है, वह स्वामी (आत्मनिग्रही) होता है, वह सर्वदा कृतार्थ और साधु होता है । वह जितेन्द्रिय, आत्मज्ञ, सद्बोधयुक्त, तत्वचिन्तक और सर्वतन्त्रस्वतन्त्र साकार-सगुण भगवान् (सर्वसमर्थ) होता है । वह समस्त नास्तिक-आस्तिक दर्शन में आत्मबुद्धि रखने के कारण सब में अखण्ड आत्मस्वरूप में समाहित रहने वाला, चार्वाक (सांसारिक विषय-भोग-प्रवृत देहात्मवादी), आत्मस्वरूप को प्राप्त अर्हत (जैन), स्वात्मप्रकाश में प्रबुद्ध होकर भी (बुद्धिवृत्तरूपक्षणिक आत्मविज्ञानवादीसुगत) बौद्ध, न्यायवैशेषिक दर्शनावलम्बी परिणामवादी, सांख्यवादी (तत्त्वनिष्ठ) ज्ञानी, कर्मकाण्ड को ही परमफल प्राप्ति कराने वाले साधन में निष्ठ पूर्वमीमांसक, संसार का कारण देवता, स्वभाव, काल, कर्म समझने वाले अनेकानेक शास्त्रों और विद्वानों के विचार का समर्थक, वह योगी अवधूत आत्मदर्शन में स्वस्थ होने से सर्वस्वरूप होता है । आत्मा, परमात्मा, जीवात्मा, स्वस्वरूप, शिवरुद्र-नामयुक्त साक्षात् सर्वात्मा ही अवधूत योगी होता है ।। २१–२४ ।।

विशेष—सांख्यदर्शन ने आत्मा की असंगता का प्रतिपादन किया है—असंगता का तात्पर्य है सर्वात्मस्वरूपावस्थान, जो सिद्धसिद्धान्त है। महर्षि कपिल का वचन है :

असङ्गोऽयं पुरुष इति ॥
(सांख्यदर्शन १ । १५)

न्यायदर्शन में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति अथवा अभाव ही स्वरूपस्थिति-अपवर्ग अथवा निःश्रेयस या ब्रह्मप्राप्ति है, जड़ तथा चेतन का विवेक (तत्त्वज्ञान) ही दुःखनिवृत्ति का साधन है, जिससे स्वरूप-स्थिति सिद्ध होती है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तराभावादपवर्गः ॥

(न्यायदर्शन १ । १ । २)

जयन्त भट्टने भी न्यायवादी महर्षि गौतम के मत की पुष्टि की है।

स्वरूपेण व्यवस्थानमनो मोक्षः
(न्यायमञ्जरी)

वैशेषिक-दर्शन में आत्मा के शाश्वत अखण्ड स्वरूप का ही प्रतिपादन किया गया है। महर्षि कणाद का कथन है।

सदकारणवन्नित्यम्
(वैशेषिकदर्शन ४ । १ । १)

पूर्वमीमांसक महर्षि जैमिनि ने एक परमात्मा को ही सर्वोपरि कहा है।

'एकत्वेऽपि परम् ।'
(पूर्वमीमांसासूत्र २ । ४ । १३)

इसी तरह वेदान्तदर्शन में महर्षि व्यास ने आत्मा के स्वरूप-प्रतिपादन में कहा है।

तस्य च नित्यत्वात् ।
(वेदान्तसूत्र २ । ४ । १६)

इस तरह अत्याश्रमी योगी अवधूत सर्वथा आत्मस्वरूप में स्वस्थ होता है।

शरीरपद्मकुहरे यत्सर्वेषामवस्थितम् ।
तदवश्यं महापाशाच्छेदितव्यं मुमुक्षुभिः । २५ ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सोऽक्षरः परमस्वराट् ।
स एवेन्द्रः स च प्राणः कालाग्निः स च चन्द्रमाः । २६ ।
स एव सूर्यः स शिवः स एव परमः शिवः ।
स एव योगगम्यश्च सांख्यशास्त्रपरायणैः । २७ ।
स एव कर्म इत्युक्तः कर्ममीमांसकैरपि ।
सर्वत्र सत्परानन्द इत्युक्तो वैदिकैरपि । २८ ।
व्यवहारैरयं भेदस्तस्मादेकस्य नान्यथा । २९ ।
मुद मोदे तु रा देने जीवात्मपरमात्मनोः ।
उभयोरेकसंवित्तिर्मुद्रेति परिकीर्तिता । ३० ।
मोदन्ते देवसङ्घाश्च द्रवन्तेऽसुरराशयः ।
मुद्रेति कथिता साक्षात् सदा भद्रार्थदायिनी । ३१ ।
अस्मिन्मार्गेऽदीक्षिता ये सदा संसाररागिणः ।
तेहि पाखण्डिनः प्रोक्ताः संसारपरिपेलवाः । ३२ ।
अवधूततनुर्योगी निराकारपदे स्थितः ।
सर्वेषां दर्शनानाञ्च स्वस्वरूपं प्रकाशते । ३३ ।

सभी प्राणियों के शरीर में स्थित (पद्मकुहर) हृदय में आत्मस्वरूप स्थित है । यह अविद्यारूप महान् मोह-शोक आदि पाशों से आबद्ध है, (मोक्ष पद की प्राप्ति करने वाले) मुमुक्षुओं को चाहिये कि इस पाश का उच्छेद कर अपने अखण्ड आत्मस्वरूप में स्वस्थ हो जायें । यह आत्मस्वरूप (आत्मतत्व) ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अक्षर, स्वराट्, इन्द्र, प्राण, काल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, शिव के नामरूप में अभिव्यक्त परम शिव है ।

योगसाधना के फलस्वरूप इसी स्वसंवेद्य तत्व का परम अनुभव होता है । सांख्यशास्त्र के तत्वज्ञ इसी को परम पुरुष जानते हैं, पूर्वमीमांसा मत से यज्ञादि कर्म के फलस्वरूप इसी महत्तत्व का दिग्दर्शन परिलक्षित है, श्रुति की ऋचायें और

वेदान्त सूत्र इसी को परमानन्दस्वरूप परमात्मा कह कर प्रतिपादित करते हैं। इस तरह विभिन्न दर्शनों में व्यवहृत नाम-रूपों में अभिव्यक्त सत्स्वरूप है। यह आनन्द प्रदान करता है और जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य—स्वरूप अथवा सामरस्य का यह आत्मतत्व परम सत्य है, दोनों की अखण्ड ज्ञानस्वरूपावस्थिति—संवित्ति मुद्रा के रूप में परिकीर्तित—प्रसिद्ध है। (मुद्रा में मुद् का अर्थ है आनन्द और रा का अर्थ है प्रदान करना।) मुद्रा (वाह्य चिह्न के रूप में) योगी अपने कानों में धारण कर देवताओं को प्रसन्न कर कल्याणभाजन होते हैं और असुरों को भयभीत—कम्पित (द्रवित) करते हैं अथवा देवता आनन्दित होते हैं और असुर भयभीत होकर भाग जाते हैं। इस योगमार्ग—सिद्धामृत मार्ग में जो सद्गुरुद्वारा दीक्षित—उपदिष्ट नहीं हैं और संसार के विषय-भोगादि प्रपंच में रागासक्त हैं तथा संसार को ही रमणीय समझ कर आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में विस्मृत होते हैं, वे ही पाखण्डी—मिथ्यावादी कहलाते हैं। अवधूत योगी तो अपने योगज्ञान के प्रकाश से समस्त आत्मसम्बन्धी तत्वज्ञान में स्वरूप का बोध प्राप्त कर अपने अखण्ड आत्मस्वरूप में संस्थित होकर आत्मतत्व को प्रकाशित करता है॥ २५–३३॥

सर्वतो भरिताकारं निजबोधेन बृंहितम्।
चरते ब्रह्मविद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते। ३४।
गृहिणी पूर्णता नित्या गेहं व्योमं सदा बलम्।
यस्तया नित्रसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते। ३५।
तदान्तः प्रस्थितो योऽसौ स्वप्रकाशमये वने।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वने मृगवच्चरन्। ३६।
परमात्माऽथ जीवात्मा आत्मन्येव स्फुरत्यलम्।
तस्मिन्न्यस्त सदा येन संन्यासीसोऽभिधीयते। ३७।

अत्याश्रमी—आश्रम धर्मपालन की मर्यादा से परे अवधूत योगी सर्वभाव से ब्रह्मस्वरूप में अखण्ड ज्ञानयुक्त आत्मबोध से पूर्ण होकर ब्रह्मज्ञानी—साक्षात् ब्रह्मरूप होने से ब्रह्मचारी कहा जाता है। वह यद्यपि अनिकेत, पवित्रात्मा और योगसाधना में ही नित्य तृप्त होता है तथापि वह गृहस्थ कहा जाता है, क्योंकि पूर्णता—अखण्ड ब्रह्मरूपता ही उसकी जीवन-संगिनी अथवा सहधर्मिणी है,

सर्वव्यापक शून्य (व्योम) ही उसका निवास है अथवा वह ब्रह्म—अलख निरञ्जन परमेश्वर में स्वशक्ति से स्वस्थ अथवा अधिष्ठित होता है। स्वप्रकाशमय—अखण्ड अन्तर्ज्योतिरूप वन में ही समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध कर ब्रह्म का एकमात्र चिन्तन करता है, इस तरह वह वानप्रस्थ है, केवल वन में हरिण की तरह निवास करने से कोई वानप्रस्थ नहीं होता है। सर्वज्ञत्व-उपाधिसहित परमात्मा और अल्पज्ञत्वउपाधिसहित जीवात्मा की निरुपाधि अखण्ड आत्मस्वरूप में अभेदता की प्रतीति करनेवाला अवधूत योगी अपने समस्त संकल्प का ज्योतिःस्वरूप आत्मा:(परमात्मा) में न्यास कर देता है, वह संन्यासी कहा जाता है ।।३४-३७।।

मायाकमकलाजालमनिश येन दण्डितम् ।
अचलो नगवद् भाति त्रिदण्डी सोऽभिधीयते । ३८ ।
एकं नानाविधाकारं चञ्चलन्तु सदा तु यत् ।
तच्चित्तं दण्डितं येन एकदण्डी स कथ्यते । ३९ ।
शुद्धं शान्तं निराकारं परानन्दं सदोदितम् ।
तं शिवं यो विजानाति शुद्ध शैवो भवेत्तु सः । ४० ।
सन्तापयति दीप्तानि स्वेन्द्रियाणि च यः सदा ।
तापसः स तु विज्ञेयो न च गोभस्मधारकः । ४१ ।
क्रियाजालं पशुं हत्वा पतित्वं पूर्णतां गतम् ।
यस्तिष्ठेत् पशुभावेन स वै पाशुपतो भवेत् । ४२ ।

संन्यास-आश्रम में बाँस के तीन दण्ड धारण करने वाला त्रिदण्डी संन्यासी कहा जाता है, वह माया (अविद्या), कर्म (धर्म-अधर्म) और कलाजाल (प्राणादि लिंग-शरीर) के बन्धनका तत्वज्ञान द्वारा निवारण कर देता है और अपने अखण्ड आत्मस्वरूप में पर्वत के समान अचल—दृढ़ हो जाता है, इस तरह योगी त्रिदण्डी कहलाता है, केवल बाँस के तीन दण्ड (बाह्य संन्यास-चिह्न के रूप में) धारण करनेवाला त्रिदण्डी नहीं होता । जो अनेक संकल्प-विकल्प में भ्रमित, अनेक राग-द्वेष आदि वृत्तियों में चञ्चल रहता है, उस चित्त को नियन्त्रित—वश में करनेवाला योगी ही एकदण्डी संन्यासी कहा जाता है। जो शुद्ध (गुणातीत, निर्विकार), निराकार (अलख-निरञ्जन सर्वव्यापक), परमानन्द-स्वरूप, स्वप्रकाशित (स्वसंवेद्य अखण्ड परब्रह्म) परमेश्वर (शिव) को तत्वतः जान लेता है,

वही अवधूत योगी शैव है । जो विषय-भोग में उद्दीप्त—रागासक्त समस्त इन्द्रियों को प्रत्याहारित (नियन्त्रित) कर अखण्ड आत्मस्वरूप में लीन कर देता है, वही योगी तपस्वी (तापस) कहलाता है, अंगों को भस्म से रञ्जित करने वाला तापस नहीं होता । जो कर्मजालरूप पशुत्व (जीवभाव) का त्याग कर अखण्ड, परात्पर, पूर्णतम परमशिव की उपासना में तत्पर होकर शिवरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, वही वास्तव में पाशुपत (शैव) है ।। ३८–४२ ।।

परानन्दमयं लिङ्गं निजपीठे सदाऽचले ।
तल्लिङ्गं पूजितं येन स वै कालमुखो भवेत् । ४३ ।
विलयं सर्वतत्त्वानां कृत्वा संधार्यते स्थिरम् ।
सर्वदा येन वीरेण लिङ्गधारी भवेत्तु सः । ४४ ।
अन्तकादीनि तत्त्वानि त्यक्त्वा मग्नो दिगम्बरः ।
यो निर्वाणपदे लीनः स निर्वाणपरो भवेत् । ४५ ।
स्वस्वरूपात्मकं ज्ञानं समन्त्रं तत् प्रपालितम् ।
अनन्यत्वं सदा येन स वैकापालिको भवेत् । ४६ ।

जो सच्चिदानन्दस्वरूप, संसार का कारणरूप अपने नित्यधाम में सदा स्थित है, उस लिङ्ग (परमेश्वर शिव) की पुष्पचन्दनादि से उपासना–पूजा करने वाला कालमुख कालजयी महाकाल का उपासक कहलाता है । जो समस्त भौतिक तत्व के प्रति विद्यमान अहंकार-भाव का—संसाराभिमानरूप शत्रु का वीरतापूर्वक दमन कर देता है, वही वीरशैव—लिङ्गधारी कहा जाता है । जन्म-मरण आदि विनश्वर वस्तुओं का परित्याग कर संसारात्मक आवरण से जो रहित होता है तथा परब्रह्म परमेश्वर में लीन रहता है, वही दिगम्बर, निर्वाण में स्वस्थ—निर्वाणी संन्यासी कहा जाता है । जो गुरु से मन्त्र प्राप्त कर उनके द्वारा उपदिष्ट साधन-मार्ग पर चलते हुए अपने शिवस्वरूप में बोधयुक्त तथा अनन्य रहता है, एकमात्र अपने उपास्य का ही ध्यान और चिन्तन करता है, वही कापालिक कहा जाता है ।। ४३–४६ ।।

महाव्याप्तिपरं तत्त्वमाधाराधेयवर्जितम् ।
तद् व्रतं धारितं येन स भवेद् वै महाव्रतः । ४७ ।

कुलं सर्वात्मकं पिण्डमकुलं सर्वतोमुखम् ।
तयोरैक्यपदं शक्तिर्यस्तां वेद स शक्तिभाक् । ४८ ।
कौलं सर्वकलाग्रासः सकृतः सततं यया ।
तां शक्तिं यो विजानाति शक्तिज्ञानी स कथ्यते ।
ज्ञात्वा कुलाकुलं तत्वं सक्रमेण क्रमेण तु ।
स्वप्रकाशमहाशक्त्या ततः शक्तिपदं लभेत् । ४९ ।

अलख निरञ्जन, द्वैताद्वैतविलक्षण, आधार-आधेयरहित (सर्वव्यापक), अखण्ड, अविनाशी परमशिव की उपासना का व्रती होने से (इस तरह का उपासक) महाव्रती कहा जाता है। पिण्डरूप, कार्यात्मक (सर्वात्मक) समष्टि-सृष्टिरूप (शिव) ही कुल है, अखण्ड चिद्रूप, अपने में ही निजाशक्ति को संवरित करनेवाला (शिव) अकुल है, कुल-अकुलरूपिणी शक्ति—कुल-अकुल की एकता की महाकारणशक्ति को जाननेवाला ही शक्ति-उपासक (शाक्त) कहा जाता है। जिस शक्ति के द्वारा नित्य प्राणादिवस्तु उपादानरूप समस्त कलाओं का ग्रास—विलय कर दिया जाता है, उस प्रलयकारिणी (महाकाली) को जानने वाला शक्तिज्ञानी कहा जाता है। क्रमपूर्वक कुल-अकुल शक्ति से तादात्म्य स्थापित करनेवाला (उपासक) शक्तिपद को प्राप्त करता है अथवा कुलाकुलतत्व को यथाक्रम जानकर उसी क्रम से स्वप्रकाशचिद्रूपिणी महाशक्ति में (स्वाधिष्ठानपूर्वक) ऐक्य स्थापित करनेवाला साधक शक्तिपद में स्थित होता है ॥ ४७-४९ ॥

मदो मद्य मतिर्मुद्रा माया मीनं मनः पलम् ।
मूर्च्छनं मैथुनं यस्य तेनासौ शाक्त उच्यते । ५० ।

(तन्त्र-उपासना के क्षेत्र में वामाचार में मद्य, मुद्रा, मीन, मांस और मैथुन, पंचमकार का सेवन विहित सिद्ध करनेवाले वाममार्गियों ने समाज में साधन सम्बन्धी सत्स्वरूप की प्राप्ति के प्रति व्यामोह उत्पन्न कर दिया । महायोगी गोरखनाथजी ने इस व्यामोह का खण्डन किया।) जीव का अहंकार से प्रेरित होकर अपने को ही सर्वशक्तिमान् मानना ही मद अथवा अभिमान है, यही मद्य है। जीव की कामना—अभिलाषा-पूर्ति की इच्छा अथवा मति ही मुद्रा है, शष्कुली (पूड़ी) के रूप में मुद्रा का अर्थ नहीं घटित होता है । इसी तरह

माया ही मीन-मछली है, जल में रहनेवाली मछली से तात्पर्य नहीं सिद्ध होता। मन ही मांस (पल) है और प्राण-अपान का ऐक्य ही मैथुन है अथवा शिव और शक्ति की अखण्ड स्वरूपता में आत्माभिव्यक्ति ही मैथुन है। मद, माया, मन, मुद्रा और मैथुन को महाशक्ति में समर्पित करने वाला ही शाक्त है। ऐसा करने से वह स्वरूप में स्वस्थ हो जाता है। पंचमकार-सेवन के इस सात्त्विक रूप से जीवात्मा शाक्त कहा जाता है॥ ५०॥

यया भासस्फुरद्रूपं कृतं चैव स्फुटं बलात्।
तां शक्तिं यो विजानाति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते। ५१।
यः करोति निरुत्थानं कर्तृं चित् प्रसरेत् सदा।
तद्विश्रान्तिस्तया शक्त्या शाक्तः सोऽत्राभिधीयते। ५२।
व्यापकत्वे परं सारं यद्विष्णोराद्यमव्ययम्।
विश्रान्तिदायकं देहे तज्ज्ञात्वा वैष्णवो भवेत्। ५३।
भास्वत्स्वरूपो यो भेदात् भेदभावोज्झितः खलु।
भाति देहे सदा यस्य स वै भागवतो भवेत्। ५४।
यो वेत्ति वैष्णवं भेदैः सर्वासर्वमयं निजम्।
प्रबुद्धं सर्वदेहस्थं भेदवादी भवेत्तु सः। ५५।
पञ्चानामक्षया हानिः पञ्चत्वं रात्रिरुच्यते।
तां रात्रिं यो विजानाति स भेवत् पाञ्चरात्रिकः। ५६।

जिस शक्ति के द्वारा हठात् प्रकाशसंचारक्रियाविशिष्ट जगत् की रचना—सृष्टि की गयी और ब्रह्मरूप प्रकाशित हुआ, उस शक्ति को जो जान जाता है, वह शाक्त कहा जाता है। जो शक्ति को संचार से संकोच कर निरुत्थानस्वरूपस्थिति—चित्त-विश्रान्ति में समाधि में तत्पर होकर अपने अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप में विहार करता है, वही शाक्त कहा जाता है। जो चराचर—समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त विष्णुपद—अलख निरञ्जन तत्त्व को अपने व्यष्टि-पिण्ड में ही स्थित और अभेद रूप से अभिव्यक्त जानता है, वही वैष्णव कहलाता है। जो स्वप्रकाशरूप भेदातीत होकर सर्वत्र अभेद रूप से व्यापक भगवत्तत्त्व है, उसको जो अपने व्यष्टि पिण्ड में परिव्याप्त—प्रकाशित अनुभव करता है, वही भागवत कहा जाता है।

जो व्यष्टि-समष्टि में स्वप्रकाशित अखण्ड सर्वात्मस्वरूप को उपासना के स्तर पर विभिन्न रूप में उपास्य समझता है, वह भेदवादी कहा जाता है। पाञ्चभौतिक स्थूल रूप का तिरोधान अथवा प्रलय ही पाञ्चरात्र (परमात्मज्ञान) कहा जाता है। (विभिन्न वैष्णवागम—जयाख्यसंहिता, पारमेश्वर-संहिता तथा नारदपाञ्चरात्र आदि ग्रन्थों में वर्णित) इस पाञ्चरात्रस्वरूप ज्ञान को जानने वाला पाञ्चरात्रिक कहा जाता है ॥ ५१—५६ ॥

येन जीवन्ति जीवा वै मुक्तिं यन्ति च तत्क्षणात् ।
स जीवो विदितो येन सदाजीवी स कथ्यते ॥ ५७ ॥
यः करोति सदा प्रीतिं प्रसन्ने पुरुषे परे ।
शासितानीन्द्रियाण्येव सात्त्विकः सोऽभिधीयते ॥ ५८ ॥
सर्वाकारं निराकारं निर्निमित्तं निरञ्जनम् ।
सूक्ष्मं हंसं च यो वेत्ति स भवेत् सूक्ष्मसात्त्विकः ॥ ५९ ॥
सत्यमेकमजं नित्यमनन्तं चाक्षयं ध्रुवम् ।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्धीरः सत्यवादी स कथ्यते ॥ ६० ॥
ज्ञानज्ञेयमयाभ्यां तु योगनः स्वस्वभावतः ।
कलङ्का स तु विज्ञेयो व्यापकः पुरुषोत्तमः ॥ ६१ ॥

जीवात्मा जिस चैतन्य के बल से जगत् में जन्म लेकर—शरीर प्राप्त कर जीवित रहता है और क्षणमात्र में (आत्मज्ञान होने पर) स्वरूप में स्थित होकर मुक्तिपद को प्राप्त होकर चैतन्यस्वरूप हो जाता है, उस परमात्मा से अभिन्न जीवस्वरूप को जो जान लेता है, वह जन्म-मरण दुःख से छुटकारा पाकर सदाजीवी—अमर कहा जाता है। जो परमपुरुष परमात्मा से प्रेम करता है और समस्त विषय-प्रपञ्चमयी इन्द्रियों की क्रिया को परमात्मा में लीन कर देता है; वह सात्त्विक कहलाता है। जो समस्त नामरूप में अभिव्यक्त—सर्वाकार और निराकार है, कारणातीत स्वरूप में अभिव्यक्त निरञ्जन—मायोपाधिरहित परब्रह्म परमेश्वर है, जो हंस - शक्तिशिवरूप परमात्मा है, उसको तत्वतः जान लेने वाला सूक्ष्म—सात्त्विक कहा जाता है। जो अखण्ड, अनन्त सत्स्वरूप, नित्य, अक्षय, ध्रुव (अच्युत—स्वरूप में ही अभिव्यक्त) निष्क्रिय, अभेद परमात्मा को जानकर तत्व का उपदेश देता है, वही सत्यवादी कहा जाता है। मानस और

बाह्य—दोनों प्रकार के पदार्थों से परे सर्वव्यापक—कलंकी, योगमायोपाधिविशिष्ट साकार-सगुण परमेश्वर—पुरुषोत्तम ही योगियों के लिये शुद्ध-बुद्ध, मायोपाधिरहित अलख-निरञ्जन परमात्मा है ॥ ५७–६१ ॥

मुक्तिचारे मतिर्या वै व्यापिका स्वप्रकाशिका ।
एषा ज्ञानवती येन ज्ञातासौ सात्त्विको भवेत् । ६२ ।
क्षपणं चित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम् ।
कुरुते व्योमवन्नग्नो योऽसौ क्षपणको भवेत् ।
प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत्सिद्धयोगिराट् । ६३ ।

मोक्षप्राप्ति के अनुष्ठान में स्वप्रकाशमयी, ज्ञानवती अखण्ड बुद्धि में जिसकी मति निरन्तर तल्लीन है, वही सात्त्विक कहा जाता है । जो रागद्वेष का उन्मूलन कर चित्त की वृत्तियों का (योगानुष्ठान के द्वारा) निरोध कर लेता है, वही क्षपणक कहलाता है । वह व्योम के समान नग्न दिगम्बर होता है । शक्ति सृष्टि का प्रसार प्रकाशित करती है, शिव उसका लय—संहार (संकोच) करता है, शक्ति और शिव में ऐक्य-भाव दृढ़ करने वाला सिद्ध योगिराज कहा जाता है अथवा शक्ति प्राणवायु है, श्वास-निःश्वास की प्रसारिका है और शिव (आकर्षण करने वाला) अपानवायु है, इन दोनों के मेलन—सामरस्य का कर्ता सिद्ध योगिराज कहलाता है ॥ ६२–६३ ॥

विश्वातीतं यथा विश्वमेकमेव विराजते ।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्धयोगी भवेत्तु सः । ६४ ।
सर्वासां निजवृत्तीनां प्रसृतिर्भजते लयम् ।
स भवेत्सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगी महाबलः । ६५ ।
उदासीनः सदा शान्त स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः ।
महानन्दमयो धीरः स भवेत् सिद्धयोगिराट् । ६६ ।
परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वासर्वपदोदितः ।
विशुद्धो निर्भरानन्दः स भवेत् सिद्धयोगिराट् । ६७ ।

गते न शोकं विभवे न वाञ्छा
प्राप्ते न हर्षं स करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो
न बाध्यते कालपथेन नित्यम् । ६८ ।

विश्वातीत (संसार में व्यापक परब्रह्म) परमेश्वर से जो निर्विकल्प समाधि में अभिन्न, तद्रूप अथवा तदाकार हो जाता है, वह योगी है। जो अपने मन की समस्त वृत्तियों को आत्मा में लय कर लेता है, वही सिद्धों के सिद्धान्त में परम शक्तिशाली महायोगी के रूप में सम्मानित होता है। जो विषयप्रपंच से रहित हो जाता है, सदा इस तरह उदासीन होकर शान्त रहता है, अपने स्वस्वरूप में स्थित रहकर उसका (चैतन्यरूप में) प्रकाशक होता है, जो सच्चिदानन्द में स्थित होकर नित्य कूटस्थ—अमंग रहता है, वही सिद्धयोगिराज कहा जाता है। जो अखण्डचेतनस्वरूप होता है, सदा द्वन्द्वातीत होकर प्रसन्न रहता है, जो स्वाश्रित होता है अथवा समस्त प्रापंचिक उपाधियों से परे होकर नित्य अखण्ड स्वरूप में अधिष्ठित रहता है, जो निर्विकार और आनन्दस्वरूप होता है, वही सिद्ध योगिराज है। वह किसी पदार्थ अथवा धन आदि के नष्ट हो जाने पर शोक नहीं करता, सम्पत्ति आदि प्राप्त करने की उस (योगिराज) में वांछा नहीं होती, न प्राप्त होने पर उसे हर्ष होता है, अपने स्वसंवेद्यस्वरूप में वह परमानन्द में लीन रहता है, उसे मृत्यु से कोई बाधा नहीं रहती ॥ ६४-६८ ॥

सर्वसिद्धान्तदर्शनसन्मवयो

एवं तु सर्वसिद्धान्तदर्शनानां पृथक् पृथग् भूतानामपि ब्रह्मणि समन्वयसूचनशोलोपदेशकर्ताऽवधूत एवं कर्ता सद्गुरुः प्रशस्यत एषामुपदेशानां पृथक् पृथक् सूचितानां जायते यत्र विश्रान्तिः सा विश्रान्तिर्विधीयते । ६९ ।

लीनतां च स्वयं याति निरुत्थानचमत्कृतेः ।
यतो निरुत्थानमयात् सोऽयं स्यादवधूतराट् । ७० ।
तस्मात्तं सद्गुरुं साक्षात् वन्दयेत् पूजयेत्सदा ।
सम्यक् सिद्धपदं धत्ते तत्क्षणात्स्वात्मभाषितम् । ७१ ।

न वन्दनीयास्ते काष्ठा दर्शनभ्रान्तिकारकाः ।
वर्जयेत्तान् गुरून् दूराद् धीरः सिद्धामताश्रयः । ७२ ।

इस तरह समस्त मतों का—सिद्धान्तों का परब्रह्म सच्चिदानन्द में समन्वय—सम्यक् तात्पर्य का बोध करानेवाला अवधूत सद्‌गुरु ही प्रशंसनीय है । समस्त दर्शनों के मत में समन्वय के द्वारा इन उपदेशों से वास्तविक विश्रान्ति की उपलब्धि होती है । विश्रान्तिरूप (समन्वयात्मक) निरुत्थान --निर्विकल्प समाधि से शोभित परब्रह्म परमेश्वर में योगी लीनता को प्राप्त करता है—ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, वह इससे योगिराज हो जाता है, इसलिये ऐसे परब्रह्मस्वरूप योगी की ही वन्दना-पूजा करनी चाहिये । ऐसा करने पर योगसाधक अपने गुरु के ज्ञानोपदेश से तत्क्षण सिद्धपद प्राप्त कर लेता है । जो ब्रह्मदर्शन—स्वरूपबोध कराने में, सदुपदेश देने में असमर्थ हैं और शिष्यों को द्वैतप्रपंच में उलझाकर दिग्भ्रमित करते रहते हैं, उन अविवेकी (बुद्धि से जड़) गुरुओं का सिद्धमत पर चलनेवाले साधकों द्वारा दूर ही से त्याग करना चाहिये, वे अज्ञान-अन्धकार में भरमाने वाले गुरु किसी भी स्थिति में वन्दनीय नहीं है ।। ६९—७२ ।।

सिद्धमत का आश्रय

वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया
भाट्टाः कर्मकलाकुला हृतधियो द्वैतेनवैशेषिकाः ।
अन्ये भेदरता विवादविकलाः सत्तत्वतो वञ्चिता-
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् । ७३ ।

(महायोगी गोरखनाथजी ने सिद्धमत—योगमार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है, सिद्धामृत मार्ग की ही वरणीयता पर विशेष बल दिया है ।) वेदान्ती कर्मोपासना आदि का त्याग कर शब्दजाल—प्रमाण आदि का आश्रय ग्रहण कर द्वैतवाद का खण्डन करते हैं और अद्वैत का मण्डन करते हैं, उनकी मति कठोर तर्कों से ग्रसित रहती है और वह निदिध्यासन से बहिर्मुख हो जाती है । (यद्यपि वे मायावाद का खण्डन कर जगत् को मिथ्या और ब्रह्म को सत्य कहते हैं तथापि माया में भ्रमित होकर अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मतत्व से वंचित रहते हैं ।) पूर्वमीमांसक केवल यज्ञादि कर्म में तत्पर रहते हैं । वैशेषिक आदि दर्शनों के मर्मज्ञ द्वैताग्रह से सद्‌बुद्धि को कुण्ठित कर देते हैं, इसी तरह अन्य मत-मतान्तरों

के अनुयायी अपने-अपने मत का दृढ़ समर्थन करने में विवाद प्रस्तुत करते हैं और सत्स्वरूप के बोध से वंचित रहते हैं, इसलिये श्रेष्ठ योग-मार्ग पर चलने वाले निष्ठावान् साधक को द्वैताद्वैतविवर्जित सत्सिद्धान्त—सिद्धमत का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। समरसकरण–जीवात्मा-परमात्मा में निरुत्थान, विश्रान्ति-द्वारा ऐक्य-स्थापना, अभेदता ही सिद्धसिद्धान्त है ॥ ७३ ॥

सांख्या वैष्णववैदकाविधिपराः संन्नासिनस्तापसाः
सौरा वीरपराः प्रपञ्चनिरता बौद्धाजिनश्रावकाः ।
एते कष्टरता वृथा पथगताः सत्तत्त्वतो वञ्चिता
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् । ७४ ।

सांख्यदर्शन में निष्ठा रखने वाले सांख्यमतावलम्बी, वैष्णव, वैदिक, आचार विचार में प्रवृत्त रखने वाले, संन्यासाश्रमी, तपस्वी, सूर्य के उपासक, वीरशैव, सांसारिक विषय-प्रपञ्च में प्रवृत्त, बौद्ध और जैन आदि स्वसंवेद्य परमात्मस्वरूप से वञ्चित (दूर) होकर प्रपञ्च-जाल में ही उलझे रहते हैं, इसलिये योगसाधक को सिद्धसिद्धान्त का अनुगमन करना चाहिये ॥ ७४ ॥

आचार्या बहुदोक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसा
नानातीर्थनिषेवका जपपरा मौनेस्थिता नित्यशः ।
एते ते खलु दुःखभारनिरताः सत्तत्त्वो वञ्चिता
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् । ७५ ।

अनेक शिष्यों को मन्त्र-दीक्षा प्रदान करने वाले गुरुजन-आचार्य यज्ञयागादि हवन-कर्म से मुक्ति का सम्पादन करनेवाले, दिगम्बर, तापस, अनेक तीर्थों में भ्रमण करनेवाले, जप करनेवाले, मौनव्रत सदा धारण करनेवाले—सब-के-सब व्यर्थ दुःख के भार से आक्रान्त रहते हैं, उन्हें सत्स्वरूप की प्राप्ति नहीं हो पाती, इसलिये योगनिष्ठ साधक को समरसकरणभाव (सिद्धसिद्धान्तमत के अनुरूप स्वपरूबोध की प्राप्ति के मार्ग) का ही आश्रय ग्रहए करना चाहिये ॥ ७५ ॥

आदौ रेचकपूरकुम्भकविधौ नाड़ी यथाशोधितं
कृत्वा हृतकमलोदरे तु सहसा चित्तं महामूर्च्छितम् ।

पश्चादक्षरमव्ययं परकुले चोङ्कारदीपाङ्कुरे
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् । ७६ ।

जिन्होंने सबसे पहले रेचक, पूरक और कुम्भक की विधि से प्राणायाम का अभ्यास कर नाड़ियों का अच्छी तरह शोधन (शुद्धि) किया, हृदय-कमल में मन को अच्छी तरह आत्मस्वरूप में लीन कर ओंङ्काररूपी दीप की ज्योति में अकार, उकार, मकार—अक्षर (अव्यय-परम सिद्धदायक मन्त्र) का जप कर परमात्मा में चित्त स्थिर कर सगुण-साकार ध्यान से क्रममुक्ति प्राप्ति की, उन्हें भी स्वसंवेद्य परमपद का बिना सामरस्य के अनुभव नहीं हो सका, इसलिये योगसाधक को सिद्धसिद्धान्तसम्मत सामरस्य की प्राप्ति कर परमपद में स्थित होने के लिये उसी (सिद्धसिद्धान्तसामरस्य) का आश्रय ग्रहण करना चाहिये ।। ७६ ।।

चार्वाकाश्चतुराश्च तर्कनिपुणा देहात्मवादे रता।
ते सर्वं न तरन्ति दुःसहतरं ये ते परं सात्विकाः ।
ते सर्वे प्रभवन्ति ये च यवना पापे रता निर्दयाः
तेषामैहिककल्पमैव हि फलं तत्त्वं न मोक्षंःपदम् । ७७ ।

नीरस, व्यर्थ लौकिक तर्क में व्यामुग्ध और देह को ही आत्मा माननेवाले प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चावर्कमतानुयायी, परलोक के फल-भोग से वंचित रह कर अपारसंसार-सागर से पार नहीं हो पाते, जब सात्विक वृत्ति वाले नहीं पार हो पाते तो इन रजोगुणियों की सामर्थ्य ही क्या है । इसी तरह तमोगुणीहिंसा आदि कर्म में तत्पर यवनादि भी क्षणिक विषयसुख का भोग कर लेते हैं, मोक्षपद की तो (स्वप्न में भी) ऐसे लोगों के लिये आशा ही नहीं है ।। ७७ ।।

निरुत्थानरूप परमपद

श्रीहट्टे मस्तकान्ते त्रिपुटपुटविले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे
भ्रू नेत्रे नासिकाग्रे श्रवणपथरवे घण्टिकाराजदन्ते ।
कण्ठे हृन्नाभिमध्ये त्रिकमलकुहरे चोड्डियाने च पीठे
एवं ये स्थानलग्नाः परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् । ७८ ।

समस्त सरस्वती, लक्ष्मी, शक्ति आदि निधियों के केन्द्रस्थान (श्रीहट्ट) सहस्रार में त्रिकोणाकारयन्त्र के छिद्र ब्रह्मरन्ध्र में, ललाट में, दोनों भौहों के नेत्र में, नासिका के अग्रभाग में, श्रवणपथ में (प्रवाहित ध्वनि—नाद के स्थान में), घण्टिका के छिद्र—कण्ठकूप, कण्ठचक्र, हृदयचक्र, नाभिचक्र, त्रिकोणाकार कमल, उड्डियानपीठ में ध्यान करने वाले भी परमपदरूप निरुत्थान-सामरस्यपूर्वक विश्रान्ति (मोक्ष) की प्राप्ति नहीं कर पाते हैं ।। ७८ ।।

गोल्लाटे दीप्तिपुञ्जे प्रलयशिखिनिभे सिद्धजालन्धरे वा
शृङ्गाटेज्योतिरेकं तडिदिवतरलं ब्रह्मनाड्यन्तराले ।
भालान्ते विद्युदाभे तदुपरि शिखरे कोटिमार्त्तण्डचन्डे
ये नित्यं भावयन्ते परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् । ७९ ।

दीप्ति (प्रकाश) से ज्योतित (मस्तक के ही स्थान-विशेष) गोल्लाट में प्रलयकाल की अग्नि-शिखा के समान जालन्धर स्थान—शृंगाट में, ब्रह्मनाड़ी के भीतर, बिजली की आभा से युक्त मस्तक के अन्त (मस्तकान्त) में, उसके ऊपर करोड़ों सूर्य के समान प्रभायुक्त शिखरप्रदेश में जो बिजली के समान तरल ज्योति के ध्यान में तत्पर होते हैं, उनके लिये भी परमपदरूप निरुत्थान (मोक्षपद) दुर्लभ है ।। ७९ ।।

लिङ्गाद् दण्डाङ्कुरान्तर्मनपवनगमाद् ब्रह्मनाड्यादिभेदं
कृत्वा विन्दुं नयन्तः परमपदगुहां शङ्खगर्भोदरोर्ध्वम् ।
तत्रान्तर्नादघोषं गगनगुणमयं वज्रदण्डोक्रमेण
ये कुर्वन्ती हकष्टान् परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् । ८० ।

लिङ्ग से मेरुदण्ड में मन और प्राणवायु (पवन) के प्रवेश से सुषुम्ना नाड़ी का भेदन कर वीर्य को भ्रमरगुफा में शंखविवर के ऊपरी भाग में ऊर्ध्वमुख कर अथवा प्रविष्ट कर वज्रोली क्रिया के द्वारा उसे (वीर्य को) स्थापित कर व्यापक नाद प्रस्फुटित करने वालों के लिये परमपदरूप निरुत्थान (मोक्षपद) दुर्लभ है ।। ८० ।।

सम्यक् चालनदोहनेन सततं दीर्घीकृतां लम्बिकां
तां तालवन्तखेशितां च दशमद्वारोदरे सन्धिनीम् ।

नीत्वा मध्यमसन्धिसंघटघटात् प्राप्तां शिरोदेशतः
पोत्वा षड्विधपानकाष्ठभजनं वाञ्छन्ति ये मोहिताः । ८१ ।

(महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि खेचरी मुद्रा की भी सिद्धि क्यों न हो जाय, पर निरुत्थान के बिना यह भी निष्फल है ।) जो अच्छी तरह चालन-दोहन-क्रिया के द्वारा जीभ को दीर्घ कर तालु के अन्त में दशम द्वार—भ्रूमध्य में ले जाकर (उसमें उसे—जिह्वा को संयुक्त कर) सहस्रार से द्रवित अमृत का षड्रसरूप पान करते हैं और खेचरी मुद्रा की सिद्धि कर लेते हैं, वे भी यदि निरुत्थान—परमपद की प्राप्ति की इच्छा करते हैं, तो भ्रमित हैं । उन्हें भी निरुत्थान नहीं प्राप्त हो सकता ।। ८१ ।।

गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुध्वानिलं मध्यमं
नीत्वा ध्यानसमाधिलक्ष्यकरणैर्नानासमाध्यासनैः ।
प्राणापानगमागमेन सततं हंसोदरे संघटा
एवं येऽपि भजन्ति ते भवजले मज्जन्त्यहो दुःखिताः । ८२ ।

गुदास्थान—मूलाधार से पश्चिम-पूर्व-पथ में इडा और पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित प्राण को रोक कर सुषुम्ना में प्रविष्ट प्राणवायु को ऊर्ध्व कर ध्यान-समाधि आदि विभिन्न साधनों से प्राण-अपान के गमनागमन पर दृष्टि स्थिर कर जो नाड़ी-समूहों में ही ध्यान में तत्पर रहते हैं, वे भी समरसकरण के बिना निरुत्थानरूप परमपद की प्राप्ति न करने से दुःखी रहते हैं, संसारसागर में डूबते रहते हैं ।। ८२ ।।

शक्त्याकुञ्चनमग्निदीप्तिकरणं त्वाधारसंपीडनात्
स्थानात्कुण्डलिनीप्रबोधनमतः कृत्वा ततो मूर्धनि ।
नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमधः कुर्वन्ति तस्याश्च ये
खण्डज्ञानरतास्तु ते निजपदं तेषां हि दूरं मतम् । ८३ ।

जो शक्तिचालनी मुद्रा के अभ्यास द्वारा एड़ी से मूलाधार को दबाकर मूलबन्ध सिद्धकर अग्नि प्रदीप्त कर (तथा अपानवायु का ऊर्ध्वाकर्षण कर) कुण्डलिनी को प्रबुद्ध कर पूर्णगिरि पीठ में ले जाकर शिवशक्ति के साक्षात्कार में आनन्दित होते हैं और तत्पश्चात् कुण्डलिनी को (ध्यान हटाते समय) मूलाधार में ही उतार लाते हैं, वे ऐसा करके खण्डज्ञान—अपूर्ण आत्मबोध ही प्राप्त करते हैं,

उनके लिये भी अखण्ड ज्ञानस्वरूप निरुत्थान-पद की प्राप्ति कठिन है, क्योंकि वे परमात्मध्यान की अवस्था में रह कर फिर प्रपञ्च–लोकव्यवहार में उतर आते हैं ।। ८३ ।।

बन्धं भेदश्च मुद्रां गलबिलचिबुकाबद्धमार्गेषु वह्नि
चन्द्रार्कासामरस्यं शमदमनियमानादविन्दुं कलान्ते ।
ये नित्यं मेलयन्ते ह्यनुभवमनसाप्युन्मनीयोगयुक्तास्ते
लोकान्भ्रामयन्ते निजसुखविमुखाः कर्मदुःखाघ्वभाजः । ८४ ।

मूलबन्धादि, षट्चक्रभेदन और मुद्रा के अभ्यास से ठोड़ी को वक्षःस्थल से जालन्धरबन्धपूर्वक संयमित कर कण्ठ-छिद्र के प्रतिरोध से समस्त नाड़ीमार्गों के रुक जाने पर प्रज्वलित अग्नि तथा चन्द्र और सूर्य (इडा-पिंगला में प्रवाहित अपान और प्राण) के सुषुम्णा में मेल से शमदमादिनियमोंके पालन और नादविन्दु कलाओं के अन्तस्वरूप सहस्रार में शिव-शक्ति के ऐक्यपूर्वक उन्मनी अवस्था की सिद्धि करने पर भी जो जोगी निजस्वरूप – परमपदरूप निरुत्थान के सुख से विमुख होकर ज्ञानोपदेश द्वारा लोगों को भ्रमित करते हैं, वे स्वरूपबोध न होने से नितान्त दुःखी रहते हैं ।। ८४ ।।

अष्टांगयोगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखीचक्रभेदं
ऊर्ध्वाधो वायुमध्ये रविकिरणनिभं सर्वतोव्याप्तिसारम्
दृष्ट्या ये वीक्ष्यन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं नभो वा ।
एवं ये भावयन्ते निगदितमतयस्तेऽपि हा कष्टभाजः । ८५ ।

जो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूप अष्टांगयोग का अभ्यास कर आचार्य-गुरुके द्वारा विधिपूर्वक उपदिष्ट मूलाधारचक्र, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र का भेदन कर प्राण-अपान वायु को सुषुम्ना मार्ग से उर्ध्वमुख करते हुए सूर्य की प्रभा के समान अखण्ड ज्योति को सम्पूर्ण रूप से नासाग्रदृष्टि स्थिर कर ध्यान में देखते हैं तथा नीले रंग वाले आकाश का ध्यान करते हैं, ऐसे प्रसिद्ध योगसाधक भी निरुत्थानरूप परमपद की प्राप्ति से वञ्चित रहकर दुःखी होते हैं ।। ८५ ।।

आदौ धारणशङ्खधारणमतः कृत्वा महाधारणाम्
सम्पूर्णं प्रतिधारण विधिबलाद् दृष्टिस्तथा निर्मला ।

अर्धोली बहुलीहृवासनमथो घण्टावसन्नौलिका
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च सदा भ्राम्यन्ति खिद्यन्ति ते । ८६ ।

योगशास्त्र में निरूपित तथा आचार्यद्वारा निर्दिष्ट ज्ञान के बल से जो पहले पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश की पाँच धारणाओं में आकाशधारणा, पराकाशधारणा और महाकाश-धारणा तथा तत्वाकाश (सम्पूर्ण पाँच तत्वों की) धारणा पूरी कर ध्येय (आत्मस्वरूप परम लक्ष्य) में दृष्टि स्थिर करते हैं तथा षट्कर्म—अर्धोली (धौति), वासन (वस्ति) नेति, नौलि, कपालभाति तथा त्राटक आदि करते और दूसरों से भी इनका अभ्यास कराते हैं, वे भी सत्स्वरूप निरुत्थान की प्राप्ति से वंचित रह कर भ्रमित और खिन्न रहते हैं ॥ ८६ ॥

शङ्खक्षालनमन्तरं रसनया ताल्वोष्ठनासारसं
वान्तेरुल्लुठनं कपाटममरीपानं तथा खर्परो ।
वीर्यंद्रावितमात्मजं पुनरहो ग्रासं प्रलेपश्च वा
ये कुर्वन्ति जडास्तु ते नहि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम् । ८७ ।

शंखनाड़ी का शोधन कर रसना से तालु, ओष्ठ और नासारस को निकाल कर इस तरह भीतर के समस्त चक्रों का शोधन करने के उपरान्त, कपाट मुद्रा-भेदन के अभ्यास में तत्पर होकर खर्पर धारण कर अमरीपान करनेवाले तथा उसका शरीर में लेप कर स्फूर्ति प्राप्त करनेवाले जड़बुद्धि भी इस तरह स्थित रहकर सामरस्यरूप परमात्मपद की प्राप्ति से वंचित रहते हैं ॥ ८७ ॥

घण्टाकोहलकालमार्दुलमहाभेरीनिनादं यदा
सम्यङ्नादमनाहतध्वनिमयं शृण्वन्ति चैतादृशम् ।
पिण्ड सर्वगतं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽपि वा
तेषां सिद्धपदं ततः समुचितं नैवं परं लभ्यते । ८८ ।

जो प्राणायाम की सिद्धि कर, प्राण, बिन्दु और मन को ऊर्ध्वगामी कर शिवशक्ति के साक्षात्कार के लिये उनका पारस्परिक लय सम्पादित कर व्यष्टि पिण्ड और ब्रह्माण्ड में निरन्तर घण्टा, कोहल, कांस्य, ढोल, महाभेरी के अनाहत

ध्वनिमय सरस, मृदुल निनादित नाद का श्रवण करते हैं, वे भी अखण्ड ज्योति-स्वरूप परमात्म पद की प्राप्ति करने में असमर्थ होते हैं ॥ ८७ ॥

वैराग्यात् तृणशाकपल्वलजलं कन्दं फलं मूलकं
भुक्त्वा यो वनवासमेवभजते चान्ये च देशान्तरे ।
वालोन्मत्तपिशाचमूकजडवच्चेष्टाश्च नानाविधाः
ये कुर्वन्ति पदं विना मतिबलं भ्रष्टा विमुह्यन्ति ते । ८९ ।

जो वैराग्य ग्रहण करने पर पत्ती के शाक, तृण, पल्वलजल (जलाशय) के तथा कन्दमूल, फल का सेवन करते हैं, एकान्त में निवास करते है और अनेक देश-देशान्तर में भ्रमण कर बालवत्, उन्मत्त, पिशाच, मूक, जड़वत् होकर अपनी अनेक चेष्टाओं से लोगों को आश्चर्यचकित करते हैं, वे भी बिना आत्मज्ञान का बल प्राप्त किये इस संसार में मोहित होते रहते हैं ॥ ८६ ॥

कन्थादर्शनमद्भुतं बहुविधं भिक्षाटनं नाटकं
भस्मोद्धूलनमङ्गकर्कशतरं धृत्वा च वर्षं त्वरेत् ।
क्षेत्रं क्षेत्रमटन्ति दुर्गमतरे स्थित्वाऽथ सर्वेन्द्रियं
नो बिन्दन्ति परं पदं गुरुमुखाद् गर्वेण कष्टाश्च ते । ९० ।

विचित्र (रंगबिरंगी) गुदड़ी धारण कर भिक्षा माँगते हुए तथा विभूति आदि से शरीर को उद्धूलित कर उसे कर्कश—शीत, धूप, वर्षा के आघातों को सहने योग्य सिद्ध कर जो कितने ही वर्ष बिता देते हैं और इन्द्रियों को वश में कर दुर्गम तीर्थक्षेत्रों और तपःस्थलियों में निवास करते हुए गुरु के शरणागत होकर भी उनसे सद्ज्ञानोपदेश नहीं प्राप्त करते, अहंकारवश वे परमपद से वंचित होकर कष्ट पाते हैं ॥ ९० ॥

वाणीं ये च चतुर्विधा स्वरचितां सिद्धैश्च वा निर्मितां
गायत्रींचतुराश्च पाठनिरता विद्याविवादे रताः ।
नो बिन्दन्ति तदर्थमाप्मसदृशं खिद्यन्ति मोहाच्छलात्
दण्डैः कर्तरिशूलचक्रलगुडैर्भाण्डाश्च दुष्टाश्च ते । ९१ ।

जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणी में अनुभूतियुक्त हैं, अथवा सिद्ध पुरुषों द्वारा अथवा अपने ही द्वारा रचित स्तोत्र, सिद्धान्त आदि में पारंगत हैं, गायत्री मन्त्र के जप में तत्पर हैं, स्तोत्रादि का पाठ करते रहते हैं, शास्त्रार्थ में तत्पर रहते हैं, वे भी यथार्थ अखण्ड आत्मज्ञान—व्यष्टिपिण्ड और ब्रह्माण्ड में व्याप्त परमात्मस्वरूप को न जानकर खेद करते हैं तथा हाथ में दण्ड, कुल्हाड़ी, त्रिशूल, चक्र और लाठी आदि धारण करते हैं और मिथ्या स्वांग बनाकर विदूषक का आचरण करते हैं, वे भाँड़ और दुष्ट हैं, क्योंकि यथार्थ अखण्ड स्वरूप में उनका प्रवेश नहीं हो पाता है ।। ६१ ।।

एवं शून्यादिशून्यं परमपरपदं पञ्चशून्यादिशून्यं
व्योमातीतं ह्यनाद्यं निजकुलमकुलं चाद्‌भुतं विश्वरूपम् ।
अव्यक्तं चान्तरालं निरुदयमपरं भासनिर्नाममैक्य
वाङ्‌मात्राद् भासयन्तोबहुविधमनसोव्याकुलाभ्रामितास्ते ।६२।

(महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि शून्यवादी केवल वाणी मात्र से शून्यवाद का प्रतिपादन कर और दूसरों के प्रति उसका कथन कर यथार्थ आत्म-तत्व का स्पर्श तक नहीं कर सकते हैं ।) शून्यादि शून्य परमपद पद पञ्च-शून्यादिशून्य है (पाँच भूतों में पृथ्वी और जल में शून्य है, जल और तेज के मध्य में शून्य है, तेज और वायु के मध्य में शून्य है, वायु और आकाश के मध्य में शून्य है और आकाश शून्यरूप है), व्योमातीत, अनादि, अकुल, कुल, अद्‌भुत, विश्वरूप, अव्यक्त, अन्तर्व्याप्त, (सब में व्याप्त), सूक्ष्म, उत्पत्तिरहित, नामरूप से रहित है—इस तरह वे केवल कथन करते रहते हैं और दूसरों को शून्यवाद का उपदेश देते हैं, ऐसे लोग मन में व्याकुल और भ्रमित रहते हैं, क्योंकि वे परमपद से वञ्चित रहते है ।। ६२ ।।

आज्ञासिद्धकरं सदा समुचितं सम्पूर्णभाभासकं
पिण्डे सर्वगतं विधानममलं सिद्धान्तसारं वरम् ।
भ्रान्तेर्निर्हरणं सुखातिसुखदं कालान्तकं शाश्वतं
तन्नित्यं कलनोज्भितं गुरुमयं ज्ञेय निरुत्थं पदम् ।६३।

निरुत्थानरूप अलख निरञ्जन, द्वैताद्वैतविवर्जित स्वसंवेद्य परमपद ही ज्ञेय है। यह पद अन्योपदेश-निरपेक्ष अखण्डस्वरूप है, स्वानुभवैकगम्य है, अच्युत है, ध्रुव है, समस्त प्रकाशों--सूर्य, चन्द्र आदि का प्रकाशक है, व्यष्टि-पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सर्वव्यापक है, रागद्वेषरहित, निर्विकार, सत्सिद्धान्तस्वरूप है, संसाररूप भ्रम का निवारक है, नित्यस्वरूप मोक्षानन्द प्रदान करनेवाला है, नित्य--अकाल, महाकालरूप परमेश्वर है, शाश्वत है, सनातन है, संकल्पातीत है, परमात्मस्वरूप गुरु द्वारा ज्ञेय है--गुरुज्ञानस्वरूप है। यह परमपद ही परमाश्रय है ॥ ९३ ॥

आदेश का स्वरूप

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे।
त्रयाणामैक्यसंभूतिरादेश इति कीर्तितः । ९४ ।
आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयापहाम् ।
यो योगिनं प्रति वदेत् स यात्यात्मानमैश्वरम् । ९५ ।

(जिसके प्रति 'आदेश' शब्द व्यवहृत होता है, उसकी 'आदेश' के उच्चारण द्वारा ब्रह्मस्वरूपता का प्रतिपादन होता है।) आत्मा, परमात्मा, और जीवात्मा के सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि तीनों की एकता की सम्भूति--उत्पत्ति (अभिन्न सत्ता) ही 'आदेश' के रूप में प्रसिद्ध है। 'आदेश' परमात्म स्वरूप का प्रतिपादन करने वाली सद्वाणी है, इसके उच्चारण मात्र से जरा-मरण, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि समस्त प्रपंचात्मक द्वन्द्वों का क्षय--नाश हो जाता है। जो प्राणी योगी के प्रति 'आदेश, आदेश' शब्द का व्यवहार करता है, वह परमात्मा और आत्मा के अभिन्न स्वरूप को तत्वतः जान लेता है ॥ ९४-९५ ॥

विशेष--अपने प्रापंचिक विचार में हम आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा में भेद करते हैं। तीनों की एकता ही सत्य है और इस सत्य का अनुभव या दर्शन ही आदेश कहलाता है। 'आदेश' के उच्चारणपूर्वक अभिवादन से योगी निरन्तर एक-दूसरे को जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य का स्मरण कराते हैं।

'आदेश' का क्या उपदेश है, इस सम्बन्ध में महायोगी गोरखनाथ ने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ के चरण में जिज्ञासा की तो गुरु ने कहा--

इसका तात्पर्य यह है कि आदेश सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मपद का प्रतिपादक परम उपदेश है।

'गोरखबानी' में 'रहरासि' नामक अत्यन्त लघु रचना में गोरखनाथजी का कथन है :

'ॐ आदेस आदेस अलष अतीतं'

केन उपनिषद् में आदेश को परमात्मतत्व का सांकेतिक उपदेश स्वीकार किया गया है :

'तस्यैष आदेशो यदेतद्'
(केन उ० ४।४)

श्रीगोरखनाथजी ने जोधपुराधीश महाराज मानसिंह को आदेश का स्वप्न में तत्त्वोपदेश दिया था--

नाथार्थोऽस्तु तवादेशो विदेशश्चास्तु वैरिणाम्।
प्रदेशश्चास्तु भक्तानामुपदेशस्तु मे सदा॥

नृसिंहोत्तरतापिनी-उपनिषद् में भी आदेश के सांकेतिक तत्वस्वरूप शान्त, अद्वैत शिवस्वरूप का प्रतिपादन हुआ है।

'अथ तस्यायमादेशी मात्रश्चतुर्थो व्यवहार्य प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत ॐकार आत्मैवसंविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद।'
[नृसिंहोत्तरतापिनी खण्ड २]

आशादहनं भसितं कुण्डलयुगलं विचारसन्तोषः।
कौपीनं स्थिरचित्तं खर्परमाकाशमात्मनो भजनम्। ६६।

जिस योगी ने आशा-तृष्णा को जलाकर भस्मरूप कर दिया है, उसके अंग में तृष्णादहनरूप भस्म ही विभूति-धारण है, उसके कान के दोनों कुण्डलरूप में आत्मविचार और संतोष ही विशोभित हैं, स्थिरचित्त होना ही उसके द्वारा

कौपीन धारण है, हृदयाकाश में स्वरूप-चिन्तन ही उसके द्वारा हाथ में खपर का धारण है, आत्मा में अवस्थान—स्वरूपावस्थान ही उसके लिये भजन है, परमपद का बोध है।

सिद्धसिद्धान्तरूप योगशास्त्र

एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम् ।
सिद्धान्तं सर्वसारस्य नानासङ्केतनिर्णयम् ।९७।
सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यः प्रत्ययकारकम् ।
आत्मानन्दकरं नित्यं सर्वसन्देहनाशनम् ।९८।
न देयं परशिष्येभ्यो नान्येषां सन्निधौ पठेत् ।
न स्नेहान्नबलाल्लोभान्नमोहान्नाताच्छलात् ।९९।
न मैत्रो भावनाद्दानान्नसौन्दर्यान्न चासनात् ।
पुत्रस्यापि न दातव्यं गुरुशिष्यक्रमं विना ।१००।

सिद्धसिद्धान्तरूप यह सत्योगशास्त्र महादिव्य है, अपने-आप में निगूढ़ रहस्य है, परमेश्वरस्वरूप है, समस्त तत्वों का एकमात्र सुनिश्चित सिद्धान्त है और अनेक तत्सम्बन्धी संकेतों का निश्चयात्मक निर्णय है, सिद्धों द्वारा प्रत्यक्ष किया गया महायोग ज्ञान है, स्वसंवेद्य पद—स्वरूपावस्थान में प्रतिष्ठित करनेवाला है, स्वरूपानन्द प्रदान करता है, यह नित्य, सनातन ज्ञान है, समस्त सन्देहों—तत्व के विषय में शंकाओं का उच्छेद करनेवाला है। इस योगशास्त्र का उपदेश उनको नहीं देना चाहिये, जो अन्य मार्गी हैं, इसका ऐसे लोगों के समक्ष पाठ तक नहीं करना चाहिये, जो दूसरे मत-मतान्तरों में भ्रमित हैं। किसी के प्रति अपार स्नेह हो, उसे भी इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। कोई बलपूर्वक अथवा लोभ दिखा कर अथवा मुग्ध कर अथवा छल प्रकट कर भी इसको ग्रहण करना चाहे, उसके लिये भी यह निषिद्ध है। मैत्री-भावना के वश होकर, किसी के रूप-सौन्दर्य या सत्कार से भी आकृष्ट होकर इसका उपदेश नहीं देना चाहिये। अपने प्रिय पुत्र तक को भी इस योगज्ञान का उपदेश नहीं देना चाहिये, जब तक वह सिद्धमत की विधि से गुरुमन्त्र ग्रहण कर उपदेश प्राप्त करने का पात्र नहीं बन जाता है ॥ ९७—१०० ॥

सत्यवन्तो दयाचित्ता दृढ़भक्ताः सदाचलाः ।
निस्तरङ्गा मह्माशान्ताः सदा ज्ञानप्रबोधकाः । १०१ ।
भयदैन्यघृणालज्जातृष्णाशोकविवर्जिताः ।
आलस्यमदमात्सर्यंदम्भमायाच्छलोज्झिताः । १०२ ।
अहंकारमहामोहरागद्वेषपराङ्मुखाः ।
क्रोधेच्छाकामुकासूयाभ्रान्तिलोभविवर्जिताः । १०३ ।
निःस्पृहा निर्मला धीराः सदाऽद्वैतपदेरताः ।
तेभ्यो देयं प्रयत्नेन धूर्तानां गोपयेत्सदा । १०४ ।

जो सत्स्वरूप आत्मज्ञान का आदर करनेवाले सत्यवादी हैं, दूसरों के दुःख से द्रवित होनेवाले दयालु हैं, परमात्मा में श्रद्धा रखते हैं तथा अपने स्वरूप में अचल (निष्ठा रखनेवाले) हैं, जो इन्द्रियों और मन को वश में रखनेवाले शान्त और ज्ञान की चर्चा में रत रहते हैं, जो भय, दीनता, घृणा, लज्जा, तृष्णा, शोक आदि से रहित हैं, आलस्य, मद, मत्सर (द्वेष), दम्भ और दिखावट आदि से दूर हैं, जो अहंकार, मोह, राग, द्वेष आदि से रहित हैं, जिनमें क्रोध, कामुकता, परछिद्रान्वेषणवृत्ति (दोष-दर्शन की प्रवृत्ति), भ्रान्ति, लोभ आदि नहीं हैं, जो निःस्पृह, निर्मल चित्त वाले और योगसाधन में निष्ठावान् हैं तथा अखण्ड आत्मस्वरूप अद्वैतपद में स्थित हैं, उन्हीं को यह योगज्ञान प्रयत्नपूर्वक प्रदान करना चाहिये । धूर्तों से इस ज्ञान को गुप्त रखना चाहिये ।। १०१--१०४ ।।

निन्दका ये दुराचाराश्चुम्बका गुरुतल्पगाः ।
नास्तिका ये शठाः क्रूरा विद्यावादरतास्तथा । १०५ ।
योगाचारपरिभ्रष्टाः ते निद्राकलहप्रियाः ।
स्वस्यकार्ये परानिष्ठा गुरुकार्येषु निःस्पृहाः । १०६ ।
एतान् विवर्जयेद् दूरे शिष्यत्वेनागतानपि । १०७ ।
सच्छास्त्रं सिद्धमार्गञ्च सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः ।
न देयं सर्वदा तेभ्यो यदोच्छेच्चिरजीवनम् । १०८ ।
गोपनीयं प्रयत्नेन तस्करेभ्यो धनं यथा ।

तेषां यो बोधयेन्मोहादपरीक्षितमन्दधीः । १०९ ।
नहि मुक्तिर्भवेत्तस्य सदा दुःखेन सीदतः ।
खेचरी भूचरी चैव शाकिनी च निशाचरो । ११० ।
एतासामद्भुतं शापः सिद्धानां भैरवस्य च ।
मस्तके तस्य पतति तस्माद् यत्नेन रक्षयेत् । १११ ।

जो योगमार्ग के निन्दक हैं, दुराचारी और कामुक हैं, गुरु के घर में निवास कर उसकी पत्नी आदि में कामासक्त हैं, जो वेदशास्त्र और परलोक में अनास्था रखनेवाले (नास्तिक) हैं, जो शठ, क्रूर और व्यर्थ वाद-विवाद में समय का दुरुपयोग करते हैं, जो अपने स्वार्थ-साधन में ही व्यस्त रहते हैं और गुरु द्वारा निर्दिष्ट कार्यों की अवहेलना करते हैं, यदि ऐसे लोग शिष्यत्व ग्रहण कर ज्ञानोपदेश प्राप्त करने के लिये शरणागत हों, तो इनको अपने पास नहीं आने देना चाहिये, दूर से ही ऐसे अश्रद्धालुओं का त्याग कर देना चाहिये। इनको सिद्धसिद्धान्त प्रक्रियारूप सिद्धमार्ग और सच्छास्त्र नहीं प्रदान करना चाहिये। यदि दीर्घकाल तक जीवित रहने की इच्छा हो तो इनसे सच्छास्त्र—सिद्धसिद्धान्त की उसी तरह रक्षा करनी चाहिये, जिस तरह चोरों से धन की रक्षा की जाती है। जो इन शिष्यों को मोहवश बिना परीक्षा लिये (समझे) ही मन्दबुद्धि गुरु-ज्ञान प्रदान करता है, वह मुक्ति नहीं प्राप्त करता और सदा दुखी रहता है। खेचरी, भूचरी, निशाचरी, शाकिनी आदि के शाप से ग्रस्त हो जाता है और सिद्ध है, तो भैरव का शाप उसके मस्तक पर पड़ता ही है, इसलिये यत्नपूर्वक महायोगज्ञान की रक्षा करनी चाहिये ॥ १०५—१११ ॥

गुरुपादाम्बुजस्थायपरीक्ष्य प्रवदेत्सदा ।
कुतो दुःखञ्च भीतिश्च तत्वज्ञस्य महात्मनः । ११२ ।
कृपयैव प्रदातव्यं सम्प्रदायप्रवृत्तये ।
सम्प्रदायप्रवृत्तिर्हि सर्वेषां सम्मता यतः । ११३ ।
मायाशङ्करनाथाय सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ।
लिखित्वा यः पठेत् भक्त्या स याति परमां गतिम् । ११४ ।

विद्धात्वर्थनिचयं भक्तानुग्रहमूर्तिमत् ।
स्मरानन्दभरं चेतो गणपत्यभिधं महः । ११५ ।

गुरु के चरणकमल में प्रणत शिष्य की अच्छी तरह परीक्षा कर (कि वह ज्ञानोपदेश का सत्पात्र है) उसे सिद्धसिद्धान्त—योगज्ञान प्रदान करना चाहिये, तत्वज्ञ महात्मा को न तो दुःख होता है, न किसी से शापित होने का भय ही रहता है । जो सिद्धमत में निष्ठा और आस्था रखता है, उसी को सत्सम्प्रदाय की रक्षा के लिये कृपापूर्वक योगोपदेश प्रदान करना चाहिये । सम्प्रदाय की प्रवृत्ति—रक्षा सर्वसम्मत है । जो शक्तिसहित शिव को प्रसन्न करने के लिये सिद्धसिद्धान्त पद्धति की रचना लिख कर श्रद्धा और भक्ति से इसका पाठ करता है, वह परम गति को प्राप्त करता है । भक्तों पर अनुग्रह करने वाले तथा स्मरण मात्र से ही चित्त में आनन्द का अनुभव करनेवाले गणपति नामक मूर्तिमान् तेज इस शास्त्र के अनुयायियों को चारों पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ काम और मोक्ष से सम्पन्न करे ।। ११२–११५ ।।

इति शिवगोरक्षविरचितसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ षष्ठोपदेशः ।।

नाथ निरंजन की आरती

नाथ निरंजन आरती साजै।
गुर के सबदूं झालरि बाजै ॥ टेक ॥
अनहद नाद गगन में गाजै।
परम जोति तहां आप विराजै ॥ १ ॥
दीपक जोति अषंडत बाती।
परम जोति जगै दिन राती ॥ २ ॥
सकल भवन उजियारा होई।
देव निरंजन और न कोई ॥ ३ ॥
अनत कला जाकै पार न पावै।
संष मृदंग धुनि बेनि बजावै ॥ ४ ॥
स्वाति बूंद लै कलस बंदाऊँ।
निरति सुरति ले पहुप चढ़ाऊँ ॥ ५ ॥
निज तत नांव अमूरति मूरति।
सब देवां सिरि उदबुदि सूरति ॥ ६ ॥
आदिनाथ नाती मछेन्द्रनाथ पूता।
आरती करै गोरष अवधूता ॥ ७ ॥

[गोरखबानी पद—६२]

हमारे महत्वपूर्ण विशिष्ट प्रकाशन

गोरख-दर्शन (हिन्दी) :
ले० अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, अनु० श्यामबिहारी स्वरूप, मूल्य १५ रु० ।

फिलासफी आॅफ गोरखनाथ (अंग्रेजी) :
ले० आचार्य अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, मूल्य १५ रु० मात्र ।

महन्त दिग्विजयनाथ-स्मृतिग्रन्थ (व्यक्तित्व, विचार-दर्शन) :
सम्पादक : डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, मूल्य २१ रु० मात्र ।

नाथयोग :
ले० अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, मूल्य ३ रु० मात्र ।

आदर्श योगी (योगिराज गम्भीरनाथ का जीवन-चरित्र) :
ले० अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, अनुलेखक रघुनाथ शुक्ल, ५ रु० मात्र ।

योगरहस्य (योगिराज गम्भीरनाथ का विचार-दर्शन) :
ले० अक्षय कुमार वन्द्योपाध्याय, अनुलेखक रघुनाथ शुक्ल, मूल्य ५ रु० ।

श्रीगोरक्ष-वैदिक पूजा-पद्धति :
प्रस्तुतिकर्ता तथा लेखक : वेदाचार्य रामानुज त्रिपाठी, मूल्य १ रु० मात्र ।

'गोरख' विशेषांक :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० । श्रीगोरखनाथजी के चरित्र, कृतित्व और यौगिक सिद्धि का सर्वोत्कृष्ट प्रकाशन है ।

'योगासन' विशेषांक :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र ।

'गोरखवानी' विशेषांक (गोरखबानी का सटीक सम्पादन) :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र ।

'गोरखवानी' सटीक (यह ग्रन्थरूप में प्रस्तुत है) :
सम्पादक तथा टीकाकार : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र ।

'गोरक्षसिद्धान्त' विशेषांक :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र ।

'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' (गोरक्षयोगसिद्धान्त का संग्रह-ग्रन्थ) :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र.

अमनस्क योग (शिवगोरक्षकृत) :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य ४ रु० मात्र ।

श्रीगोरखनाथ एवं उनकी तपःस्थली—गोरखनाथ–मन्दिर, गोरखपुर परिचायिका :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य ५ रु० मात्र ।

हठयोगप्रदीपिका (सटीक) :
सम्पादक और टीकाकार : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य ८ रु० मात्र ।

'हठयोग' विशेषांक (सटीक 'हठयोगप्रदीपिका' सहित) :
सम्पादक : रामलाल श्रीवास्तव, मूल्य १० रु० मात्र ।

व्यवस्थापक, प्रकाशन-विभाग, गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर

प्रकाशकीय

शिवगोरक्ष महायोगी सिद्धशिरोमणि भगवान् गोरखनाथ के अनुग्रहस्वरूप 'योगवाणी' मासिक पत्र सम्वत् २०३८ वि० के मकरसंक्रान्ति-पर्व पर अपने सातवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। नाथयोग के सिद्धान्त, दर्शन, साधनात्मक प्रक्रिया के सम्बन्ध में दुर्लभ योगवाङ्मय का प्रकाशन योगवाणी की गत छह वर्षों की जीवन्त उपलब्धि का चिरस्मरणीय प्रतीक है। लोकमानस को योगज्ञानामृत से संतृप्त करते रहने के प्रयास में 'योगवाणी' ने जो महती सफलता प्राप्त की है, उससे यह बात निर्विवाद रूप से स्पष्ट हो गयी है कि लोग किस तरह श्रद्धापूर्वक योगसाधना के अभिमुख हैं, जिसकी आज सारे विश्व को अपेक्षा है। शारीरिक, मानसिक, स्वास्थ्य और समुन्नति के साथ-ही-साथ जन-जीवन में आध्यात्मिक और नैतिक स्तर पर योग की महनीय भूमिका है, इस बात को ध्यान में रखकर हमारे गोरक्ष-पीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज ने योगज्ञान के सत्प्रचार और प्रसार में जो अभिरुचि दिखायी है, वह बडे ही महत्व की बात है। इस संकल्प की शुभ पूर्ति में हमारे विद्वान् और अनुभवी सम्पादक श्रीरामलालजी श्रीवास्तव का योग-दान महन्तजी महाराज के आशीर्वाद और प्रसन्नता का विशेष फल है।

सातवें वर्ष का यह 'सिद्धदर्शन' विशेषांक 'नाथयोग' के सिद्धान्त और दर्शन तथा सिद्ध पुरुषों और नाथसिद्धों तथा महायोगियों के जीवन और व्यक्तित्व का अक्षर वाङ्मय है। यह अंक सर्वथा पठनीय, मननीय और संग्रहणीय है। इस विशेषांक के साथ महायोगी गोरक्षनाथ द्वारा रचित अप्रतिम योगशास्त्र 'सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति' युक्त है। इसके शुद्ध संस्कृत मूलपाठ को प्रस्तुत करते हुए हमारे विद्वान् सम्पादक रामलालजी श्रीवास्तव ने अपने सहज सुगम हिन्दी भाष्य सहित उसे समृद्ध करने में जो श्रम किया है, उससे ग्रन्थ की गरिमा बढ़ गयी है तथा विशेषांक 'सिद्धदर्शन' नाम की सार्थकता से समलंकृत हो गया है।

अपने सहृदय पाठकों और ग्राहकों से आग्रह है कि 'योगवाणी' का वार्षिक शुल्क १५ रुपये तथा विशेषांक का रजिस्ट्री से भेजने का डाक व्यय ३ रुपये (कुल १८ रु०) मनीआर्डर से भेज कर 'सिद्धदर्शन' विशेषांक प्राप्त कर ग्राहक बन जायें। मनीआर्डर फार्म गत नवम्बर के अंक में संलग्न है। पत्र द्वारा सूचना प्राप्त होने पर विशेषांक को वी० पी० से भी भेजने की व्यवस्था है। अधिकाधिक संख्या में 'योगवाणी' के ग्राहक बन कर आप हमारे प्रकाशन-यज्ञ की सम्पन्नता में सहयोग करें, यही हमारी शुभाशंसा है।

गणेश प्रसाद दुबे
प्रकाशक 'योगवाणी'
गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर

मकरसंक्रान्तिपर्व
सम्वत् २०३८ वि०

योगवाणी :: जनवरी १९८२ डाक पंजीकृत सं० जी० आर०-२४
(रजिस्टर्ड सं० २९०७५।७६)

परम पद

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम् ।
अस्ति चेत्कल्पनेयं स्यान्नास्तिचेदस्तिचिन्मयम् ॥
पृथ्वीशीर्णा जलेमग्ना जलं मग्नं च तेजसि ।
लीनं वायौ तथा तेजो व्योम्नि वातो लयं ययौ ॥
अविद्यायां महाकाशो लीयते परमे पदे ।

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् एक ही चैतन्य से उत्पन्न हुआ है, इस तरह कल्पना से ही संसार सत्य प्रतीत होता है। संसार का अभाव होने पर उस एक विशुद्ध चैतन्य आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता। पृथ्वी जल में लीन हो जाती है, जल अग्नि में लीन हो जाता है। अग्नि का वायु में और वायु का आकाश में लीन होना निश्चित है। इसके बाद आकाश अविद्या में लीन हो जाता है, अविद्यास्वरूपिणी माया परम पद में लय हो जाती है, तब एक मात्र परम पद ही शेष रह जाता है।

[शिवसंहिता १। ८४-८५]

नाथ-संस्कृति-परिषद्, गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखपुर, की ओर से प्रकाशक श्रीगणेशप्रसाद दुबे द्वारा, इउरेका प्रिन्टिंग वर्क्स (प्रा०) लि०, गीताप्रेस रोड, गोरखपुर से मुद्रित कराकर प्रकाशित किया गया।